प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

अमरनाथ अग्रवाल, एम० ए०
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग,
रामजस कालेज, देहली

पाचवा संशोधित सस्करण

फ्रैंक ब्रादर्स एण्ड कम्पनी-
चाँदनी चौक, देहली

प्राक्कथन

इसमे कोई सन्देह नही कि प्रत्येक विषय, विदेशी भाषा की अपेक्षा, अपनी भाषा मे अधिक सुगमता के साथ और अच्छी तरह से समझ मे आ सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अपनी भाषा में अनेक विषयो पर विशेषरूप से अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर पुस्तके लिखी जायँ। इसकी आवश्यकता इस कारण और बढती जा रही है कि धीरे-धीरे कुछ स्थानो पर हिन्दी शिक्षा का माध्यम बन गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह प्रवृत्ति निश्चय ही जोर पकडेगी और वह समय बहुत दूर नही जबकि हिन्दी राष्ट्र भाषा बन जायगी और स्कूलो मे ही नही बल्कि विश्वविद्यालयो म भी उच्च शिक्षा की पढाई हिन्दी मे होने लगेगी। अस्तु, इस ओर उचित ध्यान देना हमारा कर्तव्य है। इसी उद्देश्य को लेकर अर्थशास्त्र विषय पर यह छोटी-सी पुस्तक लिखने का प्रयास किया गया है।

यह पुस्तक विशेषत हायर सेकण्डरी विद्यार्थियो के पाठ्यक्रम को ध्यान मे रखकर लिखी गई है। इसमे अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो और समस्याओ को सरल ढग से सुबोध बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है जिससे प्रारम्भिक कक्षाओ के विद्यार्थीगण इस महत्त्वपूर्ण किन्तु गम्भीर विषय को सहज मे समझ सके। जहाँ तक सम्भव हो सका है भाषा सरल और आम बोल-चाल की रखी गई है तथा विद्यार्थियो की सुविधा के लिए कोष्ठ मे अग्रेजी शब्द दे दिये गये है, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि विषय का वैज्ञानिक महत्त्व नष्ट न हो।

इस पुस्तक को लिखते समय मैंने इस विषय की अनेक अग्रेजी

पुस्तकों की सहायता ली है। मैं इन सब पुस्तकों के लेखकों और प्रकाशकों का बहुत ऋणी और आभारी हूँ।

इस पुस्तक की रचना पद्धति पारिभाषिक शब्द शैली आदि के सम्बन्ध में जो भी सुधार के लिए सुझाव रखे जायगे मैं उनका सधन्यवाद स्वागत करूंगा।

रामजस कालेज दिल्ली
जुलाई १९४६

अमरनाथ अग्रवाल

चतुर्थ संशोधित संस्करण

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १९४६ में प्रकाशित हुआ था। इस बीच इसके दो संस्करण और प्रकाशित हुए और अब इसका चौथा संशोधित संस्करण निकाला जा रहा है। हर नए संस्करण में मैंने इस पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है और अबकी बार तो यह बिल्कुल नये सिरे से लिखी गई है। लगभग प्रत्येक अध्याय दुबारा लिखा गया है और एक-दो नये अध्याय भी जोड़ दिये गये हैं। मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक अपने इस नये रूप में और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। यदि ऐसा हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

अन्त में मैं श्री सुरेशचन्द्र गोविल को धन्यवाद देना नहीं भूल सकता क्योंकि इन्होंने प्रूफ संशोधन कर पुस्तक को अन्तिम रूप देने में बड़ी सहायता की है। क्लासिकल प्रेस के श्री एम० आर० वी० राव का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने बड़े धैर्य के साथ काम किया है।

दिल्ली,
अप्रैल, १९५३

अमरनाथ अग्रवाल

पाँचवाँ संशोधित संस्करण

१९५३ में इस पुस्तक का चतुर्थ संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ था। उस संस्करण को तैयार करते समय यह पुस्तक एक तरह से फिर से लिखी गई थी और मैंने यह आशा प्रकट की थी कि पुस्तक पहले से अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। इतनी जल्दी अपनी इस आशा को पूरा होते देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है और निस्सन्देह ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पुस्तक की इस प्रकार लोकप्रियता में वृद्धि देखकर मुझे इसमें उसी ढंग से और संशोधन व सुधार करने में बहुत प्रोत्साहन मिला है। इस बार फिर मैंने पुस्तक में अनेक आवश्यक संशोधन किये हैं। वास्तव में अंतिम अध्यायों को बदल कर नये ढंग से लिखा गया है और कुछ अध्यायों को पहले से बहुत बढ़ा दिया गया है। मेरा अपना यह विचार है कि इससे इस विषय के अध्ययन और अध्यापन-कार्य में बहुत सुविधा होगी और पुस्तक की लोकप्रियता में पहले से अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार सोचने में मैं कहां तक ठीक हूँ यह तो अध्यापक और विद्यार्थीगण ही बता सकेंगे।

अनेक महानुभावों से मुझे इस कार्य में समय समय पर सहायता और प्रोत्साहन मिला है। मैं उन सबका विशेष रूप से ऋणी और आभारी हूं। अन्त में मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री किशोरीलाल गोविल के प्रति जिन्होंने बड़ी तत्परता, सहृदयता एवं रुचि के साथ पांचवां संशोधित संस्करण निकालने में कार्य किया है अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता।

दिल्ली
मार्च १९५५

अमरनाथ अग्रवाल

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

पहला भाग विषय प्रवेश

अध्याय | पृष्ठ

दूसरा भाग उपभोग

चौथा भाग विनिमय

अध्याय पृष्ठ

पाचवाँ भाग वितरण

विषय-प्रवेश

अध्याय १

अर्थशास्त्र का विषय

(Subject-matter of Economics)

अर्थशास्त्र मानव-जीवन का अध्ययन है। इसमें मनुष्य की आवश्यकताओं और उनकी तृप्ति का अध्ययन किया जाता है। किन्तु केवल इतना कहने से ही अर्थशास्त्र का विषय स्पष्ट नहीं हो सकता। कारण, अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और कई विज्ञान हैं जिनमें मानव-जीवन सम्बन्धी बातों का अध्ययन किया जाता है, जैसे राजनीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, आचारनीति, आदि। इन सब में मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं तथा अंगों का विवेचन होता है। अस्तु, ये सभी मानव-विज्ञान की शाखाएं हैं। अर्थशास्त्र भी मानव-विज्ञान की एक शाखा है। इसलिए अर्थशास्त्र के विषय को भली भांति समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि इसमें मानव-जीवन के किस अंग, रूप अथवा पहलू का, किस प्रकार की समस्या का अध्ययन होता है। हमें यह मालूम करना होगा कि आर्थिक समस्या है क्या और इसकी क्या विशेषताएं हैं। तभी अर्थशास्त्र के विषय का पूरा-पूरा ज्ञान हो सकेगा।

आर्थिक समस्या

(Economic Problem)

यदि हम मानव-जीवन पर दृष्टि डालें तो कुछ बातें हमें विशेष रूप से दिखाई पड़ेंगी। एक तो यह कि मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई गिनती नहीं; वे असंख्य हैं। उनकी पूर्ति और तृप्ति के लिए मनुष्य तरह-तरह के उद्योग करता है। संसार में जितने भी काम दिखाई देते हैं, उन

सबका मूल कारण आवश्यकता है। आवश्यकता उद्योग की जननी है, उसी के लिए सब काम किये जाते हैं। यदि आवश्यकताएं न हो तो किसी भी प्रकार का काम न किया जायगा। चूकि आवश्यकताओं का कोई अन्त नही, इसलिए मनुष्य जीवन भर किसी न किसी कार्य में लगा ही रहता है।

दूसरे, वैसे तो मनुष्य की आवश्यकताएं अनेक है, पर वे सब एक समान तीव्र नही होती। उनकी तीव्रता (intensity) में अन्तर होता है। कोई अधिक तीव्र होती है, और कोई कम। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को, तीव्रता के आधार पर, एक क्रम में बाध-सा लेता है और फिर उसी क्रम के अनुसार उनकी पूर्ति करता है। पहले वह उन आवश्यकताओ की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है जो औरो से अधिक जरूरी होती है, अर्थात् जिनमे अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता होती है। इनके बाद वह उन आवश्यकताओ की तृप्ति की ओर ध्यान देता है जो उनसे कम जरूरी होती है। इस प्रकार वह अपनी आवश्यकताओ को, उनकी तीव्रता के अनुसार, तृप्त करने का उद्योग करता रहता है।

तीसरी बात यह है कि आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जिन साधनो अथवा वस्तुओ की जरूरत पडती है, वे अधिकतर सीमित (scarce) होती है। आवश्यकता की अपेक्षाकृत उनका परिमाण परिमित होता है, कम होता है। अर्थात् वे इतनी मात्रा या परिमाण में नही होती जितनी कि उनकी माग होती है। इसलिए साधारणत वे मनुष्य को मुफ्त नही मिलती। उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को उद्योग करना पडता है; उनके बदले में उसे कुछ त्याग करना पडता है।

मनुष्य अपने जीवन-काल मे अनेक प्रकार के उद्योग, व्यापार-व्यवसाय करता है जिससे उसे आवश्यकता पूर्ति के सीमित साधन प्राप्त हो सके। यदि आवश्यकता-पूर्ति के साधन असीमित होते, अथवा मनुष्य के पास जादू की कोई ऐसी अगूठी होती जिसके केवल घिराने से ही सारी इच्छित वस्तुए जब और जहा वह चाहता मिल सकती, तो निश्चय ही जीवन की सब समस्याए अपने आप ही हल हो जाती। तब तो मनुष्य को

अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करने में कोई भी कठिनाई न होती। उसे किसी प्रकार का उद्योग करने की आवश्यकता न होती। किन्तु, वास्तविक जीवन में न तो आवश्यकता-पूर्ति के सभी या अधिकतर साधन असीमित हैं, और न ही साधारण व्यक्ति के पास ऐसा कोई जादू है जिससे उसे सब इच्छित वस्तुएं बिना किसी परिश्रम के मिल सकें। अतएव साधारणतया आवश्यकता-पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के लिए मनुष्य को उद्योग करना पड़ता है, उसके बदले में कुछ-न-कुछ मूल्य चुकाना पड़ता है, चाहे वह स्वयं दे या उसके लिए कोई और मूल्य चुकाये, या उद्योग करे।

एक और विशेषता जो ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि आवश्यकता-पूर्ति के सीमित साधनों के अनेक सम्भव प्रयोग अथवा व्यवहार हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग किया जा सकता है, पर सब स्थानों में एक साथ नहीं। जब किसी सीमित साधन को एक आवश्यकता की पूर्ति में लगाया जायगा, तो अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका प्रयोग सम्भव न होगा। फलस्वरूप उन आवश्यकताओं को, अर्थात् साधन के अन्य प्रयोगों को, छोड़ना पड़ेगा। जैसे भूमि के एक टुकड़े को कई प्रकार से काम में ला सकते हैं, उससे कई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। उस पर खेती कर सकते हैं, बाग लगा सकते हैं, मकान, दूकान या स्कूल बना सकते हैं। किन्तु जब हम इनमें से किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उस भूमि का प्रयोग कर लेंगे तो उसके अन्य प्रयोगों को छोड़ना पड़ेगा। अर्थात् अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसका प्रयोग न हो सकेगा। व्यवहार में आने वाले लगभग सभी साधनों के साथ यह बात लागू होती है। दूध को हम पी सकते हैं, या उससे और कोई चीज तैयार कर सकते हैं, पर दोनों काम एक साथ नहीं कर सकते। इसी प्रकार लोहा, कोयला, अन्न, समय, मनुष्य की शक्ति आदि सभी सीमित वस्तुओं और साधनों के विभिन्न व्यवहार या प्रयोग होते हैं। जब हम इन्हें किसी एक आवश्यकता की तृप्ति करने में उपयोग करेंगे, तो अन्य आवश्यकताओं को, जो इनके प्रयोग द्वारा पूरी हो सकती हैं, छोड़ना पड़ेगा।

उपर्युक्त विशेषताओ के कारण मनुष्य के सामने चुनाव (choice) की अथवा निर्णय करने की समस्या आ खड़ी होती है। उसे यह तय करना पड़ता है कि सीमित साधनो को कब, किस प्रकार और किन आवश्यकताओ की पूर्ति मे उपयोग किया जाय। वह यह भली-भांति जानता है कि साधनो के सीमित होने के कारण सभी आवश्यकताओ की तृप्ति सम्भव नही है। अत वह अपनी कुल आवश्यकताओ म से, तृप्ति करने के लिए, कुछ को चुन लेता है और बाकी सबको, कुछ समय के लिए, अतृप्त ही छोड देता है। मनुष्य के दैनिक जीवन म इस प्रकार चुनने की अनेक समस्याए बराबर आती रहती है और इन्ही पर उसकी उन्नति, सुख-समृद्धि बहुत कुछ निर्भर करती है।

जीवन म इस प्रकार की चुनने और निर्णय की समस्या तभी उपस्थित होती है जबकि उपर्युक्त चारो बात या विशेषताए एक साथ होती है। इनमें से किसी एक के न होने पर चुनने की समस्या पैदा न होगी। जैसे यदि आवश्यकताए असीमित न हो, तो मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ मे से कुछ को चुनने और कुछ को छोडने की समस्या न होगी। उस दशा म तो वह अपनी सभी आवश्यकताओ को तृप्त कर लेगा। साथ ही यदि आवश्यकताओ की तीव्रता मे अन्तर न हो, अर्थात् वे एक समान तीव्र हो, तो उस दशा में मनुष्य भला किस प्रकार कोई निर्णय कर सकेगा। ऐसा होने पर तो वह कोई भी काम न कर सकेगा। इसी प्रकार यदि साधन सीमित न हो, या उनके विभिन्न व्यवहार न हो, तो भी निर्णय की कोई समस्या उपस्थित न होगी। साधनो के असीमित होने पर आवश्यकताओ की तृप्ति करने में कोई कठिनाई न होगी, और न फिर यह निर्णय करने की ही जरूरत रहेगी कि किन *आवश्यकताओ की* पूर्ति की जाय, और किन को नही। इसी तरह यदि साधनो के विभिन्न प्रयोग नही है, उनके एक-एक ही प्रयोग है, तो भी चुनने और निर्णय की कोई समस्या न उठेगी। जब कोई साधन केवल एक ही तरह से उपयोग हो सकता है, तो इस बात का कोई प्रश्न ही न उठेगा कि उसे किस तरह, कौन-सी

आवश्यकता की पूर्ति में उपयोग किया जाय।

अस्तु, जीवन की इन विशेषताओं के एक साथ होने के कारण मनुष्य को चुनने और निर्णय करने की आवश्यकता पड़ती है। चुनने की यह आवश्यकता उसे सदा घेरे रहती है। वह इस बात के निर्णय में बराबर लगा रहता है कि किन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय, किस प्रकार सीमित साधनों को, जिनके अनेक प्रयोग हैं, उपयोग में लाया जाय, जिसमें अधिक से अधिक तृप्ति और सतोष उसे प्राप्त हो सकें। यही आर्थिक समस्या है, चाहे इसका सम्बन्ध व्यक्ति से हो या समाज से, और इसी का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है। सीमित साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग के सम्बन्ध में जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं, जो कार्य व निर्णय किये जाते हैं, उन सबका अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है।

मनुष्य अपने दैनिक जीवन में आवश्यकता-पूर्ति के सीमित साधनों के उपयोग के सम्बन्ध में अनेक निर्णय करता है और उनके कार्यान्वित के लिए विभिन्न उद्योग, व्यापार-व्यवसाय करता है। उदाहरणार्थ उसे यह निर्णय करना पड़ता है कि अपना समय, शक्ति और पूंजी अमुक कार्य में लगाये या दूसरे में, अपनी आय को वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की तृप्ति में किस तरह बांटे, आय को किस रूप में रक्खे, अमुक वस्तु खरीदे या दूसरी, एक विशेष कीमत पर किसी वस्तु को कम बेचे या अधिक? इस प्रकार के अनेक निर्णय-कार्य उसे करने पड़ते हैं। समाज के सामने भी इसी तरह के अनेक प्रश्न उठते हैं। ये सब आर्थिक प्रश्न अथवा समस्याएं हैं। अर्थशास्त्र में इन्हीं बातों का विवेचन किया जाता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि चुनने और निर्णय की आवश्यकता इन बातों के कारण होती है : (१) मनुष्य की आवश्यकताएं असख्य हैं, (२) आवश्यकताएं एक समान तीव्र नहीं हैं, (३) आवश्यकता-पूर्ति के साधन सीमित हैं, और (४) सीमित साधनों के विभिन्न प्रयोग हैं। चूंकि निर्णय करने की आवश्यकता के फलस्वरूप ही आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है, इसलिए उपर्युक्त बातें आर्थिक समस्या के आधार हैं।

इन्हीं के कारण आर्थिक समस्या का जन्म होता है। अस्तु, जब तक ये बातें बनी रहेंगी, तब तब आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती रहेंगी और फलस्वरूप उस समय तक अर्थशास्त्र का अध्ययन चलता रहेगा।

आर्थिक समस्या और समाज
(Economic Problem and Society)

अब स्पष्ट है कि आर्थिक समस्या क्या है तथा किन परिस्थितियों अथवा दशाओं में यह पैदा होती है। ये परिस्थितियां समाज अथवा उसके किसी विशेष रूप पर निर्भर नहीं हैं। ये हर स्थान और समय पर हो सकती हैं। चूंकि इन परिस्थितियों के कारण ही आर्थिक समस्या का जन्म होता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि आर्थिक समस्या के लिए समाज का होना आवश्यक नहीं है। चाहे समाज हो या नहीं, चाहे उसकी व्यवस्था का कोई भी रूप हो, यदि मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त हैं और उनकी अपेक्षाकृत आवश्यकता-पूर्ति के साधन सीमित हैं तथा सीमित साधनों के विभिन्न प्रयोग हैं, तो अवश्य ही आर्थिक समस्याएं होंगी। थोड़ी देर के लिए मान लो कि समाज में एक ही व्यक्ति है। उसके सामने भी यह समस्या होगी कि विभिन्न कार्यों में जैसे पूजा-पाठ, भोजन, मनन आदि में अपनी सीमित शक्ति और समय को किस प्रकार बांटे जिससे उसको अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सके। उसे यह निर्णय करना पड़ेगा कि एक समय में अमुक कार्य करे या दूसरा। यह निश्चय ही आर्थिक समस्या है। अस्तु, आर्थिक समस्या समाज या किसी खास सामाजिक व्यवस्था के कारण उत्पन्न नहीं होती। हां, यह बात अवश्य है कि समाज की उपस्थिति में, उसका एक विशेष रूप होने पर आर्थिक समस्याओं में भिन्नता आ जाती है। उनकी संख्या और रूप में परिवर्तन आ जाता है।

आर्थिक समस्या और द्रव्य
(Economic Problem and Money)

आमतौर से आजकल द्रव्य (money) या रुपये-पैसे की समस्या को ही आर्थिक समस्या समझा जाता है। वर्तमान समय में द्रव्य का प्रयोग बहुत

बढ गया है । हर क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है । इसी के रूप में लोगों को वेतन दिया जाता है, वस्तुओं का विनिमय होता है, और उनका मूल्य मापा जाता है । रुपये के आधार पर लेन-देन का कार्य होता है और हिसाब-खाता रखा जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य हमारे जीवन का आज एक विशेष अंग बन गया है । फिर भी इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि द्रव्य के कारण आर्थिक समस्या पैदा होती है और द्रव्य के न होने पर आर्थिक समस्या न रहेगी । द्रव्य के प्रयोग को बन्द कर देने से निश्चय ही हमें अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा, विशेष कर व्यवसाय और व्यापार क्षेत्र में । यहां तक कि हमें जीवन की अनेक अच्छाइयों से हाथ धोना पड़ेगा और हमारी उन्नति बहुत कुछ रुक जायगी । तो भी द्रव्य के निकल जाने से उन परिस्थितियों में कोई हेर-फेर न होगा जिनके कारण आर्थिक समस्या पैदा होती है । उन परिस्थितियों के होने पर, चाहे द्रव्य का प्रयोग चलता रहे या बन्द कर दिया जाय, आर्थिक समस्याएं बनी रहेंगी । अस्तु, आर्थिक समस्या के लिए द्रव्य या मुद्रा अथवा रुपये-पैसे का प्रयोग आवश्यक नहीं है ।

संक्षेप में, अब हम अर्थशास्त्र के विषय को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं । अर्थशास्त्र मानव विज्ञान की एक शाखा है । इसमें मानव-प्रयत्न के उस अंग अथवा पहलू का विवेचन होता है जिसका सम्बन्ध आवश्यकताओं और विभिन्न प्रयोग वाले सीमित साधनों के साथ होता है, चाहे वह प्रयत्न समाज में रहकर किया गया हो या उसके बाहर ।

प्रो० रॉबिन्स ने भी इसी प्रकार अर्थशास्त्र की परिभाषा की है । उनके मतानुसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्य-कलापों का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वे उसके उद्देश्यों और विभिन्न प्रयोग रखने वाले सीमित साधनों के बीच में क्या सम्बन्ध स्थापित करते हैं" ।*

* "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses"—Robbins.

इस परिभाषा के मूल म वही सारी बातें हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त हैं लेकिन उनकी पूर्ति के साधन सीमित है और साथ ही इन सीमित साधनों के कई उपयोग होते हैं। इसलिए मनुष्य के सामने चुनने का प्रश्न उठता है। उसे इस बात का निर्णय करना पडता है कि अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति करे और किन को छोड़ दे। अर्थात अपने सीमित साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार उपयोग करे। अर्थशास्त्र मनुष्य के व्यवहार का इस दृष्टि से अध्ययन करता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र की समस्या चुनने अथवा किफायत की समस्या है।

अर्थशास्त्र की इस प्रकार की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इसमें केवल कुछ खास मनुष्यों का या मनुष्य के कुछ विशेष प्रयत्नों का अध्ययन नहीं होता, बल्कि मनुष्य के प्रत्येक प्रयत्न के एक विशेष पहलू का अध्ययन किया जाता है। इस पहलू से अभिप्राय आवश्यकता-पूर्ति के लिए सीमित साधनों के उपयोग से है। इसे आर्थिक पहलू (economic aspect) कह सकते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम यह सकते हैं कि अर्थ-शास्त्र में मानव-प्रयत्न के आर्थिक पहलू का विवेचन होता है।

समय-समय पर अर्थशास्त्र की अनेक प्रकार से परिभाषाएं की गई हैं। उनमें से एक-दो पर विचार करने से अर्थशास्त्र का विषय, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, और भी स्पष्ट हो जायगा। साथ ही यह भी मालूम हो जायगा कि वे कहां तक ठीक हैं।

अर्थशास्त्र और सम्पत्ति
(Economics and Wealth)

कई अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को एक सम्पत्ति शास्त्र (science of wealth) मानते हैं। उनके कथनानुसार अर्थशास्त्र मनुष्य का सम्पत्ति के सम्बन्ध में अध्ययन करता है। इसमें इस बात की छान-बीन की जाती है कि मनुष्य किस प्रकार धनोपार्जन करता है और किस प्रकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे उपयोग में लाता है।

साधारणतः मनुष्य का अधिकांश समय जीविका के उपार्जन करने में व्यतीत होता है। वह धन की, अर्थात् आवश्यकता पूर्ति की सीमित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अनेक कार्य, व्यापार-व्यवसाय करता है और फिर उस धन को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की तृप्ति में इस प्रकार उपयोग में लाने का प्रयत्न करता है जिससे उसे अधिकतम तृप्ति और सतोष प्राप्त हो। अर्थशास्त्र में इन सब कार्यों, व्यवहारों आदि का अध्ययन होता है जो मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन में धन के उपार्जन और उसे उपयोग में लाने के लिए करता है। अर्थात् अर्थशास्त्र में मनुष्य और सम्पत्ति दोनों का ही अध्ययन एक साथ चलता है।

प्रो० मार्शल की प्रसिद्ध परिभाषा का यही आधार है। उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है "अर्थशास्त्र मनुष्य के प्रतिदिन के साधारण जीवन के कार्यों का अध्ययन है। इसमें इस बात की छान-बीन की जाती है कि मनुष्य किस तरह धन कमाता है और किस तरह से उसे उपयोग में लाता है इसलिए एक ओर तो यह सम्पत्ति का अध्ययन है और दूसरी ओर जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह मानव जीवन के अध्ययन का एक भाग है*।"

अर्थशास्त्र की इस प्रकार से की गई परिभाषा को भलीभांति समझने के लिए एक-दो बातों को स्पष्ट कर देना जरूरी जान पड़ता है, नहीं तो भ्रम में पड़ने की सम्भावना बनी रहेगी। एक तो यह कि इस परिभाषा में 'सम्पत्ति' शब्द का उपयोग रुपये-पैसे के अर्थ में नहीं वरन् उन तमाम सीमित साधनों के लिए किया गया है जिनसे मनुष्य अपनी आवश्यकताएं

* "Economics is the study of man's actions in the ordinary business of life; it enquires how he gets his income and how he uses it Thus it is on one side a study of wealth, and on the other and more important side, a part of the study of man"—Marshall.

पूरी करता है। सम्पत्ति में वे सभी वस्तुए शामिल है जो मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती हो और साथ ही साथ सीमित* भी हो। यदि सम्पत्ति को इस व्यापक और सही अर्थ में समझ लिया जाय तो अर्थशास्त्र के विषय को इस परिभाषा द्वारा स्पष्ट करने मे कोई दोष न होगा।

दूसरी बात यह है कि जब इस परिभाषा के अनुसार यह कहा जाता है कि अर्थशास्त्र एक सम्पत्ति-शास्त्र है, तो यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र में मनुष्य को छोडकर केवल सम्पत्ति का ही विचार किया जाता है, अथवा अर्थशास्त्र मे मनुष्य की अपेक्षा सम्पत्ति का स्थान अधिक महत्वपूर्ण या ऊचा है। क्योंकि ऐसा सम्भव ही नही है। सम्पत्ति में तो केवल वही वस्तुए सम्मिलित की जा सकेगी जिनमें मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करने की शक्ति हो। अस्तु, जब सम्पत्ति पर विचार किया जायगा, तब मनुष्य और उसकी आवश्यकताओ पर विचार करना अनिवार्य हो जायगा। मनुष्य पर विचार किये बिना सम्पत्ति के विषय में विचार किया ही नही जा सकता। वास्तव मे सम्पत्ति का स्वत कोई महत्व नही। इसका अस्तित्व और महत्व मनुष्य की आवश्यकताओ पर निर्भर है। फिर भला किस प्रकार इसका स्थान अधिक ऊचा हो सकता है, अथवा किस प्रकार मनुष्य को छोडकर केवल इसी पर विचार किया जा सकता है। अर्थशास्त्र में हम सम्पत्ति पर ध्यान इसलिए केन्द्रित करते है कि हमें

---

* यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि "सीमित" शब्द को एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। सीमित वस्तु कहलाने के लिए केवल यही जरूरी नही है कि उस वस्तु की मात्रा सीमित हो। सडे-गले अडे मात्रा में कम होते है, किन्तु आर्थिक दृष्टि से वे सीमित नही है। आर्थिक दृष्टि से वह वस्तु सीमित मानी जाती है, जिसकी मात्रा या पूर्ति (supply) माग से कम होती है। यदि किसी वस्तु की मात्रा माग से कम है, तो उसे सीमित कहेंगे, अन्यथा नही।

मनुष्यों के उन कार्य-कलापों का अध्ययन करना है जिनका सम्बन्ध आवश्यकता-पूर्ति के सीमित साधनों अथवा सम्पत्ति से है।

अर्थशास्त्र को सम्पत्ति-शास्त्र मानने में कोई आपत्ति नहीं है बशर्ते कि 'सम्पत्ति' शब्द को सही और व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाय। लेकिन शुरू-शुरू में जब अर्थशास्त्र की यह कह कर व्याख्या की जाती थी कि यह सम्पत्ति का विज्ञान है तो सम्पत्ति को एक बहुत ही सीमित और त्रुटिपूर्ण अर्थ में प्रयोग किया जाता था। इसका आशय भौतिक पदार्थों से था जैसे अनाज, कपड़ा, मेज-कुर्सी, आदि। फलस्वरूप इस परिभाषा से तरह-तरह के भ्रमपूर्ण विचारों का प्रचार होने लगा। लोग अर्थशास्त्र को रुपया-पैसा जोड़ने का अर्थात् कंजूसी का विज्ञान समझने लगे। अब सम्पत्ति को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग रुपये के अर्थ में नहीं वरन् उन तमाम सीमित पदार्थों के लिए किया जाता है जिनसे मनुष्य अपनी आवश्यकताएं पूरी करता है, चाहे वे भौतिक हों या अभौतिक। यदि सम्पत्ति को इस भाव में प्रयोग किया जाय तो अर्थशास्त्र को सम्पत्ति-शास्त्र कहना गलत न होगा।

अर्थशास्त्र और आर्थिक प्रयत्न

(Economics and Economic Activities)

कई अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के विषय को यह कह कर स्पष्ट करते हैं कि यह मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों (economic activities) का अध्ययन है। आर्थिक प्रयत्नों से उनका अभिप्राय मनुष्य के उन कार्यों और व्यवहारों से है जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति से होता है। जब कोई कार्य मनुष्य धन के उद्देश्य से नहीं अपितु दया, भक्ति, मनोरंजन, प्रेम, आदि के उद्देश्यों से करता है, तो उसको वे आर्थिकेतर प्रयत्न (non-economic activities) कहते हैं। इनके कथनानुसार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक प्रयत्नों का विवेचन होता है, आर्थिकेतर प्रयत्नों का नहीं।

अर्थशास्त्र की परिभाषा जब इस प्रकार की जाती है तो इसका

अध्याय २

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(Scope of Economics)

अर्थशास्त्र का क्या-कितना क्षेत्र अथवा विस्तार है, इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए हम निम्नलिखित दो बातों पर विचार करना होगा —

(क) एक तो यह कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्या विषय है ? अर्थात् मानव-जीवन के किस अंग या पहलू का इसमें विवेचन होता है।

(ख) दूसरे, यह किस प्रकार का अध्ययन है—विज्ञान है या कला अथवा दोनों ? और यदि विज्ञान है तो क्या यह केवल एक यथार्थ-मूलक विज्ञान (positive science) है, या यह आदर्शमूलक विज्ञान (normative science) भी है ? इन प्रश्नों के उत्तर द्वारा अर्थशास्त्र का क्षेत्र जाना जा सकता है।

अर्थशास्त्र का विषय

(Subject matter of Economics)

अर्थशास्त्र का क्या विषय है , इसके अन्तर्गत किस बात का अध्ययन होता है, इसका विवेचन पहले अध्याय में किया जा चुका है। फिर से उसको यहां दुहराना अनावश्यक होगा। यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अर्थशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन उसके सीमित साधनों अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध में किया जाता है। मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन में आवश्यकतापूर्ति के सीमित साधनों की प्राप्ति तथा उनको काम में लाने के लिए जो विभिन्न निर्णय-कार्य, व्यापार-व्यवसाय करता है, उन सबका अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है।

अर्थशास्त्र के विषय के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। अर्थशास्त्र केवल एक समाजशास्त्र (social science) ही नहीं है, बल्कि एक मानव-विज्ञान (human science) भी है। इसमें मनुष्य का अध्ययन व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों रूपों में किया जाता है। अर्थशास्त्र के कई सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके लागू होने के लिए समाज की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य चाहे समाज में रहे या उसके बाहर, वे नियम लागू होंगे। समाजशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि समाज के एक सदस्य के रूप में किया जाता है। इसलिए अर्थशास्त्र का क्षेत्र समाजशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक है।

अर्थशास्त्र—विज्ञान या कला

(Economics—Science or Art)

इसके पहिले कि यह निश्चय किया जा सके कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, या कला या दोनों, यह देखना आवश्यक है कि विज्ञान और कला किसे कहते हैं।

साधारणतः ज्ञान के दो भाग किये जाते हैं—विज्ञान और कला।

विज्ञान—विज्ञान प्रकृति के किसी विभाग के विषय में सम्बद्ध ज्ञान के संग्रह को कहते हैं। प्रकृति के किसी विभाग में जो एकता दिखाई देती है, उसका विज्ञान सम्बद्ध अध्ययन करता है और उसके आधार पर वह कुछ तथ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिन्हें नियम अथवा सिद्धान्त कहा जाता है।

किसी चीज का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो वस्तु का अध्ययन उसके प्रस्तुत रूप में, और दूसरे उसका अध्ययन उसके आदर्श के रूप में। पहले प्रकार के अध्ययन को यथार्थ-मूलक विज्ञान और दूसरे प्रकार के अध्ययन को आदर्श-मूलक विज्ञान कहते हैं।

यथार्थ-मूलक विज्ञान—यह वस्तु का यथातथ्य अध्ययन करता है, वस्तु को उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में वह है। यह उसके

कारण और परिणाम के सम्बन्ध का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण करता है। इसका क्षेत्र "क्या है" तक सीमित है। इसका एक मात्र कार्य किसी वस्तु के कारण और परिणाम को मालूम करना है। अन्य किसी बात मे इसका कोई सम्बन्ध नही। अमुक वस्तु बुरी है अथवा अच्छी, अमुक कार्य मनुष्य को करना चाहिए या नही, इन सब बातों से यथार्थ-मूलक विज्ञान का कोई सम्बन्ध नही होता। किसी प्रकार की शिक्षा या राय देना, अथवा आदर्श रखना इसका कार्य नही।

आदर्श-मूलक विज्ञान—यह वस्तु का उसके आदर्श रूप मे अध्ययन करता है, और वस्तु के कल्याणकारी रूप की ओर संकेत करता है। इसका सम्बन्ध "क्या होना चाहिए" से है। हम यह बताता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित, क्या हमे करना चाहिए और क्या नही, अथवा किन-किन वस्तुओं से हमें बचना चाहिए और किनको अपनाना चाहिए। आचार-नीति और धर्मशास्त्र आदर्श-मूलक विज्ञान है।

कला—यह हमे अपने लक्ष्य या आदर्श तक पहुचने का मार्ग तथा साधन बताती है। इससे हम उन व्यावहारिक बातो और तरीको का बोध होता है जिनके द्वारा हम अपने इच्छित स्थानो तथा आदर्शों तक पहुच सकते है, बुराइयो से बच सकते है और अच्छाइयो को पा सकते है।

कला को इस प्रकार और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यह ज्ञान का व्यावहारिक रूप है। प्रत्येक विज्ञान का एक व्यावहारिक रूप होता है जिसे कला कह सकते है और प्रत्येक कला के पीछे उस का एक विज्ञान होता है।

अब ज्ञान के उपर्युक्त तीनों विभागों का परस्पर भेद बिल्कुल स्पष्ट है। यथार्थ-मूलक विज्ञान वस्तुओं के प्रस्तुत रूप का विवेचन करता है। आदर्श-मूलक विज्ञान वस्तुओं का आदर्श रूप निर्धारित करता है और कला इन आदर्शों तक पहुचने का साधन या मार्ग बताती है।

अब हमें यह देखना है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है, या कला अथवा दोनों ? और यदि विज्ञान है, तो क्या यह यथार्थ-मूलक विज्ञान है, या आदर्श-मूलक विज्ञान अथवा दोनों ?

अर्थशास्त्र और विज्ञान
(Economics and Science)

अर्थशास्त्र मनुष्य और सम्पत्ति के सम्बन्धों का शृंखलाबद्ध अध्ययन है। यह मनुष्य की उन एक-रूपताओं का अध्ययन करता है जो उसके दैनिक जीवन के साधारण कार्य-कलापों में देखने में आती हैं। इसलिए यह एक विज्ञान है। पर कुछ लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होते। वे यह कहते हैं कि अर्थशास्त्र में इतनी अनिश्चितता और अस्थिरता है कि विज्ञान का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र परिवर्तनशील स्वभाव वाले मनुष्य का अध्ययन है। उसके प्रयोजन, उसकी परिस्थितियां तथा सम्बन्ध आदि सभी समय-समय पर बदलते रहते हैं। इसलिए अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त सभी स्थानों, समयों और कार्यों पर एक समान लागू नहीं हो सकते, और न ही अर्थशास्त्र के लिए यह सम्भव है कि वह भविष्य के बारे में ठीक-ठीक बातें बता सके। फिर भला किस प्रकार अर्थशास्त्र विज्ञान माना जा सकता है।

किन्तु यह विचारधारा ठीक नहीं है। विज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ठीक-ठीक भविष्यवाणी कर सके। आधुनिक मत के अनु-सार किसी विषय के सम्बद्ध अध्ययन को, जिससे सिद्धान्तों की स्थापना होती है, विज्ञान कहते हैं। अर्थशास्त्र मनुष्य और सम्पत्ति के सम्बन्धों का शृंखलाबद्ध अध्ययन है। इस अध्ययन से कई सिद्धान्तों की स्थापना हो चुकी है जो विरोधी परिस्थितियों तथा बाधाओं के न रहने पर पूरी तरह से लागू होते हैं। अस्तु, अर्थशास्त्र निश्चय ही एक विज्ञान है।

अब प्रश्न यह है कि अर्थशास्त्र यथार्थ-मूलक विज्ञान है, या आदर्श-मूलक या दोनों ? अर्थशास्त्र सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले मानव-जीवन

और समाज के तथ्यों का विचार करता है । यह आर्थिक कार्यों और स्थितियों की छानबीन करके उनके कारणों और परिणामों का निर्देश करता है । इसके द्वारा हमें यह मालूम होता है कि अमुक कारण की उपस्थिति में अमुक परिणाम होने की सम्भावना है। जैसे अर्थशास्त्र मांग और कीमत के सम्बन्ध में हमें बतलाता है कि अन्य चीजों के यथास्थिति रहते हुए, कीमत के गिरने से माग बढ जाती है और कीमत के चढने से माग घट जाती है। इसी तरह, दूसरे स्थान पर अर्थशास्त्र द्वारा हमें यह मालूम होता है कि यदि एक समय में किसी एक वस्तु का अधिक उपभोग होता है तो परिणामस्वरूप उस वस्तु की आगे मिलने वाली इकाइयों (units) की उपयोगिता पिछली इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा कम होती जायगी। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के कारण और परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह कार्य यथार्थ-मूलक विज्ञान का है। अतएव अर्थशास्त्र एक यथार्थ-मूलक विज्ञान है।

पर क्या अर्थशास्त्र आदर्श-मूलक विज्ञान भी है ? इस विषय पर थोडा मतभेद है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि अर्थशास्त्र केवल एक यथार्थ-मूलक विज्ञान है। यह वस्तुओं का यथातथ्य अध्ययन करता है, वस्तुओं को उनके प्रस्तुत रूप में ग्रहण करता है । अर्थशास्त्र का आदर्शों से कोई सम्बन्ध नहीं, और न ही किसी प्रकार की राय देना इसका काम है। किन्तु अर्थशास्त्र को यह रूप देना ठीक नहीं है । अर्थशास्त्र मनुष्य के प्रतिदिन के साधारण कार्यों का अध्ययन है। यह अध्ययन उसी समय लाभप्रद सिद्ध हो सकेगा जबकि अर्थशास्त्र व्यावहारिक आदर्शों पर यथोचित प्रकाश डाल सके । लेकिन यह तभी सम्भव हो सकेगा जबकि अर्थशास्त्र को आदर्श-मूलक विज्ञान का भी रूप दिया जावे। इस रूप के बिना अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व बहुत कम रहेगा। इसलिए अर्थशास्त्र को यथार्थ-मूलक विज्ञान ही नहीं बल्कि साथ-साथ आदर्श-मूलक विज्ञान भी मानना चाहिए।

अर्थशास्त्र और कला
(Economics and Art)

अर्थशास्त्र कला माना जाय या नहीं, इस विषय पर विभिन्न मत हैं। कई अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि इसका क्षेत्र केवल विज्ञान तक ही सीमित रखना चाहिए। उनका कहना है कि यदि इस पर कला का बोझ लाद दिया जायगा, तो अवश्य ही अर्थशास्त्र की वैज्ञानिक उन्नति रुक जायगी। ऐसा होने पर अर्थशास्त्र कला का कार्य भी ठीक ढंग से न कर सकेगा। परिणामस्वरूप विज्ञान और कला दोनों ही क्षेत्रों में अर्थशास्त्र पिछड़ा रहेगा। अस्तु, इसे कला मानना ठीक नहीं।

किन्तु दूसरी ओर बहुत से अर्थशास्त्रियों का कहना है कि अर्थशास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है। मनुष्य तथा समाज के प्रतिदिन के व्यावसायिक जीवन में समय-समय पर अनेक आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं। अर्थशास्त्र इन समस्याओं के कारणों और परिणामों पर ही विचार नहीं करता, बल्कि उनके सुलझाने का मार्ग तथा साधन भी बताता है। यह हमें उन व्यावहारिक साधनों और उपायों से परिचित कराता है जिनके द्वारा आर्थिक कष्टों को दूर कर अधिक से अधिक सुख और समृद्धि बढ़ाई जा सकती है। कला का यही कार्य होता है। इसलिए अर्थशास्त्र एक कला भी है।

वास्तव में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रत्येक विज्ञान का एक अपना व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक रूप होता है। वही कला कहलाता है। अर्थशास्त्र में भी अपना यह अंग अथवा रूप है। अर्थशास्त्र के कला का आशय किसी दिये हुए लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग से है।

उपर्युक्त बातों से अर्थशास्त्र का क्षेत्र स्पष्ट है। इसका विषय मनुष्य और सम्पत्ति है। यह एक विज्ञान है। यथार्थ और आदर्श-मूलक दोनों रूप इसमें हैं। और इसका एक व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक रूप भी है, जिसे कला कहा जा सकता है।

अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध
(Relation of Economics to other Sciences,

अर्थशास्त्र के विषय और उसके क्षेत्र के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के आर्थिक पहलू का अध्ययन होता है और इस अध्ययन के वैज्ञानिक और कलात्मक दोनों रूप हो सकते हैं। यहां एक बात को स्पष्ट कर देना बहुत जरूरी है। वह यह है कि आर्थिक पहलू अन्य पहलुओं से स्वतन्त्र नहीं है। यह दूसरों पर अपना प्रभाव डालता है और वह दूसरों से प्रभावित होता है। आर्थिक सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व अन्य पहलुएँ एक दूसरे से इतने मिले हुए होते हैं कि एक को भली प्रकार समझने के लिए दूसरों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। अतएव अर्थशास्त्र का विषय स्वतः सीमित व पूर्ण नहीं है। यह अन्य शास्त्रों से बहुत घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। यहां तक कि इसके और कुछ शास्त्रों की बीच सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अमुक बात एक विज्ञान के अन्तर्गत आती है अथवा दूसरे विज्ञान के।

संक्षेप में, हम यहां विवेचन करेंगे कि अर्थशास्त्र तथा कुछ अन्य शास्त्रों में क्या-कैसा सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और राजनीति (Economics and Politics)—अर्थशास्त्र में मनुष्य और सम्पत्ति के सम्बन्धों का अध्ययन होता है और राजनीति में मनुष्य और राज्य के सम्बन्धों का। दोनों मानव-विज्ञान की शाखाएँ हैं और परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। वर्तमान समय में ये एक दूसरे पर अधिक प्रभाव डालने लगी हैं और समय के साथ इनका परस्पर सम्बन्ध और अधिक घनिष्ट होता जा रहा है। किसी देश की आर्थिक स्थिति और प्रगति बहुत कुछ उस देश की शासन प्रणाली पर निर्भर करती है। राज्य-शासन की रीति-नीति, नियम-कानून, आदि

बाता का सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण, व्यापार-व्यवसाय आदि सभी आर्थिक कार्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि इनके द्वारा देश की सारी अर्थ-व्यवस्था बदली जा सकती है। यदि राज्य-शासन की रीति-नीति व नियम-कानून देश की अर्थ-व्यवस्था के पक्ष में हितकर हुए तो अर्थ-व्यवस्था मजबूत होगी, तेजी और सन्तुलित ढंग से उसमें उन्नति होगी जिसके फलस्वरूप जन साधारण का जीवन-स्तर ऊपर उठेगा। किन्तु यदि नियम कानून विरुद्ध पड़े तो अर्थ-व्यवस्था को भारी क्षति पहुँचेगी। उसकी प्रगति रुक जायगी और सम्भव है उसके विभिन्न अंगों के बीच का तालमेल भी जाता रहे। विदेशी राज्य के समय में भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर राजनीतिक कारणों का ऐसा ही बुरा प्रभाव पड़ा था। तेजी-मंदी, बेकारी, पूँजीपतियों और मजदूरों के झगड़े, धन वितरण की विषमता आदि जैसी आर्थिक समस्याएँ समुचित राज्य-व्यवस्था और नियन्त्रण के बिना सफलतापूर्वक सुलझाई नहीं जा सकते। इस प्रकार राजनीति का अर्थशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अर्थशास्त्री को आर्थिक बातों पर विचार करते समय राज्य-शासन की रीति नीति को ध्यान में रखना पड़ता है। उसे यह देखना होता है कि राज्य-व्यवस्था का आर्थिक स्थिति पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है।

दूसरी ओर राजनीतिज्ञ को भी आर्थिक पहलू पर पूरा-पूरा विचार करना पड़ता है। राज्य सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में आर्थिक बातों का विशेष स्थान होता है। किसी रीति-नीति के अपनाने व कानून बनाने के पहले आर्थिक परिस्थितियों और समस्याओं पर विचार कर लेना बहुत जरूरी होता है। अनेक राजनीतिक उलझनें और समस्याएँ आर्थिक प्रश्नों के कारण पैदा होती हैं। यही नहीं, बहुत-कुछ अंश तक राज्य की शक्ति और उसके कार्य अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप और उसकी उन्नति पर निर्भर हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र और राजनीति एक दूसरे को बहुत प्रभावित करते हैं। दोनों के बीच कोई सीमा-रेखा खींचना सम्भव

नहीं है। बहुत-सी समस्याएँ ऐसी हैं जो दोनों के अन्तर्गत अध्ययन की जाती हैं जैसे जेल-सुधार, श्रम सम्बन्धी कानून, एकाधिकार-नियन्त्रण आदि।

अर्थशास्त्र और आचारनीति शास्त्र (Economics and Ethics)—यद्यपि इन दोनों के अध्ययन के क्षेत्र अलग-अलग और विशिष्ट हैं, फिर भी इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। आचारनीति शास्त्र में मनुष्य के आचार-व्यवहार व रीति-नीति का विचार किया जाता है। आचार-व्यवहार पर आर्थिक बातों का बहुत असर पड़ता है। बहुत अंशों में मनुष्य व समाज की आचारनीति जीविका के उपार्जन तथा उपभोग के द्वारा निर्धारित होती है। जिन तरीकों से मनुष्य अपनी जीविका चलाता है, जिस वातावरण में उसे रहना और काम करना पड़ता है, जिस ढंग से वह अपनी आमदनी को खर्च करके आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, इन सब बातों का उसके चरित्र, और आचारनीति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर आचारनीति का मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत असर पड़ता है। आर्थिक क्रियाओं को करते समय नैतिक प [illegible] को ध्यान में रखना होता है। अनेक व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होने पर भी इस कारण छोड़ दिये जाते हैं कि वे नैतिक [illegible] से उचित नहीं होते। सच्चा आर्थिक कार्य अन्त में नैतिक कार्य होता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और आचारनीति शास्त्र में निकट सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और इतिहास (Economics and History)—इन दोनों विषयों में भी बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। इतिहास अर्थशास्त्री के लिए अध्ययन-सामग्री जुटाता है। इसके द्वारा पुराने काल की आर्थिक स्थितियों और सिद्धान्तों की जानकारी होती है जिससे वर्तमान स्थिति के समझने और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के स्थापन और निरुपण में बड़ी सहायता मिलती है। किसी भी आर्थिक समस्या को बिना उसके पूर्व इति-

ह्रास की जानकारी के हल नहीं किया जा सकता। आज की अधिकांश आर्थिक समस्याओं का अपना एक इतिहास है। उसे पूरी तरह समझे बिना इन समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाया नहीं जा सकता। अस्तु अर्थशास्त्र इतिहास का बहुत ऋणी है। किन्तु दूसरी ओर इतिहास भी अर्थशास्त्र का ऋणी है। आर्थिक सिद्धान्तों का ज्ञान इतिहास लेखक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक स्थितियों के विश्लेषण के बिना इतिहास का कोई विशेष महत्त्व नहीं। यह ठीक ही कहा गया है कि इतिहास के बिना अर्थशास्त्र अधूरा है और अर्थशास्त्र के बिना इतिहास का कोई लाभ नहीं।

QUESTIONS

1. Which things would you include in describing the scope of Economics? Explain them fully.
2. What do you mean by the terms 'science' and 'art'? Do you think that Economics is both a science and an art?
3. What is meant by positive and normative science? Is Economics only a positive science or has it a normative aspect as well?
4. Define Economics and briefly show its relation with Politics and Ethics

अध्याय ३

अर्थशास्त्र के नियम

(Laws of Economics)

'नियम' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ तथा व्यवहार हैं। मुख्यत नियमो के चार विभाग किये जा सकते हैं —राज्य-नियम, नैतिक-नियम, व्यावहारिक नियम तथा वैज्ञानिक नियम। इन चार प्रकार के नियमो का उल्लेख करने से हमे यह समझने में आसानी होगी कि अर्थशास्त्र के नियम क्या हैं और वे किस तरह अन्य नियमो से भिन्न हैं।

राज्य-नियम (Statutory Laws)—प्रत्येक देश में कुछ नियम वहा के राष्ट्र अथवा पालियामट द्वारा बनाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के के लिए उनका पालन करना अनिवार्य होता है। वे यह बताते हैं कि अमुक कार्य वहा के निवासी कर सकते हैं और अमुक कार्य नही। इन नियमो के उल्लघन करने वालो को राज्य की ओर से उचित दण्ड दिया जाता है। ऐसे नियमो या कानूनो को 'राज्य नियम' कहा जाता है। ये नियम सदा एक-से नही बने रहते। सरकार इनमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाती रहती है और नये नियम भी बनाये जाते हैं। जिस देश के वे नियम होते हैं, वही के लिए वे लागू होते हैं, बाहरी देशों के लिए नही।

नैतिक-नियम (Moral Laws)—इनका सम्बन्ध नीति, आदर्श तथा धर्म से है। ये बताते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नही। जैसे मनुष्य को सदा सत्य बोलना चाहिए, दूसरो की सहायता करनी चाहिए, आदि। इन्हें 'नैतिक नियम' कहते हैं। इनके उल्लघन करने वालो को राज्य की ओर से दण्ड तो नही दिया जा सकता, पर ऐसे लोग नैतिक दृष्टि से नीचे गिर जाते हैं।

व्यावहारिक नियम (Customary Laws)—व्यावहारिक नियम का आशय उन नियमों से है जो किसी जाति की सामाजिक रीतियां अथवा परम्परागत रिवाजों से स्थापित किये हुए होते हैं। जैसे हिन्दू समाज में कई ऐसे रिवाज प्रचलित हैं जिन्हें लोग जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर पालन करते हैं। जो ऐसा नहीं करते वे उस समाज की दृष्टि से नीचे गिर जाते हैं।

वैज्ञानिक नियम (Scientific Laws)—ये कारण और उनके परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इनके द्वारा यह पता लगता है कि अमुक कारण का क्या परिणाम होगा। जो नियम इस तरह का काम करते हैं अर्थात कारण और परिणाम का सम्बन्ध बताते हैं उन्हें वैज्ञानिक नियम कहा जाता है, जैसे आकर्षण-शक्ति का नियम। यह नियम इस बात को बताता है कि प्रत्येक वस्तु, जो हवा से भारी है, आधार के न रोकने पर पृथ्वी पर गिर पड़ेगी। इसलिए यह एक वैज्ञानिक नियम है।

अर्थशास्त्र के नियमों की विशेषताएं
(Nature of Economic Laws)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कई नियमों का उल्लेख किया जाता है जैसे माग का नियम, उपयोगिता ह्रास नियम, समसीमान्त उपयोगिता नियम, क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि या ह्रास नियम आदि। यह पूछा जा सकता है कि ये नियम किस प्रकार के हैं? क्या ये सरकार की ओर से बनाये जाते हैं? अथवा क्या इनका सम्बन्ध धर्म या रीति रिवाजों से है? या क्या ये वैज्ञानिक नियम हैं?

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अतएव इसके सब नियम वैज्ञानिक नियम अथवा सिद्धान्त हैं। अन्य वैज्ञानिक नियमों की तरह अर्थशास्त्र के नियम भी कारण और परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे बतलाते हैं कि अमुक आर्थिक स्थिति में अमुक कारणों का अमुक परिणाम होगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अर्थशास्त्र मुख्यतः मनुष्य के प्रतिदिन

के व्यावसायिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों का अध्ययन है। यह उन कार्यों के कारण और परिणाम के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्रकाश डालता है। यह इस बात की छानबीन करता है कि मनुष्य विशेष दशाओं में किस तरह से बर्ताव करते हैं। यदि किसी विशेष आर्थिक स्थिति में एक ही प्रकार का बर्ताव या सम्बन्ध देखने में आता है, तो उसे एक निश्चित रूप देकर अर्थशास्त्र का नियम कहने लगते हैं। उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है। हम यह प्रतिदिन देखते हैं कि जब किसी वस्तु का मूल्य चढ़ जाता है, तो साधारणतः उस वस्तु की माग घट जाती है, और मूल्य के गिर जाने से माग में वृद्धि होती है। इस तरह का सम्बन्ध करीब-करीब हर जगह और हरेक वस्तु के साथ देखने में आता है। अर्थशास्त्रज्ञ इस बात को नियमित रूप से कहते हैं कि मूल्य के घटने और बढ़ने से, यदि अन्य सभी बातें वैसी ही रहें, तो माग में वृद्धि और कमी की प्रवृत्ति होती है। यह अर्थशास्त्र का एक नियम है जिसे माग का नियम कहते हैं। यह नियम वस्तु की कीमत और उसकी माग के बीच का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बताता है कि मूल्य के उतार-चढ़ाव का माग पर क्या परिणाम होता है। इस तरह का सम्बन्ध स्थापित करना वैज्ञानिक नियम का कार्य है। इसलिए माग का यह नियम वैज्ञानिक नियम है। अर्थशास्त्र के अन्य नियम भी इसी प्रकार के है। अस्तु, वे सभी वैज्ञानिक नियम हैं।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के नियम अन्य प्रकार के नियमो से बिलकुल विभिन्न है। आर्थिक नियम किसी राष्ट्र या सरकार द्वारा नही बनाये जाते। ये किसी एक देश में ही लागू नही होते, और न इनके उल्लंघन करने वालो को किसी प्रकार का सरकारी दण्ड ही दिया जा सकता है। ये किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा अथवा आदर्श हमारे सामने नही रखते। इनका तो केवल एक कार्य है—वह है कारण और परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना।

अर्थशास्त्र के नियमों के सम्बन्ध मे एक-दो बाते ध्यान देने योग्य है। एक तो यह कि ये एक विशेष परिस्थिति मे ही लागू हो सकते है। प्रत्येक नियम के साथ यह शर्त लगी हुई होती है कि अन्य सब बात पूर्ववत् ही रहे, स्थिति में कोई परिवर्तन न हो। परिस्थिति के बदल जाने से सिद्धान्तो मे हेर-फेर आ जाता है, वे ठीक नही उतरते। पर इसका यह अर्थ नही कि अर्थशास्त्र के नियम गलत या व्यर्थ है। प्रत्येक शास्त्र तथा विज्ञान के सम्बन्ध मे यह शर्त लागू होती है। उसके नियम उसी दशा में पूरी तरह लागू होते है जब यह मान लिया जाता है कि अन्य सब बातो मे कोई परिवर्तन नही हुआ है। परिस्थितियों के बदल जाने पर कोई भी सिद्धान्त लागू नही हो सकता। उदाहरण के लिए आकर्षण-शक्ति के सिद्धान्त को ही ले लीजिए। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु को, जो हवा से भारी हो, आधार के न रोकने पर जमीन पर गिर पड़ना चाहिए। लेकिन यह बात कई जगहों पर लागू नहीं होती। हवाई जहाज व गुब्बारे नीचे न गिर कर ऊपर उड़ जाते है। इसका कारण यह है कि विरोधी परिस्थितिया तथा बाधाए बीच मे आकर उन चीजो को नीचे गिरने से बचाती रहती है। लेकिन इसके आधार पर कौन कह सकता है कि आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त गलत है। अस्तु, यदि परिस्थितियो मे अन्तर आ जाने से अर्थ-शास्त्र के नियम किसी समय या स्थान पर लागू न हो सके, तो इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि वे नियम ठीक नही है। उनकी सच्चाई में इस बात से कोई फर्क नही पड़ता।

दूसरी बात यह है कि अर्थशास्त्र के नियम अपेक्षाकृत कम निश्चित और स्थिर है। ये पूर्ण रूप से नही कहते कि अमुक कारण का अमुक परिणाम अवश्य होगा। नियमो के कम निश्चित अथवा स्थिर होने के अनेक कारण है। सर्वप्रथम, अर्थशास्त्र परिवर्तनशील स्वभाव वाले मनुष्य की इच्छाओ तथा कार्यो का अध्ययन है। मनुष्य स्वेच्छाचारी है। उसके स्वभाव को नियमबद्ध नही किया जा सकता, और न यह आशा ही की जा सकती है कि वह सदैव उसी तरह बर्ताव करता रहेगा। उसकी इच्छाए

बराबर बदलती रहती हैं। वे अत्यन्त अनिश्चित हैं। चूंकि इन्हीं के आधार पर अर्थशास्त्र के नियम बनाये जाते हैं, इस कारण वे सदा इतने ठीक नहीं बैठते जितना कि उन्हें बैठना चाहिए। दूसरे, आर्थिक जीवन पर तरह-तरह के प्रभाव पड़ते रहते हैं। राजनैतिक, धार्मिक, आदि सभी बातों का प्रभाव मनुष्य की आर्थिक प्रवृत्तियों पर पड़ता है। कारणवश अर्थशास्त्र के नियम, जिनका सम्बन्ध केवल आर्थिक प्रवृत्तियों से ही है, पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो पाते। तीसरे, अर्थशास्त्र में प्रत्यक्ष प्रयोग सम्भव नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध मनुष्य से है जो एक जीवित तथा स्वतन्त्र प्राणी है। इसकी इच्छाएं रोकी नहीं जा सकती। इन सब कारणों से अर्थशास्त्र के नियम कम निश्चित होते हैं।

इसके विपरीत भौतिक विज्ञान के नियम पूर्ण रूप से निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं और वे सर्वत्र लागू होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भौतिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्य की अनस्थिर इच्छाओं से नहीं, बल्कि भौतिक वस्तुओं से है जो निश्चित और अपरिवर्तनशील हैं। इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञानों में प्रत्यक्ष प्रयोग का अवलम्बन पूर्णरूप से इच्छानुसार किया जा सकता है। प्रयोगशाला में विरोधी परिस्थितियों को दूर रखकर इस बात की, प्रयोग द्वारा परीक्षा की जा सकती है कि अमुक कारण होने पर अमुक परिणाम होगा। यही कारण है कि भौतिक नियम बड़े निश्चित होते हैं। आकर्षण शक्ति का नियम एक भौतिक नियम है। यह बताता है कि किस तरह एक वस्तु पृथ्वी की ओर आकर्षित होती है। चाहे वह वस्तु कोई भी क्यों न हो, पृथ्वी उसे अपनी ओर अवश्य खींचेगी। इसमें शंका का लेशमात्र भी स्थान नहीं है। अर्थशास्त्र के नियम इतने निश्चित नहीं है। इसलिए उनकी तुलना भौतिक नियमों से नहीं की जा सकती।

आर्थिक नियम ज्वार-भाटा के नियमों (laws of tides) के समान हैं। ज्वार-भाटा के नियम यह बताते हैं कि किस तरह सूर्य और

चन्द्रमा के प्रभाव से एक दिन में दो बार ज्वार-भाटा उठता और गिरता है, किस तरह नवीन तथा पूर्ण चन्द्रमा के दिन प्रबल ज्वार-भाटा उठता है, आदि। पर ये निश्चित रूप से नहीं बता सकते कि अमुक स्थान पर किस समय ज्वार-भाटा तेजी से आयेगा। कारण, मौसम व हवा आदि के प्रभाव से ज्वार-भाटा की गति में काफी अन्तर पड़ जाता है। ज्वार-भाटा के नियम केवल यह कह सकते हैं कि अमुक स्थान अथवा समय पर इस प्रकार के ज्वार-भाटा की सम्भावना है। हो सकता है, तेज हवा या वर्षा के कारण अनुमान ठीक न सिद्ध हो। यही दशा अर्थशास्त्र के नियमों की भी है। ये मनुष्य की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं जिनमें प्राय और अकस्मात परिवर्तन होता रहता है। फलत आर्थिक नियम निश्चित रूप से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाते। ये ज्वार-भाटा के नियमों की तरह यह बताते हैं कि अमुक आर्थिक परिस्थिति में अमुक परिणाम होने की सम्भावना है।

यद्यपि आर्थिक नियम भौतिक नियमों की तुलना में कम निश्चित हैं, फिर भी वे अन्य समाज शास्त्रों के नियमों से कहीं अधिक निश्चित है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की उन इच्छाओं तथा कार्यों से है जिनका माप द्रव्य अथवा मुद्रा द्वारा किया जा सकता है। इस कारण अर्थशास्त्र के नियमों में अधिक यथार्थता आ जाती है और विचार, छान-बीन तथा निर्णय करने में सुविधा होती है। अन्य सामाजिक विज्ञानों को द्रव्य ऐसा कोई माप दण्ड प्राप्त नहीं है। अतएव उनके नियम आर्थिक नियमों की अपेक्षा बहुत ही अनिश्चित होते हैं।

QUESTIONS

1. What are the different meanings attached to the term 'Law'? How do they differ from the economic sense of this term ?
(2. Explain the distinction between an economic law and a statutory law. Show how all economic laws are mere statements of tendencies.

3 'The laws of Economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation' Comment

4 Are economic laws less exact ? If so, what are the causes ?

5 Compare and contrast economic laws with the laws of physical sciences

6 'Economic laws are the most exact of all the social laws' Do you agree ? Give reasons

अध्याय ४

अर्थशास्त्र का महत्त्व

(Importance of Economics)

किसी भी विषय का अध्ययन मुख्यत दो उद्देश्यो से किया जाता है। एक तो ज्ञान के लिए और दूसरे उस विषय से प्रतिदिन के जीवन म होने वाले लाभ व कल्याण के लिए। प्रत्येक विषय के अध्ययन मे ये दोनो बाते थोडी-बहुत मात्रा में पाई जाती है। किसी अध्ययन मे ज्ञान की मात्रा अधिक होती है, और किसी म व्यावहारिक लाभ उठाने की। उदाहरणार्थ भूगर्भ विज्ञान अथवा मनोविज्ञान में, ज्ञान-उद्देश्य का स्थान बहुत ऊचा है। इन विषयो का अध्ययन मुख्यत ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है। दूसरी ओर कुछ विषय ऐसे है जिनम व्यावहारिक लाभ का अश अत्यधिक होता है, जैसे वैद्यक, न्यायशास्त्र, आदि।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें यह दोनो प्रकार के लाभ प्राप्त होते है : सैद्धान्तिक (theoretical) और व्यावहारिक (practical)। इससे हमारे ज्ञान-कोष में वृद्धि होती है और साथ ही व्यावहारिक क्षेत्र मे अनेक सुविधाए भी मिलती है। इन्ही दोनो दृष्टिकोणो से अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व का हम यहा निरूपण करेगे।

सैद्धान्तिक लाभ

(Theoretical Importance)

ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से अर्थशास्त्र का अध्ययन काफी महत्त्व-पूर्ण है। यह सत्यानुसन्धान का एक साधन है जिसमें हमें सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले मानव-जीवन और समाज के यथार्थ तथ्यो का पूरा ज्ञान

प्राप्त होता है। साथ ही, यह हमें सत्यानुसन्धान के लिए सभी आवश्यक शक्तियों से सुसज्जित करता है। इसके द्वारा सतर्क निरीक्षण, धैर्ययुक्त विश्लेषण, उचित तर्क तथा ठीक निर्णय करने का अभ्यास होता है।

हमारा दृष्टिकोण भी इसके द्वारा विस्तृत हो जाता है। यह अर्थशास्त्र का ही अध्ययन है जो हमें बताता है कि धन की उत्पत्ति कैसे होती है, क्यों और कैसे धन का विनिमय और वितरण होता है, कैसे वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है, किस तरह धन के उपभोग से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। इस ज्ञान के बिना हम अपने सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को भली-भांति नहीं समझ सकते। अर्थशास्त्र हमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान दिलाता है और इसके द्वारा हमें यह पता लगता है कि इसके बीच हमारा क्या स्थान है। आधुनिक समाज की अनेक जटिल आर्थिक समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। समाज की उन्नति तभी हो सकती है जब कि मनुष्य का पेट भरा हो। इस आर्थिक पहलू का ज्ञान हमें अर्थशास्त्र द्वारा होता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र हमें मानव-समाज के आर्थिक प्रयत्नों से भली-भांति परिचित कराता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का स्थान केवल ज्ञान के लिए अथवा मानवीय शक्तियों के शिक्षण और अभ्युन्नति की दृष्टि से भी बहुत ऊंचा है। यह एक सर्व रुचिकर, महत्त्व और रसपूर्ण विषय है।

व्यावहारिक लाभ

(Practical Importance)

अर्थशास्त्र के अध्ययन का व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक महत्त्व बहुत अधिक है। बहुत-से अर्थशास्त्रवेत्ताओं का तो कहना है कि अर्थशास्त्र का प्रमुख महत्त्व व्यावहारिक क्षेत्र में ही है। इसके ज्ञान द्वारा जीवन की अनेक गुत्थियां सरलतापूर्वक सुलझायी जा सकती हैं। चाहे जिस दृष्टिकोण से हम देखें, अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यावहारिक जीवन के

लिए अत्यन्त उपयोगी है। संक्षेप में, हम यहाँ यह विचार करेंगे कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक जीवन में कितना लाभदायक है।

सर्वप्रथम, उपभोक्ता अथवा घर के मुखिया को ही ले लीजिए। प्रत्येक गृहस्वामी की यह इच्छा होती है कि वह परिवार की सीमित आय को इस प्रकार से व्यय करे जिससे कुटुम्ब वालों की अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अर्थशास्त्र द्वारा उन नियमों का बोध होता है जिनके पालन से अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकती है, जैसे सम-सीमान्त-उपयोगिता का नियम, पारिवारिक-आय-व्यय-तालिका आदि। जिस घर के मुखिया ने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया है, वह अपनी जिम्मे-वारी को दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक पूरा कर लेगा। अस्तु, अर्थशास्त्र के अध्ययन से उपभोक्ता को अपनी सीमित आय से अधिकतम तृप्ति प्राप्त करने अथवा पारिवारिक सुख और संतोष बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलती है।

अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यापारी अथवा व्यवसायी के लिए भी बहुत उपयोगी है। आधुनिक उत्पत्ति तथा व्यापार प्रणाली बहुत ही जटिल है। सदैव बड़ी-बड़ी समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं। इनको समझने और सुलझाने के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अर्थ-शास्त्र उत्पत्ति और व्यापार सम्बन्धी सभी बातों पर उचित प्रकाश डालता है। यह बतलाता है कि उत्पत्ति के कौन-कौन से साधन है, किन-किन ढंग से उत्पत्ति की जा सकती है तथा किस क्षेत्र में कौन सी मुख्य कठिनाइयां आती रहती हैं और कैसे उनका सामना किया जा सकता है। इसके द्वारा व्यापारियों अथवा उत्पत्तिकर्त्ताओं को विशिष्टीकरण, वैज्ञानिक व्यवस्था, बैंकिंग कारोबार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इन बातों को समझे बिना उत्पत्ति अथवा व्यापार क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना असम्भव है। अतएव अर्थ-

शास्त्र का ज्ञान उत्पत्तिकर्ता, व्यापारी तथा व्यवसायी के लिए बहुत ही लाभप्रद है।

अर्थशास्त्र की जानकारी मजदूरों के लिए भी बहुत लाभदायक है। इसके अध्ययन से उन्हें यह अच्छी तरह से मालूम हो जाता है कि धनोत्पत्ति में उनका क्या स्थान है। इसके द्वारा उनको इस बात का पूरा ज्ञान हो जाता है कि उन्हें एक विशेष मजदूरी क्यों मिलती है, वह किन-किन बातों पर निर्भर करती है और वह किस प्रकार बढ़ सकती है? उन्हें अपने अधिकारों के समझने और उनके निमित्त उचित शस्त्र या उपायों से काम लेने की शिक्षा भी मिलती है। संक्षेप में, उन्हें इस बात का पूरा बोध हो जाता है कि अपने हितों की रक्षा और उन्नति के लिए सहयोग और संगठन कितना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र का ज्ञान राजनैतिक नेताओं के लिए भी बहुत महत्त्व रखता है। अर्थशास्त्र राजनीतिज्ञ को वर्तमान आर्थिक समस्याओं तथा उनके दूर करने के विभिन्न तरीकों का बोध कराता है जिसके बिना वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र के राजस्व विभाग में राजकीय आय तथा व्यय सम्बन्धी बातों का विवेचन किया जाता है जिसके ज्ञान से राजनीतिज्ञ राज्य और समाज की आर्थिक समस्याओं को भली भाँति समझ सकता है और उनके हल करने में सफल हो सकता है।

सामाजिक समृद्धि को बढ़ाना समाज-सुधारक का प्रमुख लक्ष्य है। वह सदैव सामाजिक सुख-समृद्धि के बढ़ाने के लिए उपाय खोजता रहता है। उसे इस काम में अर्थशास्त्र से बहुत अधिक सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र मुख्यतः एक समाज शास्त्र है। यह समाज की आर्थिक समृद्धि का अध्ययन करता है। सम्पत्ति और सामाजिक समृद्धि में क्या, कैसा और कितना सम्बन्ध है, इसका बोध हमें अर्थशास्त्र द्वारा पूर्ण रूप से होता है। यह हमें बताता है कि भौतिक साधनों का प्रभाव हमारी समृद्धि के ऊपर

किनना पड़ता है । अस्तु, अर्थशास्त्र ज्ञान-सम्पन्न समाज-सुधारक अपने सुधार के कार्य मे पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन उपभोक्ता, व्यापारी, उत्पत्तिकर्ता, मजदूर, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक आदि सभी के लिए आवश्यक और उपयोगी है।

अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी लाभदायक है। जैसा कि हम पहले कह चुके है अर्थशास्त्र मुख्यत एक सामाजिक विषय है। इसका मुख्य उद्देश्य समाज की आर्थिक उन्नति करना है जिससे जनसाधारण की आर्थिक दशा सुधरे और उनका जीवन सुखमय हो सके। समाज की अधिकतर कठिनाइया या समस्याए आर्थिक कारणो से ही उत्पन्न होती है। अतएव सामाजिक उन्नति इन्ही समस्याओ के सुलझाने के ऊपर निर्भर है। पर इन समस्याओ का हल तभी सम्भव हो सकता है जब कि हम इनके आर्थिक कारणो को विविध रूप से जान ले। इसके लिए हमे अर्थशास्त्र की शरण लेनी पड़ेगी। अर्थशास्त्र द्वारा हमे इन बातो का पूरा ज्ञान होता है और साथ ही साथ यह भी पता लगता है कि इन कारणो के दूर करने के क्या-क्या उपाय हो सकते है। उदाहरणार्थ वर्तमान समाज की कुछ समस्याए ही ले लीजिए। बेकारी और निर्धनता की समस्याए आधुनिक समाज को बुरी तरह से जकड़े हुई है। समाज मे आज जो अशान्ति की आग फैली हुई है, अधिकतर इन्ही के कारण है। सामाजिक उन्नति तथा सुख के लिए इनसे छुटकारा पाना आवश्यक है। अर्थशास्त्र इस ओर पर्याप्त सहायता देता है। यह इन समस्याओं के कारण तथा उनके दूर करने के उपायो से हमे परिचित कराता है। अत अर्थशास्त्र का अध्ययन सामाजिक उन्नति तथा कल्याण के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त उपयोगी है।

QUESTIONS

1. What is Economics? How far is its study helpful in practical life?

2 Examine the theoretical importance of Economics

3 Discuss fully the value of Economics for a businessman, a labourer and a statesman

अध्याय ५

आर्थिक जीवन का विकास

(Evolution of Economic Life)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हमारे चारो ओर सभी कुछ परिवर्तनशील है। परिवर्तन का नियम केवल प्राकृतिक घटनाओ पर ही नही, बल्कि सभी बातो पर लागू है। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक सभी दिशाओं मे परिवर्तन होता है। यदि हम मनुष्य के आर्थिक जीवन पर दृष्टि डाले तो हम देखेगे कि समय-समय पर उसमे कितने ही परिवर्तन होते रहे है। आदिम मनुष्य की आवश्यकताए बहुत थोडी थी। उनकी पूर्ति का ढग सीधा और सरल था। मास, मछली और फल-फूल खाकर वे अपना जीवन निर्वाह करते थे। पर अब वर्तमान युग मे आर्थिक जीवन का सारा ढाचा ही बदल गया है। पुरानी अर्थ-व्यवस्था बदल चुकी है और उसका स्थान नई व्यवस्था ने ले लिया है। हमारी आवश्यकताए अब पहले से बहुत बढ गई है। उनकी पूर्ति के लिए किये गये उद्योग भी पहले की अपेक्षा बिल्कुल विभिन्न है। आज-कल बड़े-बडे कारखाने खुल गये है जिनमे हजारो मजदूर एक साथ काम करते है। उत्पत्ति बडे पैमाने पर होने लगी है। व्यापार, मडी, यातायात के साधनो आदि मे भी बडे परिवर्तन हुए है। इन सब कारणो से आज के आर्थिक जगत का रूप बिलकुल बदल गया है। इसमे अनेक नई-नई विशेषताए आ गई है। वर्तमान आर्थिक जगत और उसकी विशेषताओ को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक होगा कि समय-समय पर इसमे क्या-क्या परिवर्तन होते रहे है और किस तरह मनुष्य इस तक पहुचा है।

मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास को आमतौर से निम्नलिखित पांच अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है —आखेटावस्था (Hunting Stage), पशु-पालनावस्था (Pastoral Stage), कृषि-अवस्था (Agricultural Stage), दस्तकारी-अवस्था (Handicraft Stage) और औद्योगिक काल (Industrial Stage or present economic order)। हमें यहां यह ध्यान रखना होगा कि इन अवस्थाओं के बीच हम कोई समय-रेखा नहीं खींच सकते और न यही कह सकते हैं कि अमुक तिथि से मानव समाज ने एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में पैर रखा है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में ये अवस्थाएं एक साथ नहीं आई हैं और न ऐसा ही हुआ है कि जब एक अवस्था बिलकुल समाप्त हो चुकी हो, तभी दूसरे काल का प्रारम्भ हुआ हो। भिन्न-भिन्न देशों की प्रगति पृथक्-पृथक् रही है। यही नहीं, एक ही देश में एक ही समय दो तीन अवस्थाओं की विशेषताएं देखने में आती हैं।

आखेटावस्था

(Hunting Stage)

आदिम निवासियों की आवश्यकताएं थोड़ी और साधारण थीं। उनकी पूर्ति का ढंग भी सीधा था। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे प्रकृति पर निर्भर थे। वे स्वयं वस्तुओं को बनाना नहीं जानते थे। इसलिए जो वस्तु जिस रूप में प्रकृति से मिलती उसे उसी रूप में प्रयोग करते थे। उनका प्रधान पेशा शिकार, मछली पकड़ना तथा फल-फूल तोड़ना था। जानवरों के चमड़े तथा वृक्ष की छालों से अपने शरीर को ढकते थे। शिकार का कार्य अत्यन्त अनिश्चित होने के कारण कभी-कभी तो शिकार बहुत आसानी से मिल जाता, पर कभी ऐसा भी होता कि दिन भर चक्कर लगाने के बाद भी कोई शिकार नसीब न होता। अतएव कभी तो लोगों के पास खाद्य-सामग्री काफी होती और कभी भूखों मरना पड़ता था।

जीवकोपार्जन के साधन अनिश्चित होने के कारण, लोगोंमें पारस्परिक संघर्ष का होना आवश्यक था। युद्ध द्वारा निर्बल व्यक्तियों को दास बना लिया जाता था और जब भोजन के लिए कोई सामग्री नहीं होती थी तो उन दासों को मार कर उनके मांस पर विजेता अपना निर्वाह करते थे। अस्तु उस समय के लोग नरभक्षी थे।

भोजन के अभाव के कारण उस समय का मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर शिकार की खोज में घूमता फिरता था। न उसका कोई घर था न दर। वह खानाबदोश था। यही कारण है कि उस समय की जनसंख्या बहुत कम थी। पर्यटनशील जातियों के बीच संघर्ष का होना एक तरह से स्वाभाविक था।

आर्थिक विकास की इस अवस्था में न तो श्रम-विभाजन था, और न वस्तुओं का विनिमय। मनुष्य पूर्ण रूप से स्वावलम्बी (self-sufficient) था। वह अपना सब काम स्वयं ही करता था। उसकी आवश्यकता, प्रयत्न तथा तृप्ति के बीच सीधा सम्बन्ध था।

यह स्वतन्त्र आर्थिक अवस्था का समय था। इस समय व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्थान न था। भूमि सब की सम्मिलित सम्पत्ति थी।

पशुपालनावस्था
(Pastoral Stage)

प्रगति के साथ धीरे-धीरे मनुष्य इस बात पर पहुँचा कि पशुओं को मारने की अपेक्षा उन्हें पालना कहीं लाभदायक है। आखेटावस्था में मनुष्य अपना निर्वाह शिकार और मछली पकड़ कर करता था। यह साधन पर्याप्त और निश्चित न था क्योंकि कभी शिकार मिल पाता, और कभी नहीं। इसलिए मनुष्य ने पशुपालन का कार्य प्रारम्भ किया जिसमें शिकार आदि न मिलने पर भी भोजन का काम चलता रहे। इस विशेषता के कारण इस अवस्था को 'पशुपालनावस्था' कहते हैं। आर्थिक विकास की यह दूसरी अवस्था थी।

अभी तक लोगों को कृषि-कला का ज्ञान न था। वे किसी प्रकार का पौदा या घास नहीं उगा सकते थ। कारणवश इस समय के निवासी घास तथा चारागाहों की खोज म जानवरों सहित एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते थे। किसी एक स्थान पर घर बनाकर रहना उनके लिए सम्भव न था। बहुधा ऐसी जातियाँ, चारागाहों की खोज में, परस्पर लड़ा-झगड़ा करती थीं। परन्तु इस समय के युद्ध में पहले की अपेक्षा एक विशेषता यह थी कि युद्धबन्दियों को मारने के बजाय उन्हें दासता की बेड़ियों से जकड़ लिया जाता था। विजेता उन्हें अपने जानवरों की रखवाली तथा अन्य लाभदायक कार्यों को सौंप दिया करते थे। इस तरह नरभक्षण का स्थान अब दासता ने ले लिया।

अभी तक भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न था। केवल दास, जानवर और हथियार ही व्यक्तिगत सम्पत्ति में गिने जाते थे। चारागाहों पर एक जाति केवल घास शेष रहने तक अपना अधिकार रखती थी। ज्योंही एक चारागाह की घास चर ली जाती, वैसे ही लोग दूसरे चारागाहों की खोज म चल पड़ते।

विनिमय की क्रिया से अभी तक लोग अनभिज्ञ थे। वे अपनी आवश्यकताओं की स्वयं ही अपने उद्योग द्वारा तृप्ति करते थे। आवश्यकता, उद्योग तथा तृप्ति के बीच का सम्बन्ध पहले ही जैसा सीधा था।

कृषि-अवस्था

(Agricultural Stage)

अभी तक मानव जीवन अत्यन्त ही अनिश्चित था। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य बराबर घूमता-फिरता रहता था। फिर भी उसे नियमित रूप से भोजन, वस्त्र आदि की सामग्री प्राप्त न हो पाती थी। धीरे-धीरे उसे कृषि कला का बोध हुआ जिसके द्वारा प्रकृति उसके लिए प्रचुर मात्रा में भोजन की सामग्री प्रदान करने लगी। अब कृषि लोगों

का मुख्य उद्योग बन गई। इसलिए इस अवस्था को कृषि अवस्था कहा जाता है।

कृषि द्वारा लोगों को कई प्रकार की खाद्य सामग्री उपलब्ध होने लगी। मनुष्य की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हुई और इस तरह आर्थिक उन्नति का मार्ग खुला। कृषि की देख भाल के लिए मनुष्य का एक स्थान पर बसना आवश्यक था। लोग अपने खेतों के आस-पास घर बना कर रहने लगे। फलस्वरूप भ्रमणकारी अवस्था में शिथिलता आने लगी और ग्राम निर्माण का काम प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे जन-संख्या भी बढ़ने लगी।

कृषि-अवस्था में दासता की प्रथा और भी मजबूत बन गई। खेती-बाड़ी का काम आसानी से दासों को सौंपा जा सकता था। इसलिए व्यक्ति दासों को अमूल्य सम्पत्ति मानने लगे। इसके अतिरिक्त भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का भी चलन प्रारम्भ होने लगा। जो जिस भूमि पर खेती करता उस पर अपना विशेष अधिकार रखने लगा। अस्तु भूमि लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन गई।

इस काल में प्रत्येक ग्राम पूर्णतया स्वावलम्बी था। उसके निवासी अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मिलजुल कर स्वयं जुटाते थे। मामूली तौर से श्रम विभाजन प्रारम्भ हुआ और साथ ही साथ वस्तुओं का विनिमय भी। अब इस अवस्था में आकर आवश्यकता उद्योग तथा तृप्ति के बीच कुछ अंशों में परोक्ष सम्बन्ध स्थापित होने लगा।

हस्तकला अवस्था
(Handicraft Stage)

अभी तक मनुष्य प्रकृतिदत्त तथा खेत में उपजाई हुई वस्तुओं पर ही निर्भर था। क्रमशः बुद्धि के विकास के साथ उसे हाथ से साधारण चीजें बनाने की कला ज्ञात हुई। अब लोग कृषि के अतिरिक्त गृह शिल्प अथवा घरेलू उद्योग धंधों का काम करने लगे। धीरे धीरे लोग अलग अलग वस्तुओं के बनाने में दक्षता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। फल-

स्वरूप श्रम विभाजन ने जोर पकडा। कोई बढई का काम करने लगा कोई कुम्हार बन बैठा कोई कपडा बुनने लगा और इस तरह लोग भिन्न भिन्न वस्तुओ के बनाने म अथवा उद्योग धधो म लग गये। ये लोग कारीगर अथवा कलाकार के नाम से पुकारे जाते थे। इस काल म अधिकतर काम मनुष्य अपने हाथो से ही करता था। मशीनो का प्रयोग अभी प्रारम्भ न हुआ था। इसलिए इस युग को हस्त-कला युग कहते है।

विशिष्टीकरण अथवा श्रमविभाजन के लिए वस्तुओ का विनिमय आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति अपना कुल समय किसी एक वस्तु के बनाने म लगा देगा तो उसे अपनी अन्य आवश्यकताओ की तृप्ति के लिए अपनी वस्तु को दूसरो की बनाई वस्तुओ से अवश्य विनिमय करना पडेगा। नहीं तो वह किस प्रकार अपनी भिन्न भिन्न आवश्यकताओ की तृप्ति कर सकेगा। इसलिए कुम्हार अपने बरतनो को जुलाहे के कपडो से किसान अपने अनाज को लोहार के औजारो से अदल बदल करने लगे। इस तरह वस्तुओ का पारस्परिक विनिमय (barter) प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर वस्तुओ के पारस्परिक अदल-बदल म अनेक कठिनाइया आने लगी। जो वस्तु एक के पास अधिक होती उसके लेने वाले हर समय हर स्थान पर नहीं मिलते। और प्राय जिस वस्तु की आवश्यकता होती वे उस मनुष्य की आवश्यकता की सभी वस्तुए नहीं दे पाते। इस तरह सीधे तौर से वस्तुओ के अदल-बदल या विनिमय म बहुत असुविधा होती थी। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए लोग ऐसी वस्तु की खोज करने लगे जिसे सभी विनिमय करते समय बिना किसी हिचक के स्वीकार कर ले। भिन्न भिन्न स्थान और समय पर भिन्न भिन्न वस्तुए विनिमय का माध्यम बनाई गई। अब चीजो का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से न होकर इन वस्तुओ के माध्यम से किया जाने लगा। ऐसी वस्तु को जो विनिमय के माध्यम का काम करती है द्रव्य या मुद्रा (money) कहते है। धीरे धीरे द्रव्य ने वस्तुओ के पारस्परिक अदल बदल का स्थान ले लिया। इसके कारण व्यापार म काफी उन्नति हुई। द्रव्य का चलन इस काल की एक मुख्य विशेषता है।

पहले तो कारीगर स्वतन्त्र रूप से काम करते थे, किसी की अधीनता मे नही। वे अपने-अपने औजार रखते थे और अपनी ही पूँजी से कच्चा माल आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदते थे। जो वस्तु तैयार होती थी, उसके बेचने का प्रबन्ध स्वयं करते थे और उसके बेचने से जो कुछ मिलता, वह सब उनका ही होता था। इस अवस्था में उत्पत्ति छोटे पैमाने पर की जाती थी। कारीगर उत्पत्ति के कार्य में अधिकतर अपने कुटुम्बियों से ही सहायता लेते थे। क्रमश उद्योग-धन्धों में उन्नति होने लगी। वस्तुओं की माग का क्षेत्र बढता गया। वस्तुओं के बनाने मे अब अधिक पूजी की आवश्यकता पडने लगी। फलस्वरूप अधिक पूजी वाले व्यापारी कारीगरों को मजदूरी देकर अपना माल तैयार करवाने लगे। इसके कारण कारीगरों की स्वतन्त्रता कुछ अशो तक जाती रही। अब उन्हें निश्चित समय पर माल तैयार करके व्यापारी-पूजीपतियो को देना पडता था, जिसके बदले उन्हें मजदूरी मिलती थी। उत्पत्ति की इस प्रथा को पारिवारिक प्रणाली (Domestic System) कहा जाता है।

औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ नगरों का बसना आवश्यक था। कारीगर उन स्थानों पर बसने लगे, जहा काम के लिए कच्चा माल मिलता, और तैयार माल के बेचने में सुविधा होती। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन जटिल होता गया और पारस्परिक सम्बन्ध बढता गया, लोगों को एक दूसरे के निकट रहने में अधिक सुविधा होने लगी। इस तरह प्रमुख सडकों पर, नदी तथा समुद्र के किनारे नगरों या शहरों का बनना शुरू हुआ। यह इस काल की दूसरी एक विशेषता है।

अब आवश्यकता, प्रयत्न तथा तृप्ति के बीच पहले की तरह सीधा सम्बन्ध न रहा। एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी वस्तुए स्वय उत्पन्न न करता था। वह किसी एक वस्तु के बनाने में लग जाता था, जिसके विनिमय द्वारा अन्य इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करता था। दूसरे शब्दों में, अब आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए विनिमय का सहारा लेना

वर्तमान औद्योगिक काल
(Present Industrial Stage)

मानव-समाज आगे बढ़ता गया। अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य बराबर प्रयत्नशील रहा। आविष्कार करने वाली शक्ति से मनुष्य को इस ओर बढ़ने की सहायता मिली। अठारहवीं शताब्दी के दौरान में और उसके बाद अनेक आश्चर्यजनक आविष्कार हुए, जैसे जेम्सवाट का 'स्टीमइंजिन' जानके का 'फ्लाइंग शटल' हारग्रीव्ज का 'स्पिनिंग जेनी', कार्टराइट का 'पावर लूम' आदि। इन और दूसरे अनेक आविष्कारों के कारण उत्पत्ति व्यापार, यातायात, द्रव्य बैंकिंग आदि सभी क्षेत्रों में महान परिवर्तन हुए, जिसके फलस्वरूप आर्थिक जगत का सारा रूप और ढांचा ही बदल गया। ये परिवर्तन इतने व्यापक और क्रांतिकारी थे कि इन्हें 'औद्योगिक क्रांति' (Industrial Revolution) का नाम दिया जाता है। इस क्रांति के साथ मनुष्य वर्तमान औद्योगिक काल में पैर रखता है। आर्थिक विकास का यह सबसे नया युग है।

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता श्रम विभाजन (division of labour) है। श्रम विभाजन वर्तमान युग की देन तो नहीं है लेकिन पहिले की अपेक्षा यह बहुत बढ़ गया है, बारीक और जटिल हो गया है। अब आम तौर से कोई व्यक्ति किसी वस्तु को आदि से अन्त तक नहीं तैयार करता। एक ही काम के अब अनेक छोटे छोटे भाग कर दिये जाते है, जिन्हे भिन्न-भिन्न व्यक्ति या व्यक्ति-समूह करते है। वर्तमान काल मे श्रम-विभाजन इस सीमा को पहुँच चुका है कि शायद थोड़े से ही व्यक्ति ऐसे होंगे जो यह कह सकते हो कि "मैंने स्वयं इस चीज को बनाया है।"

श्रम-विभाजन के फलस्वरूप व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों प्रकार के स्वावलम्बन का करीब-करीब अन्त हो चुका है। आधुनिक काल में लोग अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं तैयार नहीं करते। अपनी विभिन्न

आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए वे एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यही हाल अब संसार के भिन्न-भिन्न देशों का भी है।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था की एक दूसरी विशेषता बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग है। हस्तकला का स्थान अब मशीनों ने ले लिया है। धनोत्पादन का अधिकतर कार्य अब विशाल कारखानों में होता है जहां हजारों मज-दूर एक साथ काम करते हैं। इन कारखानों में भाप, बिजली आदि शक्तियों से चलने वाली मशीनों से काम लिया जाता है। मशीन के उपयोग से मनुष्य की शक्ति बहुत बढ़ गई है। अनेकानेक नई चीजें सस्ते दामों में मिलने लगी हैं। बहुत सी चीजें जो पहिले केवल कुछ धनी मनुष्यों के पहुंच के भीतर थीं, अब साधारण व्यक्तियों के पहुँच के भीतर आ गई हैं।

श्रम-विभाजन और मशीन के परस्पर प्रभाव से उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने लगी है। वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की यह एक और मुख्य विशेषता है। आमतौर से अब वस्तुएं बड़े पैमाने पर बाजार में बिक्री के लिए तैयार की जाती हैं। पहिले की अपेक्षा अब मंडी का क्षेत्र बहुत फैल गया है। बहुत सी वस्तुओं का बाजार किसी एक शहर या एक राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु संसार-व्यापी है। बाजारों के विस्तृत करने में यातायात के साधनों में उन्नति, साख और द्रव्य के चलन तथा बेंकिंग कारोबार का बहुत बड़ा हाथ रहा है। वर्तमान आर्थिक जगत में द्रव्य का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। विनिमय का कार्य इसी के माध्यम द्वारा होता है और यही मूल्यों का मान और ऋण के लेन-देन का साधन है। द्रव्य के चलन से आर्थिक व्यवहार में बहुत सुविधा हो गई है। विनिमय और हिसाब आदि रखने में जो पहिले कठिनाइयां होती थीं, वे अब दूर हो गई हैं।

बाजार के विस्तृत होने से उत्पादन-क्षेत्र में खतरे (risk) का अंश बहुत बढ़ गया है। उत्पादक बाजार में बेचने के लिए वस्तुएँ तैयार करते हैं। वे इस बात का अनुमान लगाते हैं कि अमुक वस्तु की भविष्य में कितनी मांग होगी और इसी के आधार पर उत्पत्ति का कार्य चलता है। लेकिन अब पहले की तरह मंडी सीमित नहीं है, और न ही बेचने-खरीदने

वालों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध रह गया है। इसलिए उत्पत्ति-कार्य में खतरे का अंश आजकल बहुत बढ़ गया है।

बाजार के सम्बन्ध में एक बात और याद रखनी होगी, जिसका आधुनिक काल में विशेष महत्व है। वह यह है कि एक प्रकार से बाजार ही वर्तमान आर्थिक समाज की व्यवस्था का आधार और सचालक है। उत्पादक, व्यापारी, उपभोक्ता आदि सभी की आंख मंडी पर लगी होती है। बाजार के रुख को देखकर ही वे अपना-अपना काम करते हैं और उनकी सफलता बहुत-कुछ इसी बात पर निर्भर रहती है। जब किसी वस्तु का दाम बाजार में बढ़ने लगता है तो उत्पत्तिकर्ता इस बात से यह समझ लेते हैं कि उस वस्तु की बाजार में कमी है और इस कारण उसकी उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाने में उन्हें अधिक लाभ होगा और जब बाजार में दाम गिरने लगते हैं, तो उन्हें यह संकेत मिलता है कि उत्पत्ति की मात्रा कम कर दी जाय। इसी प्रकार उपभोक्ता को भी बाजार-भाव के घटन-बढ़न से अधिक या कम खरीदने का संकेत मिलता है। इस तरह मांग और पूर्ति (supply) के बीच संतुलन स्थापित होता रहता है। किस वस्तु की मात्रा मांग की अपेक्षा कम है या अधिक है, इस बात का पता बाजार-भाव से होता है और उसी के अनुसार मांग और पूर्ति में परिवर्तन लाये जाते हैं ताकि उनके बीच फिर से संतुलन आ जाय। अस्तु, इससे स्पष्ट है कि आजकल के समय में बाजार का कितना महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्तमान आर्थिक समाज की कुछ और विशेषताएं हैं जिनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक जान पड़ता है। एक तो यह कि अब आर्थिक व्यवहार में पुराने रीति-रिवाजों का स्थान उठ-सा गया है। पहले बेचने-खरीदने वालों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता था। वे एक दूसरे को जानते थे और चीजों के भाव आदि तय करने में पुराने रीति-रिवाजों को काफी मानते थे। लेकिन अब लोगों के बीच बहुत परोक्ष सम्बन्ध है और रीति-रिवाजों का स्थान ठेके और प्रतियोगिता ने ले लिया है।

दूसरी बात यह है कि इस अवस्था में आकर मजदूरी पर काम करने वाले कारीगरों का एक नया वर्ग बन गया है जो समय के साथ साथ और बढ़ता जा रहा है। आम तौर से कारीगरों के लिए भारी और कीमती मशीनों को खरीद कर स्वतन्त्र रूप से अपने धन्धों को चलाना सम्भव नहीं है, और न ही कारखानों के सस्ते माल के सामने टिकना उनके लिए आसान है। फलस्वरूप अपने स्वतन्त्र धन्धों को छोड़ कर बहुत-से कारीगरों ने कारखानों में नौकरी कर ली है। वे अपनी आजीविका के लिए मिल-मालिकों पर निर्भर हैं। पहले की तरह अब वे स्वतन्त्र नहीं रहे। इस तरह आज का समाज दो भागों में बट गया है—एक तो पूँजीपति अथवा मिल-मालिक और दूसरे नौकरी करने वाले मजदूर। पहले मालिक और मजदूर में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों के बीच अच्छा सम्बन्ध था और मिलजुल कर साथ ही काम करते थे। इसीलिए मतभेद और झगड़े की गुंजाइश बहुत कम थी। किन्तु अब पहली जैसी बात नहीं रही। मालिक और मजदूर के बीच अब अक्सर किसी न किसी बात पर झगड़े होते रहते हैं, जिसके कारण कभी मजदूर हड़ताल कर बैठते हैं तो कभी मालिक तालाबन्दी की धमकी देते हैं। इन झगड़ों का दुष्परिणाम केवल उन्हें ही नहीं बल्कि सारे समाज को भुगतना पड़ता है।

इन विशेषताओं को देखने से पता चलता है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था पहले से कितनी भिन्न है। इस अवस्था में आकर आवश्यकता और तृप्ति के बीच बहुत ही परोक्ष सम्बन्ध रह गया है। अब मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं स्वयं तैयार नहीं करता। वह तो अब किसी एक काम में करने में लग जाता है, जिसके बदले में उसे रुपया-पैसा मिलता है। इस रुपये-पैसे से वह मंडी में जाकर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को खरीदता है और उनके उपयोग से अपनी तरह-तरह की आवश्यकताओं की तृप्ति करता है।

आर्थिक जीवन के विकास के इस विवेचन से ऐसा मालूम पड़ता है कि

मनुष्य और प्रकृति के बीच एक प्रकार का संघर्ष चलता रहा है जिसमें विजय मनुष्य की हुई है। आदिम मनुष्य प्रकृति के सहारे ही जीवित था। अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए वह पूर्णरूप से प्रकृति पर निर्भर था। उस समय प्रकृति सर्वशक्तिशाली थी और मनुष्य एक दास के समान था। प्रकृति पर काबू पाने के लिए मनुष्य बराबर प्रयत्नशील रहा और धीरे-धीरे उसे सफलता मिलती रही। प्रकृति पर प्रत्येक विजय के साथ, मनुष्य की शक्ति बढ़ती गई। वह आर्थिक विकास की नई-नई सीढ़ियों पर चढ़ता रहा और आज वह समय आ गया है कि प्रकृति मनुष्य का एक प्रकार से खिलौना बन गई है। इसकी अनेक शक्तियों पर विज्ञान की सहायता द्वारा मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है। अब मनुष्य प्रकृति के नीचे नहीं, बल्कि उसके ऊपर है। प्राकृतिक शक्तियों को वह अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए काफी सफलता के साथ उपयोग करता है।

यहां कहने का यह आशय नहीं है कि चूंकि अब प्रकृति पर मनुष्य का आधिपत्य एक तरह से हो गया है, इसलिए वर्तमान अर्थ-व्यवस्था प्रत्येक दृष्टि से सन्तोषजनक है या अब आवश्यकताओं की तृप्ति पूर्ण रूप से हो सकती है। निश्चय ही आर्थिक विकास का वर्तमान रूप पहले से अच्छा है। मनुष्य की उत्पादन-शक्तियों में बहुत वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन अच्छा और अधिक होने लगा है। अनेक नई चीजें सस्ते दामों में मिलने लगी हैं, जिनके उपयोग से मनुष्य का जीवन-स्तर (standard of living) ऊपर उठ गया है। लेकिन जहां एक ओर इस प्रकार की अच्छाइयां दिखाई देती हैं, वहां दूसरी ओर जटिल समस्यायें भी पैदा हो गई हैं, जिनके कारण आजकल बहुत असंतोष और अशान्ति है। लाखों विभिन्न और पृथक् व्यक्तियों के हाथों में होने के कारण उत्पादन अत्यन्त ही अनिश्चित हो गया है। कभी मांग की अपेक्षा उत्पादन बहुत कम रह जाता है, और कभी बहुत अधिक जिसके कारण सारी अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। साथ ही अब उत्पादन का आधार वास्तव में लोगों की आवश्यकतायें नहीं, बल्कि

व्यक्तिगत व निजी लाभ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आराम और विलास की वस्तुओं के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है क्योंकि इनके उत्पादन में लाभ का अंश बहुत होता है। आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता जिससे कारण जन-साधारण को बहुत कठिनाई होती है। यही कारण है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर भी गरीबी और भुखमरी दिखाई देती है। इसके अलावा धन-वितरण में भी बहुत असमानता आ गई है और इसमें बराबर वृद्धि होती चली जा रही है। इसके कारण अनेक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो रही है,जिनका अभी तक कोई सन्तोषजनक हल नहीं हो पाया है। इन तमाम बातों से आवश्यकताओं की पूर्ण तृप्ति में बड़ी बाधा होती है। अस्तु, वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में भी अनेक त्रुटियां और कमजोरियां है, जिनको दूर करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। कई देश समुचित रूप से योजना बना कर आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर करने में संलग्न है।

QUESTIONS

1. Trace the development of economic life through the various stages from the earliest to the modern times, giving briefly the characteristics of each stage of development
2. What do you understand by 'domestic system'? Compare it with the factory system
3. What are the important features of the present economic order? Point out its main defects
4. "The development of economic life is mainly a record of man's struggle against Nature" Explain
5. Bring out the main features of the present economic order. Does it enable us to satisfy our wants fully?

अध्याय ६

कुछ पारिभाषिक शब्द

(Some Fundamental Terms)

विज्ञान म परिभाषा का बहुत ऊंचा स्थान है। परिभाषा का कार्य शब्दो के अथ उनकी विशषता तथा उनके वाय क्षत्र का बोध कराना है जिससे उनके प्रयोग या स्पष्टीकरण म कोई आपत्ति अथवा अडचन न हो। जब तक किसी विज्ञान के विशष शब्दो को उचित रूप स समझ न लिया जाय तब तक उनका बोध ठीक तरह से नही हो सकता। बहुधा यह देखा गया है कि शब्दो को एक ढग से प्रयोग न करन के कारण भ्रम तथा आपस म मतभद हो जाता ह। कभी कभी एक व्यक्ति इस बात का अनुभव करता है कि वाद-विवाद म वह अपन विपक्षी को अच्छी तरह नही समझ पाया अथवा उसका उसका समाधान नही कर सका क्योकि विपक्षी कतिपय शब्दो का विभिन्न अर्थों म व्यवहार कर रहा था। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उन शब्दो को जो एक विज्ञान म विशष रूप मे प्रयोग किए जाते है भली भाति समझ ल।

अथशास्त्र म भी कुछ एसे शब्द ह जिनके उचित अथ जान बिना इस विज्ञान को स्पष्ट रूप से समझना असम्भव है। इसका एक विशष कारण है। प्रतिदिन के साधारण कार्यों के अध्ययन होन के नाते अथशास्त्र में बहुधा आम बोलचाल के ही शब्द प्रयोग किय जाते ह जैसे सम्पत्ति मूल्य आय, पूजी माग उपयोगिता। एसे शब्दो के साधारण अथ या अर्थो से हम भली-भाति परिचित होते ह। पर जब य शब्द अथशास्त्र म प्रयोग होते ह तो प्राय इन्हे एक विशष अथ दे दिया जाता है क्योकि साधारण अथ इतन ढीले-ढाले होते ह कि विज्ञान का काम उचित ढग से नही चल सकता। इसलिए

यह आवश्यक है कि इस विज्ञान के विशद शब्दों को उनके वैज्ञानिक अथवा आर्थिक रूप में जान लिया जाय। एव कुछ आधारभूत शब्दों की विशेषताओं का विश्लेषण नीचे किया जाता है।

उपयोगिता
(Utility)

उपयोगिता वस्तु की आवश्यकता-पूरक शक्ति को कहते है। यदि कोई वस्तु हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति व गुण रखती है, तो हम कहते कि उस वस्तु में उपयोगिता है। दवा दूध किताब, शराब आदि वस्तुओं में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति है। अत उनमें उपयोगिता है।

इस सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह कि अर्थशास्त्र में उपयोगिता शब्द को किसी धार्मिक या नैतिक दृष्टि से प्रयोग नहीं किया जाता और न इसका प्रयोग लाभ या आनन्द के अर्थ में ही होता है। चाहे कोई वस्तु नैतिक दृष्टि से बुरी हो या अच्छी लाभदायक अथवा हानिकारक कड़वी या स्वादिष्ट यदि वह किसी भी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है तो उसमें उपयोगिता अवश्य है। शराब अफीम आदि नशीली वस्तुएं हानिकारक है परन्तु इनमें कुछ मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति होती है। इसलिए ये भी उपयोगितायुक्त वस्तुएं है। किसी वस्तु के उपयोग का क्या परिणाम होगा अथवा वह इच्छा कैसी है जिसकी पूर्ति करने की शक्ति उसमें है इससे कोई प्रयोजन नहीं। उपयोगिता के लिए उस वस्तु का किसी के लिए अभीष्ट होना ही पर्याप्त है।

दूसरी बात यह है कि उपयोगिता मनुष्य की आवश्यकता की तेजी (intensity) पर निर्भर करती है। जितनी अधिक या कम किसी वस्तु की आवश्यकता होगी उतनी ही अधिक या कम उस वस्तु में उपयोगिता होगी। प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ एक सी नहीं होतीं और न हर समय वे वैसी ही बनी रहती है। इसलिए किसी एक वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति

के लिए एक समान नहीं होती। मांसाहारी के लिए मांस उपयोगिता रखता है, पर शाकाहारी के लिए नहीं। जो बहुत सिगरेट पीते हैं, उनके लिए सिगरेट में बहुत उपयोगिता है। कम पीने वालों के लिए कम और जो बिल्कुल ही नहीं पीते, उनके लिये सिगरेट कुछ भी उपयोगिता नहीं रखती। यही नहीं, बल्कि एक ही वस्तु एक ही मनुष्य के लिये अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न उपयोगिता रखती है। जैसे, यदि हमें किसी समय बहुत तेज भूख लगी हो तो उस समय रोटी में हमारे लिए बहुत उपयोगिता होगी। दूसरे समय जब इतनी भूख नहीं है, तो रोटी की उपयोगिता कम होगी और तीसरे समय जब भूख नहीं है, तो रोटी की उपयोगिता उस समय बिल्कुल भी नहीं होगी। अस्तु, किसी एक वस्तु की उपयोगिता अलग-अलग व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न समय और स्थान पर भिन्न-भिन्न हो सकती है।

उपर्युक्त बातों से यह पता चलता है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उस वस्तु की आवश्यकता के साथ जन्म लेती है और आवश्यकता की तृप्ति के साथ दूर हो जाती है। यदि किसी कारण से मनुष्य एक वस्तु की चाह नहीं करता है, तो उस वस्तु की उपयोगिता उसके लिए जाती रहेगी, चाहे उस वस्तु के तमाम के तमाम गुण वैसे ही क्यों न हों। सारांश यह है कि उपयोगिता वस्तु के आंतरिक गुणों (internal qualities) के अर्थ में प्रयोग नहीं की जाती। यह तो केवल वस्तु और उसके उपभोक्ता के बीच का सम्बन्ध बताती है। यह एक बाह्य-गुण (external quality) है, जो आवश्यकता के कारण किसी वस्तु को प्राप्त होता है, चाहे वह वस्तु किसी भी प्रकार की क्यों न हो। आवश्यकता के न होने पर वस्तु का यह गुण छिन जायगा और फलस्वरूप उसकी उपयोगिता जाती रहेगी।

मूल्य
(Value)

वस्तु की विनिमय अथवा क्रय-शक्ति (purchasing power) को 'मूल्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, मूल्य वस्तु की उस शक्ति को कहते हैं जिसके बदले में दूसरी वस्तु या वस्तुएँ मिलती है। जो कुछ एक वस्तु के विनिमय

में प्राप्त होता है, उसे उस वस्तु का 'मूल्य' कहते हैं। जैसे यदि एक सेर गेहूं के बदले में चार सेर चना मिले, तो हम यह कहेंगे कि एक सेर गेहू का मूल्य चार सेर चना है। अस्तु, जितनी अधिक या कम एक वस्तु मे विनिमय-शक्ति होगी, उतना ही अधिक या कम उसका मूल्य होगा।

किसी वस्तु में मूल्य होने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें कुछ उपयोगिता हो। जब तक किसी वस्तु में उपयोगिता न होगी, तब तक कोई व्यक्ति उसके बदले में कुछ भी मूल्य देने के लिये तैयार न होगा। पर इसका यह मतलब नहीं कि यदि किसी वस्तु मे उपयोगिता है, तो मूल्य का होना भी आवश्यक है अथवा जितनी अधिक या कम उसमें उपयोगिता होगी, उतना ही अधिक या कम उस वस्तु का मूल्य होगा। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका मूल्य तो बहुत होता है,पर उनमें उपयोगिता उतनी नहीं होती जैसे—सोना, हीरा आदि। इसके विपरीत कुछ चीजो में उपयोगिता तो होती बहुत है, पर उनका मूल्य कम या नहीं के बराबर होता है, जैसे जल, हवा आदि।

यह बात बहुत अजीब-सी लगती है। किन्तु ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा क्यो कर सम्भव है। मूल्य दो बातो पर निर्भर होता है (१) उपयोगिता और (२) परिमितता (scarcity)। यदि किसी वस्तु में उपयोगिता बहुत है, लेकिन माग की अपेक्षा उसकी मात्रा सीमित नहीं है, तो उसमे कुछ भी नहीं या बहुत कम मूल्य होगा। जैसे पानी में सोने से कही अधिक उपयोगिता है, लेकिन माग की अपेक्षा पानी की पूर्ति या मात्रा (supply) उतनी सीमित नही है जितनी सोने की पूर्ति है। इसलिए पानी का मूल्य सोने से कहीं कम है।

कीमत
(Price)

जब किसी वस्तु का मूल्य द्रव्य या रुपये-पैसे में बतलाया जाता है, तो उसे कीमत या दाम कहते हैं। जैसे यदि किसी पुस्तक का मूल्य द्रव्य में दस रुपया है तो यह कहा जायगा कि उस पुस्तक की कीमत दस रुपया है। वास्तविक जीवन मे विनिमय अधिकतर द्रव्य के माध्यम द्वारा किया जाता

है। इसलिए हम किसी वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओं के रूप मे बतलाने के बदले उसकी कीमत द्रव्य के हिसाब मे बतलाते हैं।

मूल्य और कीमत के सम्बन्ध म एक बात ध्यान देने योग्य है। सब वस्तुओं की कीमते तो एक साथ घट-बढ सकती है, परन्तु उन सबके मूल्य के साथ ऐसी बात नही हो सकती। इसका कारण यह है कि सब वस्तुओ की कीमत दो बातों पर निर्भर रहती है। एक तो उन सब चीजों की कुल मात्रा जिसका विनिमय द्रव्य से होता है और दूसरी द्रव्य की कुल मात्रा जो चलन (circulation) म है। चलन म जो द्रव्य है, उसकी मात्रा मे यदि वृद्धि होती है और अन्य बातो म कोई परिवर्तन नही होता तो आम तौर से चीजों के दाम बढ जायेगे और यदि द्रव्य की मात्रा घटती है तो वस्तुओं के दाम गिर जायेगे। वस्तुओं के दामों मे इस तरह उतार-चढाव बराबर होता रहता है। जैसे आजकल हमारे देश म दामो का स्तर (level) बहुत ऊचा है। परन्तु सब वस्तुओं के मूल्य म एक साथ घट-बढ नही हो सकती, क्योकि मूल्य तो एक अनुपात है। यह वस्तुओं के परस्पर विनिमय की दर है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि गेहू का मूल्य बढ गया है, तो इसका अर्थ यह है कि गेहू के बदले म अधिक वस्तुए प्राप्त की जा सकती है। अर्थात गेहू की तुलना म अन्य वस्तुओ का मूल्य गिर गया है। तभी तो गेहू के बदले अन्य वस्तुए अधिक मात्रा म मिल सकेगी। अस्तु, वस्तुओ का मूल्य एक साथ घट-बढ नही सकता उनकी कीमते अवश्य एक साथ घट-बढ सकती है।

वस्तु
(Goods)

वस्तु उन सब चीजो को कहते है, चाहे वे भौतिक हो या अभौतिक, जिनमें उपयोगिता होती है, अर्थात जिनमें इच्छा-पूर्ति करने की शक्ति होती है। पुस्तक, मेज, कुर्सी, साइकिल, भोजन, प्रेम, दया आदि चीजो मे हमारी किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति है। अस्तु, ये सभी वस्तुए है।

वस्तु के कई भेद हो सकते हैं। इनमें मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं –

भौतिक और अभौतिक वस्तुएं (Material and Non-material Goods)—जिन वस्तुओं को हम देख-छू सकते है, उन्हें भौतिक वस्तुए (material goods) कहते हैं जैसे भोजन, कुर्सी, पुस्तक, मोटर आदि। अभौतिक वस्तुए (non material goods) उन वस्तुओं को कहते हैं, जिन्हें हम देख-छू नही सकते, जैसे सेवाए, प्रसिद्धि आदि। इनके दो विभाग हैं आन्तरिक (internal) और बाह्य (external)। आंतरिक वस्तुओ में वे सब गुण और शक्तियाँ समावेशित हैं, जो मनुष्य के अन्दर पाई जाती हैं और जिन्हें मनुष्य से अलग नही किया जा सकता, जैसे किसी व्यक्ति की व्यापारिक योग्यता, कला, ज्ञान, काम करने की शक्ति आदि। बाह्य-वस्तुओं के अन्तर्गत वे सब चीजें आती हैं जो मनुष्य के बाहर होती हैं जिनमें दूसरों का सम्बन्ध होता है जैसे मित्रता, व्यवसाय की ख्याति, आदि अन्य लाभप्रद सम्बन्ध।

नैसर्गिक और आर्थिक वस्तुएं (Free and Economic Goods)—कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिनको प्रकृति मनुष्य के उपयोग के लिये प्रचुर मात्रा में प्रदान करती है। इन पर किसी की मिल्कियत व स्वत्व नही होता और न इनको पाने के लिए कोई परिश्रम ही करना पड़ता है। इनकी इतनी प्रचुरता होती है कि जो चाहे बिना किसी उद्योग या कठिनाई के इनका प्रयोग कर सकता है। इनमें उपयोगिता तो बहुत होती है परन्तु प्रचुर मात्रा में विद्यमान होने के कारण साधारणत इनमें मूल्य नही होता, जैसे प्रारम्भिक स्थिति में प्राप्त जगल, पर्वत, नदी, हवा, सूर्यकिरण आदि। इन वस्तुओं को प्रकृति-दत्त अथवा नैसर्गिक वस्तुए (free goods) कहते हैं।

इसके विपरीत जो वस्तुएं परिमित मात्रा में विद्यमान है और मनुष्य के प्रयत्न से प्राप्त होती हैं, जिन पर मनुष्य की मिल्कियत व स्वत्व होता है, उन्हें 'आर्थिक वस्तुए' (economic goods) कहते है, जैसे पुस्तक, मोटर, मकान आदि। आर्थिक वस्तुओ में उपयोगिता और मूल्य दोनो ही

होते है। इनको पाने के लिए हमे कुछ मूल्य देना पड़ता है। चुनने व निर्णय की आवश्यकता अथवा आर्थिक समस्याए इन्ही के कारण पैदा होती है। इसलिए अर्थशास्त्र का सम्बन्ध साधारणत इन्हीं वस्तुओं से रहता है।

इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। एक वस्तु जो किसी स्थान पर प्रकृति-दत्त है, वही दूसरे स्थान या समय पर आर्थिक वस्तु हो सकती है। जैसे जल समुद्र के किनारे प्रकृति-दत्त वस्तु है, पर बड़े-बड़े शहरो मे जब इसे नलो द्वारा लोगो के उपयोग के लिए लाया जाता है, तो यह आर्थिक वस्तु बन जाती है। अस्तु, अमुक वस्तु प्रकृति-दत्त है या आर्थिक, यह समय, स्थान तथा परिस्थितियो पर निर्भर है। इनमे हेर-फेर होने से वस्तुए एक श्रेणी से निकल कर दूसरी श्रेणी मे आ सकती है।

विनिमय-साध्य और अविनिमय साध्य वस्तुए (Transferable and Non-transferable Goods)–विनिमय की दृष्टि से वस्तुए दो तरह की होती है विनिमय-साध्य (transferable) और अविनिमय-साध्य (non-transferable)। बहुत-सी वस्तुए ऐसी होती हैं, जिनका क्रय-विक्रय हो सकता है, जैसे वस्त्र, अन्न, कलम, मकान आदि। इनको विनिमय-साध्य वस्तुए कहते है। जिन वस्तुओ का हम क्रय-विक्रय नही कर सकते, अर्थात् जिनको एक दूसरे के साथ अदल-बदल नही सकते, उन्हे अविनिमय-साध्य वस्तुए कहते है, जैसे गायक का सुरीला स्वर, अध्यापक का ज्ञान, डाक्टर की कुशलता आदि। विनिमय-साध्यता या हस्तान्तरकरण के लिए यह आवश्यक नही है कि वस्तु में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का गुण हो। केवल अधिकार-परिवर्तन का गुण होना ही पर्याप्त है। उदाहरणार्थ मकान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाया जा सकता, पर फिर भी इसे अर्थशास्त्र मे विनिमय-साध्य वस्तु कहते है, क्योंकि इसके अधिकार मे परिवर्तन लाया जा सकता है, मूल्य देकर इसे खरीदा जा सकता है। विनिमय-साध्यता के लिए यही पर्याप्त है।

उपभोग और उत्पादक वस्तुएं (Consumer and Producer Goods)—वस्तुओं का विभाजन एक और दृष्टि से किया जाता है। वह यह कि वस्तु मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में कर सकती हैं, या परोक्ष रूप से। जो वस्तुएं मनुष्य की आवश्यकताओं की सीधे तौर पर पूर्ति करती हैं, उन्हें उपभोग की वस्तुएं (consumer goods) कहते हैं। खाद्य-सामग्री, पुस्तक, साइकिल, वस्त्र आदि वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की सीधे तौर से पूर्ति करता है। अतः ये उपभोग-वस्तुएं हैं। उत्पादक-वस्तुओं (producer goods) से आशय उन वस्तुओं से है जो उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन करने में सहायक होती हैं, जैसे मशीन, कच्चा माल आदि। इनसे मनुष्य की आवश्यकताओं की सीधे तौर से अथवा प्रत्यक्ष रूप से पूर्ति नहीं होती।

धन या सम्पत्ति

(Wealth)

अर्थशास्त्रियों ने 'सम्पत्ति' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। कुछ के अनुसार सम्पत्ति में वे सभी वस्तुएं समावेशित हैं, जिनमें उपयोगिता है, अर्थात् जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। इस दृष्टि से वायु, धूप, दया, मनुष्य की शक्तियां और सेवाएं, नमक, कुर्सी-मेज, कपड़ा, हीरे-जवाहिरात आदि सभी वस्तुएं सम्पत्ति मानी जायगी क्योंकि इन सब में उपयोगिता का गुण है। पर बहुत से अर्थशास्त्री सम्पत्ति की इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे इसे अत्यधिक व्यापक ठहराते हैं। उनके अनुसार वस्तु में उपयोगिता के साथ-साथ परिमाण में परिमितता का भी गुण होना आवश्यक है। अर्थात् सम्पत्ति कहलाने के लिए वस्तु में उपयोगिता होनी चाहिए और साथ ही उसकी मात्रा परिमित या सीमित होनी चाहिए। यदि ये दोनों गुण किसी वस्तु में हैं, तो चाहे वह भौतिक हो या अभौतिक, सम्पत्ति मानी जायगी। पर कुछ अर्थशास्त्री इसे भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि वस्तु में, सम्पत्ति कहलाने के लिए, उपयोगिता और परिमितता

का गुण होना तो आवश्यक है ही पर सम्पत्ति म केवल भौतिक पदार्थों का ही समावेश हो सकता है। अभौतिक वस्तुए सम्पत्ति म शामिल नही की जा सकती। इसके लिए वे यह दलील देते हैं कि अभौतिक वस्तुए भौतिक पदार्थों के केवल गुणस्वरूप है वे उनके अन्दर विद्यमान होते हैं। अस्तु जब भौतिक पदार्थों को धन मान लिया जाता है तो फिर उनके गुणो को अर्थात अभौतिक वस्तुओं को अलग म धन म सम्मिलित करना ठीक न होगा। ऐसा करने मे वही वस्तु कई बार धन म गिन ली जायगी।

इन सब बातो म स्पष्ट है कि अथशास्त्र म धन शब्द का प्रयोग कई ढग से किया जाता है। कही इसका बहुत व्यापक अथ म प्रयोग होता है और कही बहुत सकुचित अथ म। यहा भिन्न भिन्न परिभाषाओ की छान बीन करने के बजाय यह अधिक ठीक होगा कि साधारणत जिस अर्थ म 'धन' शब्द का अथशास्त्र म प्रयोग होता है उसे समझ लिया जाय। प्रसग के अनुसार इसके अथ म अन्तर लाया जा सकता है।

आम तौर से अथशास्त्र म आर्थिक वस्तुओं को ही धन माना जाता है। आर्थिक वस्तुओं म मूल्य होता है उनका क्रय विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि धन म वे सब वस्तुए सम्मिलित है जिनको खरीदा बेचा जा सकता है अथात जिनम मूल्य होता है। अस्तु जिन वस्तुओ म मूल्य नही होता अथवा जिनका क्रय विक्रय नही हो सकता उन्हे धन नही मानते। हवा सूर्य किरण आदि म उपयोगिता तो बहुत है पर साधारणत इनम मूल्य नही होता इनको खरीदा-बेचा नही जाता। इसलिए इन्हे धन न मानेगे। मकान कपडा पुस्तक मोटर आदि वस्तुए विनिमय साध्य है इनम मूल्य है। इसलिए इस प्रकार की सभी वस्तुए सम्पत्ति मानी जायगी।

इसके पहिले कि किसी वस्तु म मूल्य हो और वह सम्पत्ति मानी जा सके उसम निम्नलिखित गुणो का होना आवश्यक है—

उपयोगिता (Utility)—वस्तु म मूल्य होने के लिए और इस प्रकार

सम्पत्ति की गणना में आने के लिए उसमें उपयोगिता का गुण होना परमावश्यक है। यदि किसी वस्तु में उपयोगिता नहीं है, तो कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त न करना चाहेगा, उसके बदले में कोई भी मूल्य देने के लिये तैयार न होगा। दूसरे शब्दों में, उपयोगिता के न होने पर वस्तु में मूल्य नहीं होगा। फलस्वरूप वह वस्तु सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

परिमितता (Scarcity)—सम्पत्ति कहलाने के लिए वस्तु में यह भी गुण होना आवश्यक है कि माग की अपेक्षा उसकी मात्रा कम या सीमित हो। यदि कोई वस्तु अपरिमित मात्रा में है और जो चाहे उसे आसानी से प्राप्त कर सकता है, तो उसे कुछ मूल्य देकर लेने के लिये कौन तैयार होगा। ऐसी वस्तु का क्रय-विक्रय न होगा। उसमें कोई मूल्य न होगा। इस कारण उसे धन न मानेंगे। प्रकृति-दत्त वस्तुओं में उपयोगिता होती है, पर परिमितता का गुण न होने के कारण उनमें मूल्य नहीं होता। इसलिए साधारण तौर से उन्हें धन नहीं मानते।

विनिमय-साध्यता (Transferability)—उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त वस्तु में मूल्य होने के लिए विनिमय-साध्यता या हस्तान्तरकरण का भी गुण होना चाहिए। इन गुणों के न होने पर वस्तु को कोई प्राप्त ही न कर सकेगा। उसका क्रय-विक्रय असम्भव हो जायगा और इस प्रकार उस वस्तु की गिनती धन में न की जा सकेगी। अर्थात् जो वस्तुएं हस्तान्तरित होने वाली नहीं हैं, अविनिमय-साध्य हैं, जिनका अदला-बदला नहीं हो सकता, उन्हें धन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

सक्षेप में, अब हम यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र में सम्पत्ति से आशय उन तमाम वस्तुओं से है, जिनमें उपयोगिता, परिमितता और विनिमय-साध्यता के तीनों गुण होते हैं। यह मालूम करने के लिए कि अमुक वस्तु धन है या नहीं, हमें इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उस वस्तु में ये तीनों गुण हैं, या नहीं। यदि हैं, तो वह अवश्य सम्पत्ति मानी जायगी, अन्यथा नहीं। एक-दो उदाहरणों द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए मनुष्य के आतरिक गुणो, शक्तियो, अथवा योग्यताओं को ही ले लो। मान लो, कोई डाक्टर अपनी योग्यता तथा कुशलता के लिये प्रसिद्ध है। प्रश्न यह है कि क्या उसकी यह योग्यता या शक्ति धन है? निश्चय ही अपनी विशेष योग्यता से वह डाक्टर बहुत सम्पत्ति पैदा कर सकता है। यही नहीं, वह उसके द्वारा ऐसी वस्तुएं तैयार कर सकता है, जो दूसरों के उपयोग में आ सके। इतना होते हुए भी यह गुण स्वत सम्पत्ति नही है। कारण यह अविनिमय-साध्य है। डाक्टर उसे अपने से पृथक करके हस्तान्तरित नहीं कर सकता। जो वस्तुएं धन में समावेश हो सकती हैं, वे सदा मनुष्य के बाहर होती हैं, अन्दर नहीं। अस्तु, मनुष्य की आतरिक शक्तियां, विभूतियां आदि सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

यद्यपि सम्पत्ति में व्यक्तिगत गुणो और शक्तियो की गणना नही की जाती, मनुष्य की वैयक्तिक सेवाओ को सम्पत्ति माना जाता है। डाक्टर, वकील, अध्यापक आदि की सेवाएं धन है। इनमे उपयोगिता और परिमितता के ही गुण नही है, बल्कि ये विनिमय-साध्य भी है। इनका क्रय-विक्रय भी होता है। इसी प्रकार किसी व्यवसाय या फर्म की ख्याति (Goodwill) सम्पत्ति मानी जायगी क्योंकि इसमें उपयोगिता, परिमितता और हस्तान्तरकरण तीनो गुण है। रेगिस्तान मे पडी हुई बालू या समुद्र मे मछलियां सम्पत्ति नही है, क्योंकि वहा उनकी मात्रा सीमित नही है।

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि किसी वस्तु के स्वरूप या गुण द्वारा यह निश्चित नही होता कि वह वस्तु सम्पत्ति है या नही। यह तो परिस्थिति और मनुष्य के मनोभावो पर निर्भर है। हो सकता है कि कोई वस्तु किसी परिस्थिति में सम्पत्ति न हो और वही वस्तु अन्य परिस्थितियो में सम्पत्ति की गणना मे आ जाय। जैसे समुद्र के तट पर पानी सम्पत्ति नही है, लेकिन शहरो में, परिस्थितियो में अन्तर आ जाने से, पानी सम्पत्ति की श्रेणी मे शामिल हो जाता है।

सम्पत्ति का वर्गीकरण
(Classification of Wealth)

सम्पत्ति के कई भाग किये जा सकते हैं, जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति राष्ट्रीय सम्पत्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति। व्यक्तिगत सम्पत्ति में दो तरह की वस्तुएं गिनी जाती हैं-(अ) वे भौतिक और अभौतिक वस्तुएं, जिन पर किसी व्यक्ति का निजी अधिकार या स्वामित्व होता है, जैसे उसका मकान, वस्त्र, जेवर, व्यवसाय की ख्याति आदि। यदि उस व्यक्ति ने कुछ ऋण ले रखा है, तो उसे उसकी कुल सम्पत्ति में से घटा देना चाहिए। तभी उसकी कुल सम्पत्ति का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। (आ) उन भौतिक और अभौतिक वस्तुओं में से उसका हिस्सा जिन पर दूसरों के साथ उस व्यक्ति का साझे का स्वत्व होता है, जैसे सड़कें, पुल, जलवायु, पार्क, न्याय, शिक्षा आदि। इन वस्तुओं को सामाजिक या सामूहिक सम्पत्ति कहते हैं। इन पर किसी एक व्यक्ति का निजी अधिकार नहीं होता। सभी समान रीति से इनका उपयोग कर सकते हैं।

राष्ट्रीय सम्पत्ति में इन वस्तुओं की गणना की जाती है-(१) राष्ट्र के कुल व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा सम्मिलित सामूहिक सम्पत्ति, (२) राष्ट्र की समस्त भौतिक वस्तुएं, (३) वे मुफ्त वस्तुएं जो प्रकृति से देश को प्राप्त हैं, जैसे पहाड़, जंगल, नदियां, जलवायु आदि; (४) राष्ट्र की समस्त अभौतिक वस्तुएं जैसे राष्ट्रीय ख्याति, सुसंगठित अथवा सुव्यवस्थित राष्ट्रीय प्रबन्ध वहां के निवासियों की विद्यालय, आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति से आशय इन दो बातों से है-(क) सब राष्ट्रों की सम्पत्ति का जोड़, और (ख) जिन पर सब का अधिकार होता है, जैसे समुद्र, वैज्ञानिक आविष्कार, आदि।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति का विचार किया जाता है, तो 'सम्पत्ति' शब्द बहुत ही व्यापक रूप में प्रयोग होता है। कुछ वस्तुएं ऐसी हैं, जो राष्ट्रीय सम्पत्ति में

समावेशित है, पर साधारण परिभाषा के अनुसार उन्हें सम्पत्ति में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

अन्य आवश्यक शब्दों की परिभाषा उनके उचित स्थानों पर की जायगी।

QUESTIONS

1 What is meant by the term 'utility'? Discuss it fully

2 Define value and price Show how there cannot be a general rise or fall in value

3 What is wealth? What are its essential features?

4 Are the following wealth or not?
(i) Love of mother for her child, (ii) Surgeon's skill, (iii) Services of a doctor, (iv) Goodwill of a business (v) B A degree, (vi) Money (vii) Fish in the sea Give reasons for your answer

5 What are economic goods? Differentiate them from free goods

6 What is meant by goods? Discuss the various classes of goods, giving appropriate illustrations

अध्याय ७

अर्थशास्त्र के विभाग

(Division of Economics)

अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र के विषय को साधारणतया निम्नलिखित पाच भागो मे विभक्त किया जाता है–(१) उपभोग, (२) उत्पत्ति, (३) विनिमय, (४) वितरण और (५) राजकीय अर्थ-व्यवस्था। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो आर्थिक विषय को इस प्रकार से विभक्त करना ठीक नही है। कारण, ये सब आर्थिक कार्य के रूप अथवा उदाहरण है, जिन्हे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। बहुत सी ऐसी बाते है जो किसी एक भाग मे नही, बल्कि सभी भागो मे सम्बन्धित है। उन्हे किसी एक विभाग मे अलग रख कर अध्ययन करना ठीक न होगा। उदाहरणार्थ ब्याज का विवेचन वितरण-विभाग मे किया जाता है, पर ब्याज का प्रभाव विनिमय और उत्पत्ति पर भी विशेष रूप से पड़ता है। आधुनिक आर्थिक जगत मे तो उत्पत्ति का सारा रूप, ढाचा, उसका परिमाण बहुत कुछ अश तक ब्याज की दर पर निर्भर है। इसी प्रकार मूल्य केवल विनिमय-विभाग का ही अग नही है। यह तो सारे आर्थिक क्षेत्र मे छाया हुआ है। वास्तव मे, आर्थिक समस्या एक प्रकार से केवल मूल्य की समस्या है। अत उपर्युक्त विभागो के विषय को पृथक करना वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नही है। लेकिन अर्थशास्त्र का अध्ययन-विषय इतना विस्तृत है कि बिना इसे कतिपय भागो मे विभक्त किये इसको अच्छी तरह से समझना कठिन है। अस्तु, केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही अर्थशास्त्र-विषय को कई भागो में बाट दिया जाता है।

संक्षेप में, हम यहां यह विचार करेंगे कि इन विभागों का क्या कार्य-क्षेत्र है और साथ ही किस तरह वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

उपभोग
(Consumption)

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन के प्रत्यक्ष प्रयोग को 'उपभोग' कहते हैं। यदि हम किसी वस्तु का प्रयोग अपनी आवश्यकताओं की सीधे तौर से पूर्ति करने के हेतु करते हैं, तो उसे 'उपभोग' कहेंगे। जैसे भोजन करना, पुस्तक पढ़ना, मकान में रहना, तस्वीर देखना आदि। कारखानों में मशीन के प्रयोग को अथवा कोयले के जलाने को 'उपभोग' न कहेंगे क्योंकि इनके द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष अथवा सीधे तौर से नहीं होती। यह तो ठीक है कि कोयले और मशीन के प्रयोग से जो वस्तुएं बनेंगी, उनसे आगे चलकर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, पर कोयले और मशीन का तात्कालिक उद्देश्य किसी व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीधे तौर से तृप्ति करना नहीं है। अतः धन के इस तरह के प्रयोग को 'उपभोग' न मानेंगे।

उपभोग-विभाग के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि आवश्यकताओं की क्या-क्या विशेषताएं हैं, उपभोग के नियम क्या हैं, किस तरह धनोपयोग से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है, इत्यादि।

उत्पत्ति
(Production)

उपयोगिता-वृद्धि को अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' कहते हैं। यह तो सभी को भली भांति विदित है कि मनुष्य कोई नया पदार्थ पैदा नहीं कर सकता। यदि मनुष्य कुछ कर सकता है तो केवल विद्यमान पदार्थों को अपने उद्योग द्वारा अधिक उपयोगी बना सकता है। वस्तुओं के रूप, स्थान, स्वामित्व तथा समय आदि में परिवर्तन करके उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' या 'उत्पादन' का यही अर्थ होता है।

इस विभाग में हम यह अध्ययन करेंगे कि धनोत्पत्ति कैसे होती है, उत्पत्ति के कौन-कौन से साधन हैं, उत्पत्ति के नियम और ढंग क्या हैं, इत्यादि।

विनिमय
(Exchange)

प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी था। वह अपने उपभोग की सभी वस्तुएं स्वयं उत्पन्न करता था। अतएव उस समय विनिमय की कोई आवश्यकता न थी। पर अब हम अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं स्वयं उत्पन्न नहीं करते और न कर सकते हैं। कारण, हमारी आवश्यकताएं बहुत ही बढ़ गई हैं। अब हम अपनी आवश्यकता की तमाम चीजें स्वयं न उत्पन्न करके केवल एक विशेष कार्य में अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार लग जाते हैं। फिर अपने परिश्रम के फलस्वरूप दूसरों से उनकी बनाई हुई चीजों को पाते हैं। इस तरह वस्तुओं की अदल-बदल से आज हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

विनिमय-विभाग में यह विचार किया जाता है कि किस तरह और क्यों कर विनिमय होता है, कैसे वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है, किन-किन संस्थाओं से इस कार्य में सहायता मिलती है, इत्यादि।

वितरण
(Distribution)

आधुनिक काल में उत्पत्ति व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक है। कई व्यक्ति मिलकर एक साथ उत्पत्ति का कार्य करते हैं। कोई अपना परिश्रम लगाता है, कोई अपनी पूंजी, कोई भूमि और इस तरह इन सबके सहयोग से धनोत्पादन होता है। फलस्वरूप जो कुछ भी सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, वह इन सब उत्पत्ति-कर्ताओं की होती है। उसे इनके बीच बांटा जाता है। धन के इस विभाजन को 'वितरण' कहते हैं।

इस विभाग के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल किस प्रकार और किन सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित

होता है, वैसे धन के वितरण में असमानता आ जाती है, उसका क्या परिणाम होता है, आदि ।

राजकीय अर्थ व्यवस्था

(Public Finance)

देश में शांति और सुव्यवस्था रखने के लिए सरकार अनेक कार्य करती है। इनमें से कुछ का सम्बन्ध धन से होता है जिन्हें आर्थिक कार्य कह सकते है। आधुनिक काल में सरकार के आर्थिक काम का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। आर्थिक जीवन में सरकार अब काफी भाग लेती है। परिणामस्वरूप अनेक आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती है, जिनका समझना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थशास्त्र का वह भाग, जिसमें सरकार के आर्थिक प्रयत्नों तथा समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, उसे राजकीय अर्थ-व्यवस्था कहते है। इसका प्रमुख विषय राजस्व है, जिसमें सरकार की आय और व्यय का विवेचन होता है।

विभागो का पारस्परिक सम्बन्ध

(Inter relation of the Divisions)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र का उपर्युक्त भागों में विभाजित करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ये भाग एक-दूसरे से भिन्न अथवा स्वतन्त्र नहीं है। ये भाग केवल अध्ययन की सुविधा के लिये ही किये गए है। इनमें पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसका उल्लेख नीचे किया जाता है।

उपभोग और उत्पत्ति–इन दोनों का परस्पर बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपभोग उत्पत्ति का मूल कारण है। वस्तुओं की उत्पत्ति तभी की जाती है, जब कि उनके उपभोग की इच्छा होती है। यदि उपभोग की इच्छा ही न हो तो उत्पत्ति क्यों की जायगी। कौन-कौन-सी और कितनी कितनी मात्राओं में वस्तुएं उत्पन्न की जायें, यह सब उपभोग पर निर्भर है। अस्तु, स्पष्ट है कि उपभोग के कारण उत्पत्ति की जाती है। पर बिना उत्पत्ति के

उपभोग सम्भव नही। चाहे कितनी ही प्रबल किसी वस्तु की इच्छा क्यो न हो, किन्तु उसकी पूर्ति तभी हो सकती है, जबकि इच्छित वस्तु का उत्पादन किया जा चुका हो। मनुष्य उन्ही वस्तुओ का उपभोग करता है जो उत्पन्न की जा चुकी है। यही नही बल्कि उत्पत्ति उपभोग की मात्रा अथवा सीमा का निर्धारित करती है। उतना ही उपभोग किया जा सकता है, जितनी उत्पत्ति हुई है उससे अधिक नही। इस तरह हम देखते है कि उपभोग और उत्पत्ति म परस्पर कितना निकट सम्बन्ध है। उपभोग की इच्छा से उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति द्वारा उपभोग सम्भव होता है।

विनिमय, उपभोग और उत्पत्ति–हमारी आवश्यकताए बहुत ही बढ गई है। अब यह सम्भव नही कि हम अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति की सभी चीज स्वय अपने प्रयत्न से पैदा कर सके। हम केवल एक या दो चीजो के बनाने मे ही अपना समय और शक्ति लगाते है। इसलिए अपनी अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम दूसरो की बनाई हुई वस्तुओ का प्रयोग कर। यह कार्य विनिमय द्वारा ही सम्भव है। अस्तु वर्तमान काल म उपभोग के लिए विनिमय कितना आवश्यक है, यह बिल्कुल स्पष्ट है। दूसरी ओर विनिमय का आधार उपभोग पर है। यदि मनुष्य किसी वस्तु का उपभोग करना छोड दे या सर्वथा स्वावलम्बी हो जाय, तो विनिमय का प्रश्न ही न उठगा।

उत्पत्ति और विनिमय का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट है। आज-कल उत्पत्ति मण्डी मे क्रय-विक्रय के लिए की जाती है, जहा हर समय विनिमय की आवश्यकता पडती है। उत्पत्ति उस समय पूरी समझी जाती है जबकि उत्पन्न पदार्थ उपभोक्ता के पास तक पहुच जाय। यह कार्य बिना विनिमय की सहायता से नही हो सकता। अस्तु, आधुनिक उत्पत्ति-प्रणाली का विनिमय एक आवश्यक अग है। उत्पत्ति और उपभोग के बीच विनिमय एक तरह से जोड अथवा मिलाने का काम करता है। यह उत्पत्ति की पूर्ति करता है और उपभोग को सरल बनाता है। उत्पत्ति का भी प्रभाव विनिमय पर पडता है। यदि उत्पत्ति न हो तो फिर विनिमय ही किसका होगा।

वितरण तथा अन्य विभाग—आजकल धनोत्पत्ति व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक अथवा सामुदायिक है। कई व्यक्ति मिलकर उत्पत्ति का कार्य करते है। जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह सभी उत्पत्ति के सहायक साधनो की सम्मिलित सम्पत्ति होती है। इसके पहिले कि उस समुदाय या समूह के व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके, यह आवश्यक है कि उत्पन्न पदार्थ या उसके बेचने से जो मूल्य आयें, वह उनके बीच बाटा जाय। जब तक ऐसा न किया जायेगा, तब तक उपभोग सम्भव न हो सकेगा। इस तरह हम देखते है कि आवश्यकताओ की तृप्ति अथवा उपभोग के लिए वितरण कितना आवश्यक है।

वितरण और उत्पत्ति मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वितरण का ढग उचित और निष्पक्ष है, तो उत्पत्ति में वृद्धि होगी। कारण ऐसी दशा मे उत्पत्तिकर्ताओ को सम्पूर्ण शक्ति और मन लगाकर काम करने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा। और अगर वितरण का तरीका बुरा है, तो इसका प्रभाव उत्पत्ति पर उल्टा पड़ेगा। उत्पत्ति घटने लगेगी और इसका फल यह होगा कि लोगो की आर्थिक स्थिति बिगड़ जायेगी। दूसरी ओर, उत्पत्ति का भी प्रभाव वितरण पर काफी पड़ता है। अगर उत्पत्ति न हो तो वितरण भी न होगा। जितनी अधिक या कम उत्पत्ति होगी, उतना ही अधिक या कम वितरण हो सकेगा।

इसी तरह विनिमय और वितरण भी परस्पर सम्बन्धित है। वितरण विनिमय का केवल एक दूसरा नाम है। यदि विनिमय का कार्य न हो तो वितरण का प्रश्न ही न उठेगा। विनिमय के सिद्धान्त पूर्णरूप से वितरण-क्षेत्र मे लागू होते है। विनिमय के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि वस्तुओ का मूल्य कैसे निर्धारित होता है और कैसे कुछ वस्तुओ का मूल्य दूसरो की अपेक्षा कम या अधिक होता है। ठीक इसी तरह का विचार वितरण-विभाग मे भी किया जाता है। अन्तर इतना ही है कि वितरण-विभाग मे हम उत्पादक की सेवाओं की मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी समस्याओ का विवे-

चन करते हैं। जो कुछ उत्पादन होता है, वह उत्पत्ति के साधनों के बीच बांट दिया जाता है। वितरण के इस कार्य में विनिमय के सिद्धांतों से ही सहायता लेनी पड़ती है। यदि विनिमय के सिद्धान्त ठीक हैं तो वितरण-विभाग की समस्याएं उचित रूप से हल की जा सकती हैं, अन्यथा नहीं।

राजकीय अर्थ-व्यवस्था तथा अन्य विभाग—राजकीय अर्थ-व्यवस्था और अन्य विभागों के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आजकल सरकार के आर्थिक उद्योग का क्षेत्र बहुत ही बढ़ गया है। हमारे आर्थिक जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है, जहां पर सरकार की आर्थिक नीति अथवा उसके कार्य का प्रभाव न पड़ता हो। संक्षेप में, हम यहां यह देखेंगे कि किस तरह राजकीय अर्थ-व्यवस्था और अन्य विभाग एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

सर्वप्रथम उपभोग और राजकीय अर्थ-व्यवस्था का ही सम्बन्ध ले लो। प्रत्येक देश की सरकार वहां के धनोपभोग पर काफी रोक-टोक रखती है। कुछ वस्तुओं के सेवन का फल बुरा होता है। उपभोक्ता की शक्ति जाती रहती है और साथ ही समाज में उनके कारण अनेक कुरीतियां फैलने लगती हैं। अतएव सरकार इस प्रकार के उपभोग को या तो बिलकुल बन्द कर देती है, या रोक-टोक लगाती है, जिससे उनका उपभोग स्वतन्त्र रूप से न हो सके। जैसे, नशीली वस्तुएं हर जगह और हर समय नहीं बेची जा सकतीं। सरकार उनके बेचने के स्थान, समय और खरीदार पर बहुत बन्दिशें लगाती है। इसी तरह अन्य वस्तुओं के उपभोग पर भी सरकार काफी प्रभाव डालती है। रोक-टोक का यह कार्य सरकार अधिकतर टैक्स की सहायता से करती है। वस्तुओं पर कर (tax) लगाने से उपभोक्ता को पहले की भांति प्रोत्साहन नहीं मिलता। दूसरी ओर, उपभोग का भी राजकीय अर्थ-व्यवस्था पर काफी असर पड़ता है। सरकार की आय कुछ अंश तक टैक्स लगी हुई वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर होती है। यदि लोग ऐसी वस्तुओं का उपभोग छोड़ दें तो निश्चय ही सरकार की आय में बहुत कमी

आ जायगी। फलस्वरूप सरकार अपने विभिन्न कार्यों को भली भांति न कर सकेगी। बहुधा उपभोग में परिवर्तन के कारण सरकारी बजट में काफी अनिश्चितता आ जाती है।

अब राजकीय अर्थ-व्यवस्था और उत्पत्ति का सम्बन्ध ले लो। उचित रूप से उत्पत्ति होने के लिए देश में शांति और सुव्यवस्था का होना परमावश्यक है। ऐसा न होने पर न तो लोग पूंजी संचय कर सकेंगे और न ही मन लगाकर काम करने को तैयार होंगे। फिर भला किस प्रकार उत्पत्ति का कार्य अच्छी तरह से हो सकेगा। देश में शांति स्थापित करना तथा लोगों की सम्पत्ति और जीवन-रक्षा का कार्य सरकार का ही होता है। इसके अलावा उत्पत्ति बहुत अंश तक यातायात के साधन और सरकारी संरक्षण तथा अन्य आर्थिक नीतियों पर निर्भर रहती है। दूसरी ओर, उत्पत्ति का भी राजकीय अर्थ-व्यवस्था पर काफी असर पड़ता है। सरकार की आय लोगों की आय पर निर्भर है। यदि उत्पत्ति ठीक ढंग से हो रही है, तो वहाँ के निवासी धनी होंगे। फलस्वरूप वहां की सरकार भी धनवान होगी। पर यदि धनोत्पादन कम होता है, तो सरकार की भी आय कम होगी। फिर भला किस प्रकार सरकार देश में शासन और सुधार का कार्य उचित ढंग से कर सकेगी। यही नहीं, सरकार की आर्थिक नीति काफी हद तक देश की उत्पत्ति-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर होती है।

विनिमय और राजकीय अर्थ-व्यवस्था के बीच भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। विनिमय का कार्य उसी समय ठीक तौर से चल सकता है, जबकि सरकार इस ओर काफी देखभाल रखे। जब भी सरकार विनिमय-क्षेत्र में असावधानी से काम लेती है तो समाज के आर्थिक जीवन में उथल-पुथल मच जाती है। इसलिए, कागजी-द्रव्य, केन्द्रीय-बैंक, विदेशी विनिमय आदि क्षेत्रों में सरकारी देख-भाल और नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक है।

इसी तरह वितरण और राजकीय अर्थ-व्यवस्था एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। सरकार वितरण के कार्य में काफी भाग लेती है। साम्यवादी

देश में वितरण का कार्य सरकार स्वयं करती है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे सरकार लोगों की आवश्यकतानुसार बाँट देती है। अन्य देशों में भी सरकार अपनी कर और व्यय-नीति द्वारा वितरण की विषम असमानता को दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न करती है। अमीरों के ऊपर तथा उनके व्यवहार में आने वाली वस्तुएं (उदाहरणार्थ मोटर, रेडियो, रेशम आदि) पर अधिक कर लगा कर सरकार वितरण-समस्या की विषमता को कम करती है। मजदूरों के न्यूनतम वेतन को निर्धारित करके तथा सामाजिक बीमा की प्रथा चलाकर सरकार धन-वितरण पर काफी प्रभाव डालती है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों विभाग एक दूसरे से कितने सम्बन्धित हैं।

अस्तु, जैसा हम पहले कह चुके हैं, अर्थशास्त्र के उपर्युक्त विभाग केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किए गये हैं। इनमें से कोई भी विभाग ऐसा नहीं है जो दूसरों से पृथक् या स्वतन्त्र हो। एक भाग के बिना दूसरे भाग का अध्ययन सदा अपूर्ण ही रहेगा।

QUESTIONS

1. What are the main divisions of Economics? Briefly describe each of them
2. Discuss the inter-relations between the different branches of Economics

(Consumption)

अध्याय ८

उपभोग और उसका महत्त्व

(Consumption and its Importance)

आवश्यकताएँ मनुष्य को सदा घेरे रहती हैं। उनके कारण वह तरह-तरह के कार्य करके धनोपार्जन करता है, और फिर उपार्जित धन के प्रयोग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त होते हैं।

अर्थशास्त्र में धन के ऐसे प्रयोग अथवा सेवन को 'उपभोग' कहते हैं जिससे आवश्यकताओं की पूर्ति सीधे तौर से हो, जिससे उपभोक्ता को प्रत्यक्ष और तात्कालिक तृप्ति और संतोष प्राप्त हो। जब हम किसी वस्तु अथवा सेवा का प्रयोग आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप में तृप्ति करने के लिए करते हैं तो उसे 'उपभोग' कहा जाता है। उदाहरणार्थ जब मोहन खाना खाता है, पानी पीता है, तो उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप से अथवा सीधे तौर से हो जाती है। अतएव हम कहेंगे कि मोहन इन वस्तुओं का उपभोग करता है।

इसी तरह जब हम पुस्तक पढ़ते हैं, तस्वीर देखते हैं, वस्त्र पहिनते हैं अथवा साइकिल पर चढ़ते हैं, तो हमारी आवश्यकताएं इन वस्तुओं के प्रयोग से सीधे तौर से तत्काल तृप्त हो जाती हैं। इसीलिए ये सभी उपभोग के उदाहरण हैं।

उपभोग की परिभाषा देते समय 'सीधे' अथवा 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द उपभोग की परिभाषा में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसको ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। ऐसा न करने से भ्रम में

पड़ जाने की सम्भावना है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए धन को दो तरह से प्रयोग कर सकता है। एक तो प्रत्यक्ष रूप मे, और दूसरे अप्रत्यक्ष रूप मे। जब वह पुस्तक पढता है अथवा भोजन करता है, तो उसकी आवश्यकताओ की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप मे होती है। यहा आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए धन का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप मे किया गया है। धन के केवल इसी तरह के प्रयोग को 'उपभोग' कहते है। दूसरी ओर, जब हम कारखाने मे कच्चे माल का प्रयोग करते है अथवा मशीन चलाने के लिए कोयले या बिजली को प्रयोग मे लाते है, तो हमारी आवश्यकताए सीधे तौर से पूरी नही हो पाती। कारण, यहा धन का प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप में किया गया है। यह सच है कि धन के इस प्रयोग से जो वस्तु तैयार होगी, उससे किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होगी। पर इस प्रकार की पूर्ति और तृप्ति अप्रत्यक्ष रूप से होती है। इसलिए इसे उपभोग न मानगे। वास्तव में जब धन का अप्रत्यक्ष रूप में प्रयोग किया जाता है, तो उसे उपभोग नही कहते बल्कि उत्पत्ति कहते है।

अस्तु, उपभोग धन के उस प्रयोग को कहते है, जिसमे आवश्यकताओ की पूर्ति प्रत्यक्ष या सीधे तौर से होती है।

साधारण बोलचाल मे वस्तु के नष्ट होने को उपभोग कहा जाता है। जब कोयला जलाया जाता है, तो कुछ देर बाद वह जल कर राख हो जाता है। उस समय यह कहा जाता है कि उसका उपभोग हो गया है। इसी तरह जब हम फल खाते है या दूध पीते है, तो यह कहा जाता है कि इन वस्तुओ का उपभोग हो गया है, क्योकि वे नष्ट हो चुकी है। किन्तु प्रश्न यह है कि वह क्या है, जो नष्ट होता है? यह तो सभी जानते है कि पदार्थ नष्ट नही होता उसको नष्ट करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। ऊपर के उदाहरण को ही ले लिया जाय। जब कोयला जलाया जाता है, तो क्या नष्ट होता है? साधारण तौर से ऐसा लगता है कि पदार्थ नष्ट हो गया है, पर वास्तव में ऐसा नही है। केवल कोयले के रूप में परिवर्तन होता है। वह राख, धुआ, आदि

के रूप में बदल जाता है। किन्तु यह बात अवश्य है कि इस रूप में परिवर्तन से कोयले की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। अब हम उससे आग जलाने का काम नहीं ले सकते। अस्तु, आम बोलचाल में जब यह कहा जाता है कि अमुक पदार्थ का उपभोग हुआ है, तो इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि वह पदार्थ नष्ट हो चुका है। कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता, केवल उसकी उपयोगिता ही नष्ट होती है।

इसलिए यदि हम साधारण अर्थ को भी अपनाए, तो भी यहाँ कहा जा सकता है कि उपभोग किसी वस्तु की उपयोगिता के नष्ट होने को ही कहते हैं। पर ध्यान रहे कि उपभोग का आशय केवल उपयोगिता के नष्ट होने से नहीं है। यदि किसी मकान में आग लग जाय, और फलस्वरूप उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाय तो इसे उपभोग न मानेंगे। इसी तरह यदि चाय का सेट हाथ से गिर कर टूट जाय, तो इसे उपभोग न कहेंगे, क्योंकि उसकी उपयोगिता जाती रहेगी। उपभोग तभी माना जायगा, जब वस्तु के प्रयोग से किसी मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति हो और उसे तृप्ति तथा सतोष प्राप्त हो।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम उपभोग की परिभाषा इस प्रकार भी कर सकते हैं प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की तृप्ति करने में वस्तु की उपयोगिता के नष्ट होने को 'उपभोग' कहते हैं।

यह देखने में आता है कि कुछ वस्तुओं का उपभोग शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और कुछ का देर तक चलता रहता है। जब हम भोजन करते हैं, सिगरेट पीते हैं अथवा कोयला जलाते हैं तो इन सब की उपयोगिता और प्रयोग दोनों ही शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर जब हम मोटर, मकान आदि का प्रयोग करते हैं, तो उनका उपभोग बहुत समय तक चलता है। ये वस्तुए अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं। पर चाहे किसी वस्तु का उपयोग देर तक चलता रहे या शीघ्र ही समाप्त हो जाय, इससे उपभोग की परिभाषा में कोई अन्तर नहीं पडता।

अन्तिम और उत्पादक उपभोग
(Final and Productive Consumption)

कई अर्थशास्त्री उपभोग को दो भागो मे विभाजित करते है (१) अन्तिम उपभोग (Final Consumption) और (२) उत्पादक उपभोग (Productive Consumption)। जब किसी वस्तु का उपभोग प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता की तृप्ति के लिए किया जाता है, तो उसे 'अन्तिम उपभोग' कहते है। जैसे जब कोई व्यक्ति भूख मिटाने के लिए रोटी खाता है, प्यास बुझाने के लिए पानी पीता है, तो उसकी आवश्यकताओ की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप से हो जाती है। अत वस्तुओ के इस प्रकार के उपभोग को 'अन्तिम उपभोग' कहेगे।

दूसरी ओर, बहुत-सी वस्तुओ का उपभोग अन्य वस्तुओ के बनाने के लिए किया जाता है। जैसे कपड़ा तैयार करने के लिए सूत और मशीनो का उपभोग। इस प्रकार के उपभोग को 'उत्पादक उपभोग' कहते है। इस उपभोग मे किसी आवश्यकता की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप से नही होती। इसलिए यथार्थ मे, 'अन्तिम उपभोग' को ही उपभोग मानना चाहिए। 'उत्पादक उपभोग' तो उत्पत्ति का एक अग है। यह अन्तिम उपभोग का एक साधन मात्र है। अस्तु अन्तिम उपभोग को ही उपभोग मानना उचित होगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का भी यही मत है।

उपभोग-विभाग के अन्तर्गत यह विचार किया जायगा कि किस प्रकार आवश्यकता की पूर्ति के लिए सीमित साधनो को प्रयोग मे लाया जाता है, कैसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकती है, माग और मूल्य किस तरह एक दूसरे से प्रभावित होते है, उपयोगिता और माग सम्बन्धी नियम क्या है ?

उपभोग का महत्त्व
(Importance of Consumption)

अर्थशास्त्र मे उपभोग का अपना खास महत्व है। वास्तव मे एक तरह से उपभोग पर ही अर्थशास्त्र का सारा आधार और महत्व निर्भर है। अर्थशास्त्र का आदि और अन्त उपभोग मे ही है।

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएं होती हैं। उनकी पूर्ति और तृप्ति के लिए वह उद्योग करता है। यदि उसे आवश्यकताएं न सताए, तो वह काम न करेगा और फिर उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही न उठेगा। अस्तु, उपभोग ही आर्थिक उद्योग का प्रारम्भ और मूल कारण है। इसी के लिए उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार उपभोग अर्थशास्त्र का आदि या आधार कहा जा सकता है।

साथ ही जो कुछ उत्पन्न किया जाता है, वह अन्त में उपभोग के ही काम आता है। उपभोग के कारण और उसी के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन होता है। उत्पादित वस्तुओं का विनिमय, वितरण आदि सब इसीलिए किया जाता है कि उनका उपभोग हो, जिससे आवश्यकताओं की तृप्ति हो सके। इस प्रकार आर्थिक उद्योग अर्थात् अर्थशास्त्र का, आदि और अन्त उपभोग में ही निहित है।

प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति, कार्य-क्षमता और योग्यता काफी अंश तक उसके उपभोग पर निर्भर होती है। यदि उसके उपभोग का ढंग अच्छा है, तो निश्चय ही उसकी शक्ति और योग्यता बढ़ेगी। वह अधिक धनोत्पत्ति कर सकेगा और उसका जीवन-स्तर ऊंचा होगा। फलस्वरूप उसकी सुख-समृद्धि में वृद्धि होगी। और चूंकि समाज की शक्ति और क्षमता व्यक्तियों पर निर्भर होती है, इसलिए कहा जा सकता है कि समाज की क्षमता-शक्ति, सुख-समृद्धि बहुत कुछ उपभोग पर ही निर्भर है। इसके विपरीत यदि उपभोग का ढंग अनुचित अथवा गिरा हुआ है तो उसका परिणाम व्यक्ति और समाज पर उल्टा पड़ेगा। उसकी कार्य-कुशलता, शक्ति और योग्यता गिरेगी। वह निर्बल, दुःखी और गरीब हो जायगा। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपभोग के महत्त्व को समझना, उसके नियमों को जानना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना उपभोक्ता अपने अधिकतम तृप्ति के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकेगा।

उत्पादक, व्यापारी आदि के लिए उपभोग का अध्ययन और भी

अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। उनकी सफलता बहुत कुछ अंश तक उपभोग सम्बन्धी बातों के समझने पर निर्भर है। यह तो सभी जानते हैं कि उत्पत्ति उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं पर आश्रित है। उपभोग के कारण और उसी के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। इसलिए उत्पादक को उपभोग का पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। उसके लिए इस की जानकारी आवश्यक है कि उपभोक्ताओं को किस वस्तु की, कब, कहा और कितनी आवश्यकता है। यदि उत्पादक माग का ठीक-ठीक अनुमान कर सका है, तो उसे लाभ होगा और साथ ही समाज को भी। किन्तु यदि उसका अनुमान गलत निकला, तो उसे हानि होगी और आगे चल कर इसका बुरा प्रभाव सारे समाज पर पडेगा। व्यापारिक तेजी-मदी का, जिससे समस्त ससार मे गडबडी और हलचल मच जाती है, मुख्य कारण यह है कि उत्पादक इस बात का ठीक निर्णय नही कर पाते कि कौन-सी वस्तु कब और कितनी मात्रा मे बनानी चाहिए। फल यह होता है कि उत्पत्ति या तो आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है, या बहुत कम। इससे बहुत गडबडी मच जाती है। इसीलिए उत्पादक, व्यापारी आदि के लिए उपभोग सम्बन्धी बातों का भली भाति समझना बहुत जरूरी है।

समाज की दृष्टि से भी उपभोग का विषय बहुत महत्व रखता है। प्रत्येक समाज की शक्ति, धन-धान्य, सुख-समृद्धि बहुत-कुछ अश तक उपभोग पर ही निर्भर रहती है। उचित वस्तुओं के उपभोग से समाज की उत्पादक और औद्योगिक शक्तिया निरतर बढती हैं और सभी आर्थिक विकास और प्रगति सभव है। अनुचित उपभोग होने से समाज की उत्पादक शक्तिया क्षीण हो जाती है और साथ ही अनेक जटिल समस्याए आ खडी होती है। ऐसी दशा म वह समाज किसी भी दिशा में उन्नति नही कर सकता। अत सामाजिक उन्नति और कल्याण के लिए उपभोग की समस्याओं का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

ऊपर के वर्णन से पता चलता है कि अर्थशास्त्र मे उपभोग का क्या

और कितना महत्व है। उपभोग के लिए ही वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं और उसी के निमित्त वस्तुओं का वितरण और विनिमय होता है। इस प्रकार आर्थिक विकास तथा प्रगति का मूल कारण और लक्ष्य उपभोग ही है। यही सब बातो का आदि और अन्त है। अर्थशास्त्र का सारा दारोमदार इसी पर अवलम्बित है।

अगले अध्यायो में उपभोग-सम्बन्धी मुख्य बातो का विवेचन किया जायगा।

QUESTIONS

1. Define and explain the meaning of Consumption as clearly as possible
2. What do you understand by 'Productive Consumption' and 'Final Consumption'? Do you think that productive consumption should be treated as consumption?
3. "Consumption is the beginning and the end of all economic activities" Explain fully
4. Bring out the importance of the study of Consumption both from the individual and the social points of view

अध्याय १

आवश्यकताएँ

(Wants)

मनुष्य अपने साधारण जीवन में किसी न किसी आवश्यकता (want) का, तृप्ति के अभाव का, अनुभव करता है। उसकी पूर्ति के लिए वह इच्छित वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, और फिर उपभोग से उस आवश्यकता अथवा अभाव की पूर्ति करता है। इससे उसे तृप्ति और संतोष प्राप्त होता है। आवश्यकताओं और उनकी तृप्ति के लिए वस्तुओं के उपभोग का क्रम जीवन भर चलता रहता है। मनुष्य और समाज की उन्नति, प्रगति सुख-समृद्धि इसी पर निर्भर है। अस्तु, मानव-जीवन में आवश्यकताओं और उनकी तृप्ति का विशेष महत्व है। चूंकि अर्थशास्त्र मानव-जीवन के अध्ययन का एक अंग है, इसलिए अर्थशास्त्र भर में आवश्यकता का आभास और उसकी महत्ता व्याप्त है। आवश्यकताओं के लिए ही आर्थिक उद्योग किये जाते हैं। आर्थिक उद्योग के जितने भी रूप और प्रकार हैं, उन सबका मूल कारण और अन्तिम उद्देश्य आवश्यकताएं ही हैं। धन की उत्पत्ति, उसका विनिमय, वितरण और उपभोग सब आवश्यकताओं के लिए ही किया जाता है।

आवश्यकता का अर्थ

(Meaning of Want)

इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि अर्थशास्त्र में 'आवश्यकता' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है। आम बोल-चाल में तो 'इच्छा', 'चाह', और 'आवश्यकता' सब एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ये

एक दूसरे के पर्याय समझे जाते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र मे 'आवश्यकता' शब्द को एक विशेष अर्थ दिया जाता है, जो 'चाह' और 'इच्छा' के अर्थ से भिन्न है। अर्थशास्त्र मे 'आवश्यकता' तृप्ति के ऐसे अभाव के अनुभव को कहते है, जो मनुष्य को उद्योग तथा कुछ त्याग करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे तृप्ति की वह कमी पूरी हो जाय। दूसरे शब्दो मे, आवश्यकता मनुष्य मे किसी वस्तु की कमी का संकेत करती है, जिससे उस मनुष्य को एक प्रकार का कष्ट अनुभव होता है। फलस्वरूप वह इच्छित वस्तु को पाने के लिए उद्योग करता है, जिससे उस कमी की पूर्ति हो और उसे तृप्ति और सतोष प्राप्त हो। अस्तु, अर्थशास्त्र मे 'आवश्यकता' शब्द तृप्ति की कमी का भाव प्रदर्शित करता है, तृप्ति का अभाव जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य उद्योग करता है। 'इच्छा' और 'चाह' का साधारणत यह अर्थ नही होता। उनसे तो केवल किसी वस्तु की कामना ही व्यक्त होती है। इसलिए अर्थशास्त्र मे दोनो के अर्थ भिन्न है। 'आवश्यकता' शब्द 'इच्छा' से भिन्न भाव प्रदर्शित करता है।

आवश्यकता और उद्योग
(Want and Effort)

आवश्यकता और उद्योग का परस्पर सम्बन्ध किसी से छिपा नही है। आवश्यकता उद्योग का मूल कारण है। मनुष्य कार्य इसलिए करता है जिससे उसकी आवश्यकताओ की तृप्ति हो। यदि आवश्यकताएं उसे न सताए तो वह किसी प्रकार का काम न करना चाहेगा। उस दशा मे ससार का सब काम बन्द हो जायेगा; फिर क्यो किसान कडी धूप मे और वर्षा में काम करेगे, या मजदूर बडे-बडे कारखानो मे अपना पसीना बहायेगे। अस्तु, इसमे सन्देह नही कि ससार में जितने भी काम होते है, वे सब आवश्यकताओ के ही कारण किये जाते है। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताए बढती जाती है, वैसे-वैसे उनकी तृप्ति के लिये नये-नये उद्योग किये जाते है। चूंकि आवश्यकताओं का कोई अन्त नही, इस कारण उन प्रयत्नो का भी कोई अन्त नही, जो उनकी तृप्ति के लिए किये जाते है।

प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता और उद्योग के बीच ऐसा ही सम्बन्ध होता है। आवश्यकता के कारण मनुष्य को उद्योग करना पड़ता है। किन्तु जब मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे कदम बढ़ाता है, तो उद्योग द्वारा भी नई-नई आवश्यकताएं उत्पन्न होने लगती हैं। जब मनुष्य प्रयत्न करता है, तो केवल आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं होती, बल्कि उसके द्वारा कई नई आवश्यकताएं भी पैदा हो जाती हैं। इतिहास में इस तरह के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि आवश्यकता से ही उद्योग का जन्म नहीं होता, बल्कि आगे चलकर उद्योग के कारण भी नई आवश्यकताओं की सृष्टि होती है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड के इतिहास पर ही दृष्टि डालिए। आज से करीब २०० वर्ष पहले इंग्लैंड में कई नई मशीनों का आविष्कार हुआ, जिनसे उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने लगी। जब मशीन द्वारा उत्पत्ति की मात्रा अधिक बढ़ी तो इस बात की आवश्यकता हुई कि माल को दूर-दूर के देशों में भेजा जाय, जिससे माल की खपत बढ़े। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अच्छे और सस्ते यातायात के साधनों की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप पक्की सड़कें और नहरें बनाई गई। किन्तु जब इससे भी काम न चल सका, तो रेल का आविष्कार हुआ। अब माल आसानी और शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने लगा। इसी तरह जब व्यापार और उद्योग-धन्धों में वृद्धि हुई तो दूर-दूर स्थानों से व्यापार-सम्बन्धी समाचार मंगाने और भेजने की आवश्यकता पड़ी। परिणाम-स्वरूप तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो आदि का आविष्कार हुआ।

यह क्रम बराबर चलता रहता है। आवश्यकताओं के कारण मनुष्य काम करता है और उद्योग के फलस्वरूप अनेक नई आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं। ये एक दूसरे के जन्म के कारण हैं। मानव-समाज की प्रगति और उन्नति बहुत-कुछ इसी पर निर्भर करती है।

आवश्यकताओं की विशेषताएं
(Characteristics of Wants)

वैसे तो सभी की कुछ न कुछ आवश्यकताएं होती हैं, किन्तु सबकी

आवश्यकताएँ एक-सी नहीं होतीं। भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएं होती हैं। पूर्वजों की और हमारी आवश्यकताओं में जमीन-आसमान का अन्तर है। इसी तरह इग्लैंड अथवा अमरीका वालों की आवश्यकताएं भारतवासियों की आवश्यकताओं से काफी भिन्न हैं। इसका एक मुख्य कारण है। आवश्यकताएं आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था तथा मनुष्य के स्वभाव, चरित्र आदि बातों पर निर्भर होती हैं। ये सब बातें हर समय और हर स्थान पर एक समान नहीं होतीं। इस कारण आवश्यकताओं में बहुत भिन्नता पाई जाती है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आवश्यकताओं की संख्या, तीव्रता, भिन्नता आदि में अन्तर पड़ता रहता है। फिर भी इनमें कुछ विशेषताएं, लक्षण या गुण (characteristics) पाये जाते हैं। इन विशेषताओं का बहुत महत्व है। अर्थशास्त्र के कई नियम इन्हीं विशेषताओं पर निर्भर हैं। संक्षेप में, अब आवश्यकताओं की मुख्य विशेषताओं और उन पर जो नियम स्थापित हैं, उनका वर्णन करेंगे।

(१) आवश्यकताएं असंख्य हैं—मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं। वे अपरिमित हैं। जीवन में कभी भी ऐसा अवसर नहीं आता, जब हम यह कह सकें कि अब हमारी कोई भी आवश्यकता तृप्ति के लिए बाकी नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु तक आवश्यकताएं हमें घेरे रहती हैं। एक ओर तो हम उनकी पूर्ति करते जाते हैं और दूसरी ओर वे और भी बढ़ती जाती हैं। ज्यों ही किसी एक आवश्यकता की तृप्ति होती है, त्यों ही दूसरी उसके स्थान पर आ खड़ी होती है। इसलिए हर तरह प्रयत्न करने पर भी मनुष्य अपनी कुल आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं कर पाता। मनुष्य और समाज की उन्नति आवश्यकता की इस विशेषता पर निर्भर है। जैसे-जैसे नई आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए नए-नए उद्योग करता है, नई-नई बातें सोचता है। प्रगति और उन्नति इसी प्रकार सम्भव हो सकती है।

(२) प्रत्येक आवश्यकता की पूरी तृप्ति हो सकती है—वैसे तो मनुष्य की आवश्यकताएं असख्य हैं और उन सब की पूर्ति सम्भव नहीं है, किन्तु एक आवश्यकता की तृप्ति पूरी तौर से हो सकती है। यदि उसके पास पर्याप्त साधन है तो उसकी एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति खास समय के लिए पूर्ण रूप से की जा सकती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को चाय की आवश्यकता है। यथेष्ठ साधन होने पर वह अपनी इस आवश्यकता को एक खास समय के लिए पूरी तौर से तृप्त कर सकता है। तीन-चार प्याले चाय पीने के बाद उसकी आवश्यकता तृप्त हो जायगी। वह कह उठेगा कि बस अब मैं और अधिक चाय नहीं पी सकता। मेरी यह आवश्यकता पूर्ण रूप से तृप्त हो चुकी है।" इसी प्रकार मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं को भी यथेष्ठ साधन होने पर एक-एक करके किसी विशेष समय में तृप्त किया जा सकता है।

आवश्यकता की इस विशेषता पर सीमान्त उपयोगिता-ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) निर्भर है, जिसके आधार पर कई और नियम स्थापित किए गये हैं।

(३) आवश्यकताएं एक दूसरे की पूरक होती हैं—कुछ आवश्यकताएं एक-दूसरे की पूरक (complementary) होती हैं। वे एक साथ उत्पन्न होती हैं और एक ही साथ उनकी तृप्ति होती है। एक के बिना दूसरी की तृप्ति नहीं की जा सकती, जैसे पैट्रोल के बिना मोटर, स्याही के बिना कलम या घोड़े के बिना टांगा। ये एक दूसरे के परस्पर पूरक हैं। एक की पूर्ति के लिए दूसरे की पूर्ति करना आवश्यक है।

(४) आवश्यकताएं प्रतियोगी (competitive) होती हैं—आवश्यकताओं में परस्पर प्रतियोगिता भी होती है। कारण यह है कि पूर्ति के साधन तो परिमित हैं, पर आवश्यकताओं की कोई गिनती नहीं। फलस्वरूप आवश्यकताओं के बीच घोर संघर्ष और प्रतियोगिता होती है। साधनों के सीमित होने के कारण यदि किसी एक आवश्यकता की तृप्ति की जाने

है, तो अन्य बहुत-सी आवश्यकताएं अतृप्त ही रह जाती हैं। इसलिए हमको यह निर्णय करना पड़ता है कि किस आवश्यकता की पूर्ति की जाय, और किस की नहीं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि एक लड़के के पास चार रुपये हैं और वह बाजार जाता है। उस समय उसके सामने अनेक ऐसी आवश्यकताएं आ खड़ी होंगी जो चार रुपये में तृप्त की जा सकती हैं। चाहे वह एक पुस्तक खरीद ले, या कमीज का कपड़ा, या जूता या और कोई दूसरी वस्तु, जो चार रुपये में मिल सकती हो। इन तमाम आवश्यकताओं में से वह उस समय केवल एक ही की पूर्ति कर सकता है, सब की नहीं। कारण, उसके पास कुल चार ही रुपये हैं। इसलिए उसे इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा कि इनमें से किस आवश्यकता की पूर्ति की जाय। वह उन सब आवश्यकताओं की एक दूसरे से तुलना करेगा और जिसे वह सबसे अधिक आवश्यक समझेगा, उसे ही पूरा करेगा। बाकी सबको छोड़ देगा। इस तरह मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताएं एक दूसरे से इस बात में प्रतियोगिता करती हैं कि वे दूसरों की अपेक्षा सर्वप्रथम तृप्त की जायें। आवश्यकता की इस विशेषता पर सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) अथवा प्रतिस्थापन नियम (Principle of Substitution) अवलम्बित है।

(५) **आवश्यकताएं बार-बार उत्पन्न होती हैं**—हमारी बहुत-सी आवश्यकताएं ऐसी हैं, जो एक बार पूर्ति करने के बाद भी बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं। जब हम किसी आवश्यकता की पूर्ति बार-बार करते हैं, तो उस आवश्यकता को तृप्त करने की हमारी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार की आदतों में बराबर वृद्धि होती रहती है। इनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन है। जीवन-स्तर अथवा रहन-सहन के ढंग का आशय इन्हीं आवश्यकताओं से है, जिनके हम आदी हो जाते हैं। वेतन निर्धारित करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(६) **वर्तमान आवश्यकताएं अधिक तीव्र लगती हैं**—एक साधारण

व्यक्ति वर्तमान आवश्यकताओ को भावी आवश्यकताओ की अपेक्षा अधिक तीव्र समझता है। कारण, भविष्य अनिश्चित है। "नौ नगद न तेरह उधार" की कहावत आवश्यकता की इसी विशेषता को और स्पष्ट करती है। हम इतने दूरदर्शी नही होते कि भावी आवश्यकताओ को वर्तमान आवश्यकताओ के बराबर महत्त्व दें। ब्याज के कई सिद्धान्त इस विशेषता पर अवलम्बित है।

आवश्यकताओ का वर्गीकरण
(Classification of Wants)

मनुष्य अपने साधारण जीवन म अनेक आवश्यकताओ का अनुभव करता है। पर वे सब एक समान तीव्र नही होती। उनमे कुछ अधिक आवश्यक होती है, और कुछ कम। हमारी कुछ आवश्यकताए ऐसी हैं जिनकी तृप्ति बिना हम जीवित नही रह सकते। इन्हे मूल अथवा प्रमुख आवश्यकताए कहते हे। जो वस्तुए इन प्रमुख आवश्यकताओ की तृप्ति करती हैं उन्हे आवश्यक पदार्थ कहते है। शेष सब आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाली वस्तुओ को आराम तथा विलास की वस्तुए कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, उपभोग की वस्तुओ को उनकी आवश्यकतानुसार तीन भागो में विभाजित किया जाता है —आवश्यक पदार्थ (Necessaries), आराम के पदार्थ (Comforts) और विलासिता के पदार्थ (Luxuries)।

(१) आवश्यक पदार्थ—आवश्यक पदार्थ उन वस्तुओ को कहते हैं जिनका उपभोग मनुष्य के जीवन, स्वास्थ्य और निपुणता के लिए जरूरी होता है। इन वस्तुओ के न मिलने से मनुष्य को बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा, यहा तक कि जीवन ही न चल सकेगा। इनके उपभोग से जीवन की रक्षा होती है और कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

वस्तुए भिन्न-भिन्न कारणो से आवश्यक हो सकती है। फलस्वरूप, आवश्यक पदार्थो को तीन भागो में बाट दिया जाता है—जीवन-रक्षक पदार्थ (Necessaries of life) निपुणता-दायक पदार्थ, (Necessaries

for efficiency), और रिवाजी आवश्यक पदार्थ (Conventional necessaries)

(क) जीवन रक्षक पदार्थ—इनके अन्तर्गत वे वस्तुएं आती हैं, जिनसे शरीर और जीवन की रक्षा होती है। इनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, जैसे न्यूनतम भोजन, वस्त्र, आदि। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-रक्षा के लिए इन वस्तुओं की जरूरत होती है, चाहे वे सस्ती मिलें या महगी।

(ख) निपुणतादायक पदार्थ–जो वस्तुए मनुष्य की कार्य-शक्ति और योग्यता बनाये रखने अथवा उनकी वृद्धि के लिये जरूरी होती हैं और जिनके न होने से कार्य-क्षमता गिर जाती है, उन्हे निपुणतादायक पदार्थ कहते हैं, जैसे पुष्टिकारक भोजन, साफ और अच्छे वस्त्र, हवादार मकान, आदि। इन वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य की योग्यता अथवा निपुणता में, वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा, कही अधिक वृद्धि होती है।

(ग) रिवाजी आवश्यक पदार्थ—कुछ ऐसी वस्तुए है जिनका सेवन रीति-रस्म, आचार-व्यवहार के दबाव, अथवा आदत पड जाने के कारण विवश होकर जरूर करना पडता है। इन्हे रिवाजी आवश्यक पदार्थ या कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुए कहते है। ये वस्तुए जीवन-रक्षा या कार्य-क्षमता के लिए आवश्यक नही होती। प्राय इनके सेवन से कार्यकुशलता कम हो जाती है। किन्तु लोक-निन्दा, आदत, रीति-रस्म के कारण इनका उपयोग बहुत जरूरी समझा जाता है।

(२) आराम के पदार्थ–आराम के पदार्थ उन वस्तुओं को कहते है, जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता मे उन वस्तुओ के मूल्य की अपेक्षा कम वृद्धि होती है। दूसरे शब्दो में जितना व्यय इन वस्तुओं के उपभोग पर किया जाता है, उस अनुपात से मनुष्य की कार्यक्षमता नही बढती। योग्यता के बढने की दर वस्तुओ के मूल्य की दर से कम होती है। इनके उपभोग से मनुष्य अपना जीवन सुखमय बना सकता है। इनसे कार्य-कुशलता मे भी वृद्धि होती है, पर वृद्धि इतनी नही होती, जितना कि इन वस्तुओं पर खर्च करना पडता है।

(३) विलासिता के पदार्थ—विलासिता की वस्तुओं का आशय उन वस्तुओं से है, जिनके उपभोग से मनुष्य की शान-शौकत या शौक की इच्छाओं की पूर्ति होती है। इनके सेवन से उपभोक्ता की निपुणता में वृद्धि नहीं होती। प्राय इन वस्तुओं के उपभोग से योग्यता कार्य-शक्ति, आदि गिरने लगती है।

उपभोग की वस्तुओं को उपर्युक्त तीन श्रेणियों में विभक्त तो अवश्य कर दिया गया है, पर कौन-सी वस्तुए किस श्रेणी में या वर्ग में आती है, इसे निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन है। हम यह नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु सबके लिए आवश्यक पदार्थ अथवा आराम की वस्तु है। यह समझना भूल है कि गेहू आवश्यक पदार्थ है, मोटर आराम की वस्तु है और हीरे-जवाहिरात विलासिता की सामग्री है। वस्तुओं का वर्गीकरण कई बातों पर निर्भर है, जैसे रहन-सहन की रीति, देश-काल, जलवायु, मनुष्य का स्वभाव, विचार, उसकी आय तथा आर्थिक, सामाजिक स्थिति, आदि। ये सब बातें हर समय और हर स्थान पर एक समान नहीं होतीं। इन सब बातों में परिवर्तन होने से भिन्न-भिन्न वस्तुए एक श्रेणी से हट कर दूसरी श्रेणी में आ जाती है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु सब मनुष्यों, देशों और समय के लिए आवश्यक पदार्थ है या विलासिता की वस्तु है। एक ही वस्तु किसी एक के लिए आवश्यक पदार्थ हो सकती है, दूसरे के लिए सुख का पदार्थ, और तीसरे के लिए वही वस्तु विलासिता की वस्तु हो सकती है। उदाहरणार्थ, मोटर एक प्रसिद्ध डाक्टर के लिए आवश्यक वस्तु है, क्योंकि उसकी सहायता से वह कम समय में बहुत मरीजों को देखता है, किन्तु एक अमीर आदमी के लिए मोटर सुख का पदार्थ है और एक साधारण व्यक्ति के लिए वही विलासिता की वस्तु है। इस तरह हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुए आवश्यक अथवा विलासिता की वस्तुए होती हैं। अमीर आदमी के लिए जो वस्तु आवश्यक है, वही एक गरीब आदमी के लिए आराम या विलासिता की सामग्री बन सकती है।

इसी तरह स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ वस्तुओं के वर्गीकरण में भिन्नता आ जाती है। जो वस्तु एक स्थान पर आवश्यक मानी जाती है, वही दूसरे स्थान पर आराम या विलासिता की श्रेणी में गिनी जा सकती है। कारण, भिन्न-भिन्न स्थानों पर जलवायु, रीति-रिवाज, फैशन आदि में बहुत भिन्नता होती है। ठंडे देशों में ऊनी वस्त्र आवश्यक वस्तु है, क्योंकि इसके बिना मनुष्य अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकता। किन्तु ऊनी वस्त्र गर्म देश में आवश्यक नहीं समझा जाता। गहनों का चलन भारतवर्ष में बहुत है। भारतीय नारियों के लिए गहने रिवाजी आवश्यक-पदार्थ हैं। लेकिन पाश्चात्य देश की नारियां गहनों को विलासिता की श्रेणी में गिनती हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का उदाहरण लेकर दिखाया जा सकता है कि कैसे फैशन, रीति, प्रथा, आदि में अन्तर होने के कारण एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न देशों में आवश्यक, आराम तथा विलासिता की वस्तु मानी जाती है।

समय में परिवर्तन होने से वस्तुएं एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में आ जाती हैं। बहुत-सी वस्तुएं, जो पहले आराम और विलासिता की सामग्री थी, आज आवश्यक हो गई हैं। अस्तु, जब तक हम जलवायु देशकाल, मनुष्यों की आदत, उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर विचार न कर लें तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु को किस श्रेणी में रक्खा जाय। कोई भी वस्तु अपने आप किसी भी वर्ग में शामिल नहीं की जा सकती।

दूसरे शब्दों में, आवश्यक, आराम और विलासिता तुलनात्मक शब्द हैं। ये व्यक्ति, समय और स्थान के साथ सम्बन्धित होते हैं।

वर्गीकरण का आधार
(Basis of Classification)

इस सम्बन्ध में वर्गीकरण का आधार जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना हम आवश्यकताओं के वर्गीकरण का उचित ज्ञान नहीं प्राप्त

कर सकते। उपभोग की वस्तुओं का वर्गीकरण कार्य-कुशलता अथवा निपुणता के आधार पर किया जाता है। अमुक वस्तु को किस वर्ग में रखा जाय, इसको तय करने के लिये हमें यह देखना पड़ेगा कि उसके उपभोग से उपभोक्ता की कार्य-कुशलता पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उस वस्तु से उपभोक्ता की योग्यता में बढ़ते हुए अनुपात में वृद्धि होती है और उसके उपभोग न करने से उसकी योग्यता बहुत गिर जाती है तो उस वस्तु को आवश्यक-पदार्थ की श्रेणी में रखेंगे। यदि उससे उपभोक्ता की योग्यता घटते हुए अनुपात से बढ़ती है, तो वह आराम की वस्तु मानी जायगी और यदि उपभोक्ता की कार्य-कुशलता घट जाती है, अथवा वैसी ही रहती है, तो उस वस्तु को विलासिता की वस्तु कहेंगे।

QUESTIONS

1. Define want Show how it differs from a mere desire
2. "Wants lead to economic activities and economic activities to fresh wants" Discuss it fully
3. Mention the important characteristics of wants and the laws based on them
4. What are Necessaries, Comforts and Luxuries? What is the basis of such a classification?
5. Show how Necessaries, Comforts and Luxuries are relative terms

अध्याय १०

सीमान्त उपयोगिता-ह्रास नियम

(Law of Diminishing Marginal Utility)

अर्थशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करते समय यह पहले कहा जा चुका है कि उपयोगिता किसी वस्तु की आवश्यकता-पूरक शक्ति अथवा गुण को कहते है। वस्तु की यह शक्ति आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर होती है। जितनी अधिक या कम तीव्र किसी वस्तु की आवश्यकता होगी, उतनी ही अधिक या कम उस वस्तु मे उपयोगिता होगी। यह तो सभी जानते है कि मनुष्य की आवश्यकताए एक-सी नही होती। देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार आवश्यकताए भिन्न-भिन्न होती है। आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे यह भी कहा जा चुका है कि वे एक समान तीव्र नही होती, और न ही उनकी तीव्रता सदा एक-सी बनी रहती है। इसलिए सभी वस्तुओ की उपयोगिता एक समान नही होती और न ही प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता सभी मनुष्यो के लिए एक-सी हो सकती है। यही नही, एक ही वस्तु की उपयोगिता एक ही व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है कि क्या उपयोगिता की माप और तुलना की जा सकती है? और यदि हा, तो किस प्रकार?

उपयोगिता की माप

(Measurement of Utility)

हम अपने साधारण जीवन में अनेक वस्तुओं की माप और तुलना करते है। जैसे कपड़े की माप गज मे करते है, अनाज को मन-सेर मे तौलते

है, पैट्रोल को गेलन में मापते हैं। इसी तरह अनेक वस्तुओं की माप और तुलना के लिए भिन्न-भिन्न साधन या यंत्र हैं। किन्तु उपयोगिता की माप के लिए इस प्रकार का कोई माप-दंड नहीं है। उपयोगिता की माप फुट-इंच, मन-सेर या इस प्रकार के और किसी परिचित यंत्र आदि से नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि उपयोगिता तृप्ति और संतोष की एक भावना है। इसका सम्बन्ध उपभोक्ता और उसके मन से होता है, और मानसिक वृत्तियों की माप अथवा तुलना प्रत्यक्ष रूप में सम्भव नहीं है।

यह तो ठीक है कि चूंकि उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य के मन से अथवा उसकी आवश्यकता से है और आवश्यकता की तीव्रता सब के लिए एक समान नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष रूप में इसका ठीक-ठीक माप सम्भव नहीं है, फिर भी परोक्ष रूप में मोटे तौर से उपयोगिता की माप-तुलना हो सकती है। इस प्रकार की माप-तुलना निम्नलिखित दो तरह से की जा सकती है।

मान लो कोई व्यक्ति किसी एक वस्तु के लिए १०) देने को तैयार है। वह १०) देने को तभी तैयार होगा जबकि उसके विचार से उस वस्तु में १०) के बराबर उपयोगिता होगी। यदि ऐसा नहीं है, तो उस वस्तु के लिए वह १०) देने को तैयार न होगा। अस्तु, हम कह सकते हैं कि उस व्यक्ति के लिए उस वस्तु की उपयोगिता १०) के बराबर है। इसके आधार पर अन्य वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना की जा सकती है। जैसे यदि वह व्यक्ति दूसरी वस्तु के लिए २०) देने को तैयार है, तो इसका यह अर्थ होगा कि दूसरी वस्तु की उपयोगिता पहली वस्तु की उपयोगिता से दुगनी है। इस प्रकार जो कुछ एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए देने को तैयार है उससे उस वस्तु की उपयोगिता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

उपयोगिता का अनुमान एक दूसरे तरीके से भी लगाया जा सकता है। कभी-कभी हम मानसिक वृत्तियों का अन्दाजा इकाइयों अथवा आंकड़ों

में लगाते हैं। प्राय हम लोगो को इस तरह कहते हुए सुनते हैं कि "मरीज पहले से अब १२ आने अच्छा है", या "इन दोनो में केवल १८-११ का फर्क है", अथवा "इस वर्ष रुपये में केवल ६ आने ही फसल हुई है"। इनके अर्थों को सभी अच्छी तरह समझ जाते हैं। इसी प्रकार यदि हम उपयोगिता को माप इकाइयो में करे, तो कोई विशेष आपत्ति या असुविधा न होगी। जब कभी किसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करनी होती है, तो उपयोगिता की कोई एक इकाई मान ली जाती है और फिर उस समय अन्य वस्तुओ की उपयोगिता का अनुमान इसी इकाई के अनुसार लगाया जाता है। जैसे मान लो, एक खास समय और परिस्थिति में पुस्तक, घडी और मेज की उपयोगिताओं की तुलना करनी है। ऐसे समय तुलना के लिए यह मान लेना पड़ेगा कि मेज की उपयोगिता एक के बराबर है। फिर हमें यह देखना होगा कि पुस्तक और घडी की उपयोगिता कितनी है। अब यदि हमे पुस्तक से दस गुना सतोष प्राप्त होने की सम्भावना है, तो हम कहेगे कि पुस्तक की उपयोगिता १० है। और इसी प्रकार यदि घडी से २० गुना सतोष प्राप्त होने का अनुमान है, तो कहा जा सकता है कि घडी की उपयोगिता २० है।

समस्त और सीमान्त उपयोगिता

(Total and Marginal Utility)

समस्त या कुल उपयोगिता (total utility) से अभिप्राय उन सब उपयोगिताओं के जोड से है, जो किसी वस्तु की कुल सख्याओ या इकाइयो के खरीदने अथवा उपभोग से प्राप्त होती है। जैसे मान लो एक आदमी २० आम खरीदता है, तो बीस आमो से कुल मिला कर जो उपयोगिता उसे प्राप्त होगी उसे 'समस्त उपयोगिता' कहेंगे।

'सीमात उपयोगिता' (marginal utility) किसी वस्तु की उपभोग में लाई जाने वाली अन्तिम इकाई की उपयोगिता को कहते है। वस्तु की वह इकाई जो किसी व्यक्ति की खरीद की सीमा होती है, जिसके बाद

वह खरीद या उपभोग बन्द कर देता है, सीमान्त इकाई (marginal unit) कहलाती है। इस सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। मान लो, कोई व्यक्ति पाच आम खरीदता है। तो पाचवा आम सीमात इकाई है और इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमात उपयोगिता होगी। यदि वह केवल तीन ही आम खरीदता है, तो तीसरा आम उसकी सीमात खरीद होगी और इससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमात उपयोगिता होगी।

सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा एक और तरह से की जा सकती है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से ज्यादा ठीक है। किसी वस्तु की समस्त उपयोगिता मे जो उसकी एक और इकाई खरीदने अथवा उपभोग मे वृद्धि होती है, उसे 'सीमान्त उपयोगिता' कहते है। जैसे मान लो, एक आदमी दस आम खरीदता है और इन सबसे उसे १०० समस्त उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लो वह एक और आम खरीदता है और इससे समस्त उपयोगिता १०० से १०६ हो जाती है, तो हम कहेंगे कि उस व्यक्ति के लिए आम की सीमान्त उपयोगिता (१०६−१००) = ६ है। यह ग्यारहवें आम की उपयोगिता नही है, क्योकि सब आम एक जैसे है। यह तो आम की सीमान्त उपयोगिता है, जबकि ग्यारह आम खरीदे जाते है।

सीमान्त उपयोगिता-ह्रास नियम

(Law of Diminishing Marginal Utility)

वैसे तो मनुष्य की कुल आवश्यकताओ की कोई सीमा नही। वे अनन्त है और उन सब की पूर्ण तृप्ति सम्भव नही है। पर यदि हम किसी एक आवश्यकता पर विचार करे तो यह देखेंगे कि उसकी एक सीमा है, जहा वह पूर्ण तृप्त हो सकती है। मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता सीमित और परिमित होती है। एक खास समय मे पर्याप्त साधन होने पर किसी एक आवश्यकता की पूरी तौर से तृप्ति की जा सकती है। जब हम अपनी किसी एक आवश्यकता की तृप्ति करना शुरू करते है, तो धीरे-धीरे उस आवश्यकता की तीव्रता घटती चली जाती है और कुछ देर बाद वह बिल्कुल तृप्त हो

जाती है। यह तो हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि जैसे-जैसे हमें कोई वस्तु अधिकाधिक परिमाण में मिलती जाती है, वैसे ही वैसे उस वस्तु की आवश्यकता की तेजी कम होती जाती है, और परिस्थिति के अपरिवर्तित रहने पर, अन्त में बिल्कुल पूरी हो जाती है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर होती है। इसलिए आवश्यकता की तेजी के घटने के साथ-साथ, उस वस्तु की उपयोगिता भी क्रमश घटती जाती है और जब वह आवश्यकता पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है, तब उस समय उपयोगिता भी शून्य हो जाती है।

उदाहरण के लिए मान लो कि किसी आदमी को बहुत तेज भूख लगी है। ऐसी दशा मे पहली रोटी की उपयोगिता उसके लिए बहुत होगी, क्योंकि रोटी की आवश्यकता बहुत तेज है। दूसरी रोटी की भी उपयोगिता काफी होगी, पर पहली रोटी के बराबर नही, क्योंकि उसकी भूख कुछ अश तक मिट चुकी है, अर्थात आवश्यकता की तेजी पहले से कम है। इसी कारण तीसरी रोटी की उपयोगिता दूसरी रोटी की उपयोगिता से कम होगी, चौथी रोटी की तीसरी से कम होगी। इस तरह जैसे-जैसे वह और रोटिया खाता जायगा, वैसे ही वैसे उसकी रोटी की आवश्यकता कम होती जाएगी; उसकी भूख मिटती जायगी। इसके फलस्वरूप बाद में खी जाने वाली रोटियों की उपयोगिता अर्थात सीमात उपयोगिता क्रमश गिरती जायगी। कुछ देर बाद वह सीमा भी आ जायगी, जब वह कह उठेगा कि "मेरी आवश्यकता पूर्णतया पूरी हो चुकी है, मेरी भूख बिल्कुल शात हो गई है, अब मुझे और रोटिया नही चाहिए।" उस समय रोटी की सीमात उपयोगिता शून्य हो जायगी। यदि वह इसके बाद भी रोटिया खायगा तो उपयोगिता के स्थान मे उसे अनुपयोगिता (disutility) प्राप्त होगी, उसे तृप्ति के बजाय कष्ट, हानि अथवा असतोष होगा।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे हमें कोई वस्तु अधिका-

धिक मात्रा में मिलती जाती है, वैसे-ही वैसे उसकी आवश्यकता कम होती जाती है और फलस्वरूप वस्तु की सीमात उपयोगिता भी घटती जाती है। वस्तु की मात्रा म वृद्धि होने से उसकी सीमात उपयोगिता में क्रमश घटने की प्रवृत्ति, केवल रोटी के साथ ही नही, बल्कि सभी वस्तुओ के साथ लागू है। दूसरी कलम की उपयोगिता पहली कलम से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से कम होगी, तीसरी की दूसरी से कम होगी। इसी तरह पहली कमीज की उपयोगिता बहुत अधिक होगी क्योकि शरीर की रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है। पर दूसरी की उपयोगिता उतनी न होगी, अपितु कम होगी। तीसरी की और भी कम होगी और इस तरह कमीज की सीमान उपयोगिता घटती चली जायगी। अस्तु, प्रत्येक वस्तु के साथ यह अनुभव होता है कि परिमाण मे वृद्धि होने के साथ-साथ सीमात उपयोगिता क्रमश कम होती चली जाती है। यदि यह बात न होती, तो जब हम किसी एक वस्तु को खरीदना शुरू करते तो उसे ही खरीदते रहते और किसी वस्तु को नही। किन्तु जीवन में ऐसा नही होता। जब हम किसी वस्तु को खरीदते है तो एक सीमा के बाद उसकी खरीद बन्द कर देते है और फिर दूसरी वस्तुओ को खरीदने लग जाते है। यह इसलिए होता है कि किसी के पास किसी वस्तु का जितना ही अधिक परिमाण होता जाता है, उतनी ही कम उसकी सीमात उपयोगिता होती जाती है।

यही सीमात-उपयोगिता-ह्रास नियम है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—अन्य सब बातो के पूर्ववत् रहने पर, किसी एक समय किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सचय है, उस सचय मे प्रत्येक बढती के साथ उस मनुष्य के लिए उस वस्तु की सीमात उपयोगिता घटती जाती है। इसी बात को यदि हम कीमत के रूप मे प्रकट करे तो कहेंगे जितनी अधिक मात्रा किसी वस्तु की एक व्यक्ति के पास होती जायगी, उतनी ही कम कीमत वह उस वस्तु की आगे मिलने वाली इकाइयो के लिए देने को तैयार होगा।

इस नियम को उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो एक व्यक्ति को किसी समय चाय पीने की बडी तेज आवश्यकता है। ऐसी दशा में चाय के पहले प्याले से जो उपयोगिता उसे प्राप्त होगी, वह बहुत अधिक होगी। कारण, चाय पीने की उसकी आवश्यकता बहुत प्रबल है। और यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जितनी अधिक या कम आवश्यकता की तीव्रता अथवा तेजी होगी उतनी ही अधिक या कम वस्तु की उपयोगिता होगी। एक प्याला पीने के बाद उसकी आवश्यकता की तेजी कुछ कम हो जायगी इसके फलस्वरूप दूसरे प्याले मे उसे उतना सतोष न मिलेगा, जितना कि पहले प्याले से प्राप्त हुआ था। अर्थात दूसरे प्याले से जो उपयोगिता प्राप्त होगी, वह पहले प्याले से प्राप्त उपयोगिता के बराबर न होगी अपितु कम होगी। दो प्यालों के बाद उसकी आवश्यकता और घट जायगी। अतएव तीसरे प्याले से प्राप्त होने वाली उपयोगिता दूसरे प्याले की उपयोगिता से कम होगी। इसी तरह जैसे-जैसे उसे और चाय मिलती जायगी, वैसे ही वैसे चाय की सीमात उपयोगिता घटती जायगी। मान लो, पाच प्यालो से उसकी आवश्यकता पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था म सीमात उपयोगिता शून्य होगी। यदि इसके बाद वह और अधिक चाय लेगा तो उपयोगिता के स्थान पर उसे अनुपयोगिता प्राप्त होगी। यह उदाहरण निम्नलिखित कोष्टक से और भी स्पष्ट हो जायगा।

प्यालो की सख्या	समस्त उपयोगिता (इकाइयो मे)	सीमान्त उपयोगिता (इकाइयो मे)
एक	८०	८०
दो	१४०	६०
तीन	१८०	४०
चार	२००	२०
पाँच	२००	०
छ.	१८०	२०

ऊपर के कोष्टक को देखने से विदित होगा कि चाय की सीमांत उपयोगिता क्रमश कम होती जाती है। पहले प्याले की उपयोगिता ८० के बराबर है, दूसरे प्याले की ६०, तीसरे की ४० और चौथे की २०। पाचवे प्याले से प्राप्त होने वाली उपयोगिता शून्य के बराबर दिखाई गई है, क्योकि यहा पर *आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति हो चुकी है। पूर्ण तृप्ति के समय सीमांत उपयोगित* शून्य होती है। इसके बाद जो भी इकाई सेवन की जायगी, उससे सन्तोष के बजाय हानि होगी उपयोगिता के स्थान में अनुपयोगिता प्राप्त होगी। छठा प्याला पूर्ण तृप्ति के बाद लिया गया है। इसलिए इसे ऋण-उपयोगिता द्वारा दिखाया गया है।

इस कोष्टक में यह भी स्पष्ट है कि वस्तु के परिमाण में वृद्धि होने से सीमान्त उपयोगिता गिरती है, समस्त उपयोगिता नही। जैसे-जैसे बाद में ली जाने इकाइयों की सख्या बढती जाती है वैसे ही वैसे सीमांत उपयोगिता घटती जाती है और समस्त उपयोगिता एक सीमा तक बढती जाती है। हा, यह बात अवश्य है कि समस्त उपयोगिता के बढने का अनुपात क्रमश कम होता जाता है। समस्त उपयोगिता में क्रमश घटती हुई दर से वृद्धि होती है। प्राप्त होने वाली समस्त या कुल उपयोगिता तब *तक बढती जाती है जब तक कि वह आवश्यकता पूर्ण रूप से तृप्त नही हो* जाती,अर्थात जब तक कि सीमांत उपयोगिता शून्य नही हो जाती। सीमांत उपयोगिता के शून्य होने पर समस्त उपयोगिता अपनी अधिकतम सीमा पर पहुंच जाती है। इस स्थान में उसका बढना बन्द हो जाता है। और यदि किसी वस्तु का सेवन पूर्ण तृप्ति के बाद भी जारी रहता है, तो अनुपयोगिता प्राप्त होने के कारण समस्त उपयोगिता बढने के बजाय क्रमश घटने लगती है। ऊपर के उदाहरण म समस्त उपयोगिता चौथे प्याले तक बढती जाती है। पाचवें प्याले की उपयोगिता शून्य है, इसलिए समस्त उपयोगिता उतनी ही है, बढती नही। छठे प्याले मे अनुपयोगिता प्राप्त होती है। इस कारण समस्त उपयोगिता मे से २० इकाई उपयोगिता कम हो जाती

है। पाच प्यालो से कुल मिलाकर २०० इकाई समस्त उपयोगिता हुई, लेकिन एक और प्याले के लेने से यह १८० इकाई ही रह जाती है, क्योंकि छठे प्याले से २० इकाई उपयोगिता की घटी होती है। इस कोष्टक को चित्र के रूप में दिखाया जा सकता है। इससे उपयोगिता-ह्रास नियम और स्पष्ट हो जायगा।
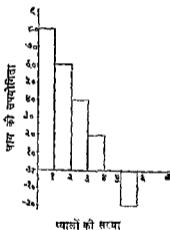
इस चित्र में लम्ब की ऊचाई प्यालो की उपयोगिता बतलाती है। प्रत्येक लम्ब की ऊचाई क्रमश. कम होती जाती है, जिससे चाय की सीमान्त उपयोगिता के क्रमश: कम होने का बोध होता है। छठे प्याले की उपयोगिता बतलाने वाला लम्ब ऋण की ओर चला गया है, क्योंकि इस प्याले में अनुपयोगिता प्राप्त होती है।

इस चित्र को एक रेखा द्वारा भी दिखाया जा सकता है।
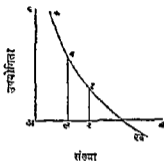
इस चित्र में 'क ख' रेखा घटती सीमांत उपयोगिता की रेखा है। यह रेखा इस बात को प्रदर्शित करती है कि जैसे-जैसे वस्तु की मात्रा में वृद्धि होती है, सीमान्त उपयोगिता क्रमश: कम होती जाती है। जैसे 'अ ल' संख्या की सीमान्त उपयोगिता 'व ल' के बराबर है, और 'अ र' की सीमांत उपयोगिता केवल 'ट र' है, जो 'व ल' से कम है।

अन्य सब बातें पूर्ववत् रहें
(Other things being the same)

उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा करते समय यह मान लिया जाता है कि 'अन्य सब बातें पूर्ववत् रहें'। ये शब्द बड़े महत्त्व के हैं। उपयोगिता-ह्रास नियम लागू होने के लिए अन्य सब बातों का, परिस्थितियों का पूर्ववत् रहना नितान्त आवश्यक है। यदि अन्य सब बातें पहले जैसी नहीं रहतीं अर्थात् उनमें कुछ परिवर्तन होता है, तो यह नियम लागू न होगा। अस्तु, इस नियम के सम्बन्ध में इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। जब यह कहा जाता है कि 'अन्य सब बातें पूर्ववत् रहें' तो इसका आशय साधारणत: निम्नलिखित बातों से होता है —

(१) उपयोगिता-ह्रास नियम के लागू होने के लिये यह आवश्यक है कि वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों का उपभोग एक खास समय में लगातार

हो। यदि उपभोग का समय लगातार नहीं है, तो नियम लागू न हो सकेगा। जैसे यदि कोई व्यक्ति एक प्याला चाय सुबह ले, दूसरा दोपहर को और तीसरा प्याला रात को, तो यह जरूरी नहीं कि दूसरे प्याले से प्राप्त होने वाली उपयोगिता पहले से और तीसरे प्याले की उपयोगिता दूसरे से क्रमशः कम हो। कारण, चाय का उपभोग एक खास समय में लगातार नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न प्यालों के उपभोग के बीच में काफी समय का अन्तर है। इसलिए नियम लागू न होगा।

(२) इस नियम के लिये यह भी आवश्यक है कि उपभोक्ता की आय, रुचि, स्वभाव और परिस्थिति आदि में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। इनमें परिवर्तन होने से किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में अंतर पड़ जायगा, और फलस्वरूप नियम लागू न हो सकेगा। जैसे यदि कोई मनुष्य एकाएक अधिक धनवान हो जाय, तो उसकी सारी परिस्थितियाँ बदल जायेंगी। वही वस्तुएं उसे भिन्न लगने लगेंगी। एक प्रकार से वह स्वयं बदल जायेगा। वह पहले जैसा न रहेगा। इस कारण सम्भव है कि किसी एक वस्तु की बाद में आने वाली इकाइयों की उपयोगिता क्रमशः न घटे। इसी प्रकार यदि रुचि में फर्क आ जाय तो सम्भव है कि उपयोगिता-ह्रास नियम लागू न हो। रुचि के बदल जाने से किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में फर्क आ जायगा। यदि वही वस्तु रुचि के बदल जाने से अधिक अच्छी लगने लगी है, तो आगे आने वाली इकाइयों की उपयोगिता क्रमशः घटने की बजाय बढ़ेगी। अस्तु, आय, रुचि, स्वभाव, परिस्थिति आदि का पूर्ववत् रहना बहुत जरूरी है अन्यथा नियम लागू न हो सकेगा।

(३) साथ ही वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों का गुण और परिमाण एक समान होना चाहिए। यदि इकाइयों का गुण एक-सा नहीं है, तो नियम लागू न होगा। उदाहरणार्थ, यदि किसी एक मनुष्य को पहले एक खट्टा आम दिया जाय और फिर मीठा,तो दूसरे आम की उपयोगिता घटने के बदले

बढ़ेगी, क्योंकि दोनों आम के गुण एक समान नहीं हैं। इसी प्रकार, इकाइयों का परिमाण बराबर न होने पर नियम लागू न हो सकेगा।

किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में एक और बात स्पष्ट कर देना जरूरी है। वह यह है कि इकाइयों का परिमाण या मात्रा उचित होनी चाहिए। यदि इकाइयों की मात्रा बहुत छोटी या कम है, तो सम्भव है कि बाद में ली जाने वाली प्रत्येक इकाई से कुछ समय तक क्रमशः कम उपयोगिता प्राप्त होने के बजाय बढ़ती हुई उपयोगिता प्राप्त हो।

(४) वस्तु की कीमत का पूर्ववत्, अपरिवर्तित रहना भी बहुत आवश्यक है। यदि वस्तु की कीमत कम हो जाती है, तो उपभोक्ता की उस वस्तु के पाने की इच्छा तेज हो जायगी। और चूंकि उपयोगिता इच्छा की तेजी पर निर्भर है, इसलिए उपयोगिता भी बढ़ जायगी। किसी वस्तु की उपयोगिता इस कारण भी बढ़ सकती है कि उसके स्थान पर प्रयुक्त हो सकने वाली वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाय। इसलिए उपयोगिता ह्रास-नियम के सम्बन्ध में यह मान लेना जरूरी है कि किसी एक वस्तु की और उसके स्थान पर प्रयुक्त हो सकने वाली अन्य वस्तुओं की कीमतें पहले जैसी ही रहें, उनमें कोई परिवर्तन न हो।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए विचार करने से पता चलता है कि सीमान्त उपयोगिता-ह्रास नियम सार्वभौमिक है। परिस्थिति के पूर्ववत रहने पर, यह नियम लगभग सभी स्थानों पर लागू होता है। चाहे कोई वस्तु कितनी ही सुन्दर क्यों न हो उसे देखते-देखते कुछ देर के बाद आंख थक जाती है, मन ऊब जाता है। इसी प्रकार सुरीले से सुरीले गाने को बार-बार सुनने से कान पक जाते हैं, यहां तक कि कुछ समय बाद वह गाना बुरा लगने लगता है। अर्थात इस प्रकार की वस्तुओं की भी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः कम होती जाती है।

इस नियम के अपवाद
(Exceptions to the Law)

कुछ लोग इस नियम के कई अपवाद (exceptions) बतलाते हैं, जहा, उनके कथनानुसार, सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम लागू नहीं होता। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इस नियम के जितने भी अपवाद पेश किये जाते हैं वे लगभग सभी थोथे हैं; उनमे तथ्य नही है। वे केवल नाममात्र के ही अपवाद हैं, वास्तविक नही। इनमें से कुछ अपवादो का उल्लेख नीचे किया जाता है।

(१) यदि किसी वस्तु का बहुत सूक्ष्म परिमाण मे उपयोग किया जाय तो कुछ समय तक उसकी सीमांत उपयोगिता मे क्रमश कमी होने के बदले वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए यदि एक प्यासे आदमी को एक-एक बूद पानी दिया जाय, अथवा रेलवे इजिन को छटाक-छटाक कोयला बार-बार दिया जाय तो पानी और कोयले की सीमांत उपयोगिता कुछ समय तक बढती ही जायगी, घटेगी नही। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य के पास एक पैर का जूता है, तो दूसरे पैर के जूते से प्राप्त होने वाली उपयोगिता पहले से अधिक होगी क्योकि बिना दूसरे पैर के जूते के एक पैर का जूता बेकार है। ऊपरी तौर से देखने मे ऐसा मालूम पडता है कि इन स्थानों पर उपयोगिता-ह्रास-नियम ठीक नही उतरता। किन्तु हम इन्हें वास्तविक अपवाद नही मान सकते। क्या हम साधारण जीवन मे एक-एक पैर के जूते बिकते देखते हैं या कोयला और पानी कही इतने सूक्ष्म परिमाण मे दिये जाते है ? एक बूद पानी या एक पैर का जूता सम्पूर्ण इकाई नही हैं। वे इकाई के केवल छोटे-छोटे भाग हैं। इसलिए सीमांत उपयोगिता बढती है। 'अन्य बातें' मे यह मान लिया जाता है कि वस्तु की इकाइया आकार और परिमाण मे न्यायोचित हो।

(२) कभी-कभी यह कहा जाता है कि शराबी के लिए शराब की सीमांत उपयोगिता बराबर बढती जाती है। जैसे-जैसे वह शराब पीता जाता है, उसकी शराब पीने की इच्छा तेज होती जाती है और चूकि उप-

योगिता इच्छा की तेजी पर निर्भर है, इसलिए उपयोगिता भी बढ़ती जाती है। जब तक शराबी बिल्कुल चूर होकर गिर नहीं पड़ता, उसका हाथ और शराब पीने के लिए फैला रहता है। अस्तु, यह कहा जाता है कि शराबी के सम्बन्ध में उपयोगिता-ह्रास-नियम ठीक सिद्ध नहीं होता। किन्तु इसे भी अप-बाद नहीं माना जा सकता। कारण, शराब के प्रभाव के कारण शराबी की परिस्थितियां बदल जाती हैं। वह अपने होश-हवाश में नहीं रहता। अस्तु, अन्य बातों में परिवर्तन हो जाने के कारण नियम लागू नहीं हो पाता। फिर किस प्रकार इसकी सचाई में आंच आ सकती है।

इसी प्रकार कुछ का कहना है कि यदि किसी सुन्दर कविता या पुस्तक को बार-बार पढ़ा जाय तो सीमांत-उपयोगिता कम न होगी, बल्कि बढ़ेगी। ऐसा इसलिए होता है कि उस कविता या पुस्तक को दूसरी बार पढ़ने से उसका अर्थ पहले से अधिक स्पष्ट हो जाता है। तीसरी बार पढ़ने से अर्थ और अधिक समझ में आने लगता है। इस कारण उपयोगिता में वृद्धि होती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उपयोगिता-ह्रास-नियम ठीक नहीं है। एक बात तो यह है कि उपभोक्ता के स्वभाव और रुचि में फर्क आ जाता है। इसलिए वही कविता या पुस्तक उसके लिए एक नया रूप धारण कर लेती है, और फलस्वरूप उपयोगिता नहीं गिरती। दूसरे, यहां पर भी एक सीमा के बाद उपयोगिता-ह्रास-नियम अवश्य लागू होने लगेगा। किसी एक कविता को एक सीमा के बाद बार-बार पढ़ने-सुनने से मन ऊब जायेगा, कान थक जायेंगे। उसके पढ़ने या सुनने का आनन्द क्रमश: कम होता जायगा, अर्थात् उसकी सीमांत उपयोगिता एक सीमा के बाद क्रमश: कम होती जायगी। यही बात संगीत और अन्य कलाओं के साथ भी कही जा सकती है।

(३) हम प्राय: यह सुनते हैं कि कंजूसों की धन जोड़ने की इच्छा कभी भी पूरी नहीं होती। जितना अधिक धन उसे मिलता है, उतनी ही उसकी धन जोड़ने की इच्छा और प्रबल होती जाती है। इसलिए धन की सीमांत

उपयोगिता कजूस के लिए क्रमश बढ़ती जाती है। पर वास्तव में इसे भी अपवाद नही माना जा सकता। कारण, यहा 'अन्य बातें पूर्ववत् नहीं रहती। धन-सचय की क्रिया एक खास समय मे लगातार नही होती और न रुचि, स्वभाव, परिस्थिति आदि ही पूर्ववत रहती है। जैसे-जैसे कजूस धनसचय करता जाता है, वैसे-वैसे परिस्थितिया बदलती जाती है। धीरे-धीरे उसका स्वभाव बदलता जाता है। वह धनसचय करने की कला मे प्रवीण होता जाता है। अस्तु, वह पहले जैसा कजूस नही रहता वह स्वय बदलता जाता है।

जो कुछ कजूस की धन-सचय करने की इच्छा के लिए कहा गया है, वही लोगो की शक्ति पाने अथवा सामाजिक प्रभुता प्रदर्शन करने की इच्छा के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

(४) *टेलीफोन के सम्बन्ध म कहा जाता है कि जैसे-जैसे अधिक* सख्या मे लोग टेलीफोन लगे, वैसे-वैसे टेलीफोन की उपयोगिता क्रमश बढती जायगी क्योकि ऐसा होने पर एक व्यक्ति अधिकाधिक लोगो से टेलीफोन द्वारा बातचीत कर सकेगा। इसस यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यहा पर उपयोगिता-ह्रास नियम ठीक सिद्ध नही होता। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नही है। उपयोगिता नियम तभी लागू होता है जब कि किसी एक वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो का उपभोग एक ही व्यक्ति करता है। यदि वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयो का उपयोग भिन्न-भिन्न लोग करते है तो इस नियम का लागू होना जरूरी नही है। ऐसी दशा मे सीमान्त उपयोगिता का क्रमश कम होना आवश्यक नही है। पर यदि कोई व्यक्ति अधिक सख्या मे टेलीफोन लेगा, तो निश्चय ही सीमान्त उपयोगिता गिरेगी। उस व्यक्ति के लिए दूसरे टेलीफोन की उपयोगिता पहले से कम होगी और तीसरे की दूसरे मे कम होगी। और इस प्रकार जैसे-जैसे वह और टेलीफोन लेगा, टेलीफोन की सीमान्त उपयोगिता क्रमश: कम होती चली जायगी।

(५) प्राय यह कहा जाता है कि मुद्रा तथा रुपये-पैसे के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि मुद्रा की इच्छा कभी भी तृप्त नहीं होती। वह बराबर बढती ही जाती है। अन्य वस्तुओं के साथ तो यह कहना ठीक है कि एक सीमा के बाद यदि किसी व्यक्ति को और अधिक परिमाण में एक वस्तु दी जाय, तो वह मना कर देगा, किन्तु मुद्रा के सम्बन्ध मे ऐसा कहना ठीक न होगा। क्या यह सम्भव है कि कोई मनुष्य कभी यह कहेगा कि "बस, अब मुझे और अधिक मुद्रा व द्रव्य पाने की इच्छा नही है, मेरी यह इच्छा पूर्णत तृप्त हो चुकी है।" साधारणत किसी को इस प्रकार कहते हुए सुना नही जाता। इसका एक मुख्य कारण है। मुद्रा कोई एक वस्तु नही है। यह तो भिन्न-भिन्न वस्तुओ का एक सम्मिलित रूप है। यह एक क्रय-शक्ति है जिससे प्राय सभी वस्तुए प्राप्त की जा सकती है। चूकि मनुष्य की कुल आवश्यकताओ की कोई सीमा नही है, इसलिए मुद्रा की इच्छा भी साधारणत सीमित नहीं होती। इससे आवश्यकता-पूर्ति की अनेकानेक वस्तुओ को खरीदा जा सकता है। अत मुद्रा को बजाय एक वस्तु मानने के वस्तुओ का समुच्चय या सम्मिलित रूप मानना अधिक न्यायोचित होगा।

फिर भी यह मानना पडेगा कि सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम मुद्रा के सम्बन्ध में भी लागू होता है। जैसे-जैसे किसी के पास मुद्रा का परिमाण बढता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसके लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है। यही कारण है कि एक गरीब मनुष्य के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता एक धनी मनुष्य से अधिक होती है। उदाहरण के लिए एक आना अमीर आदमी के लिए कोई विशेष महत्व नही रखता। उसकी जेब से यदि कही वह गिर जाय, तो शायद ही वह उसके लिए चिन्ता करेगा। पर वही एक आना एक गरीब व्यक्ति के लिए बडी रकम है। यदि उसकी जेब से कही वह इकन्नी गिर जाय तो वह व्यक्ति उसकी कई घण्टो तक तलाश करेगा और न मिलने पर अपने

भाग्य को कोसेगा। इससे यह साफ जाहिर है कि रुपये की सीमान्त उपयोगिता गरीब आदमी के लिए अधिक होती है और धनी के लिए कम। गरीब आदमी के पास रुपये की कमी होती है। इस कारण रुपये की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए अधिक होती है। एक धनवान के पास मुद्रा अधिक परिमाण में होने के कारण मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए कम होती है।

एक दूसरा उदाहरण ले लें। महीने के शुरू में जब किसी विद्यार्थी को घर से रुपये मिलते हैं तो वह कुछ दिनों दिल खोल कर खर्च करता है। वह सिनेमा देखता है, अक्सर होटल जाता है और अच्छे ढंग से अपने साथियों की दोस्ती निबाहता है। पर जब महीने के अन्त में जेब खाली होने लगती है तो वह सावधानी से खर्च करने लग जाता है। हर तरह की फिजूलखर्ची वह बन्द कर देता है। उस समय एक रुपया उसे दो रुपये के बराबर मालूम होने लगता है। अर्थात् रुपये की सीमान्त उपयोगिता महीने के अन्त में बहुत बढ़ जाती है। यह रुपये की कमी के कारण होता है। महीने के शुरू में जब रुपये की अधिकता होती है तब रुपये की सीमान्त उपयोगिता इतनी नहीं होती। जैसे-जैसे पास में रुपया कम होता जाता है वैसे-वैसे रुपये की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। अस्तु, घटती उपयोगिता का नियम मुद्रा के सम्बन्ध में भी लागू होता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम लगभग सभी स्थानों पर लागू होता है। अर्थशास्त्र का यह सब से मौलिक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसी पर माँग का नियम, उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त, सम-सीमान्त उपयोगिता नियम, आधुनिक कर सिद्धान्त आदि अनेक आर्थिक नियम अवलम्बित हैं। व्यावहारिक जीवन में भी इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है।

QUESTIONS

1 What is utility? Can it be measured? If so, how?

2 What is marginal utility ? Examine the relation between marginal and total utility

3 Define and fully illustrate the Law of Diminishing Marginal Utility

4 Explain the Law of Diminishing Utility What is the implication of 'other things being equal ?'

5 Is the Law of Diminishing Utility universal ? Examine some of the alleged exceptions to this law

6 What is marginal utility ? Do you think that the marginal utility of money also decreases as its stock increases ?

अध्याय ११

मांग

(Demand)

अर्थशास्त्र म 'माग' (demand) शब्द का आशय मनुष्य की उस इच्छा से है जिसकी पूर्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन है और वह उस साधन को उस इच्छा की तृप्ति के लिए खर्च करने को तैयार भी है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की चाह करता है, पर उसमे उस वस्तु को खरीदने की शक्ति नही है या वह उस शक्ति को काम मे लाने के लिए तैयार नही है, तो उसकी वह चाह इच्छा ही कही जायगी, माग नही। अस्तु किसी वस्तु की माग से तीन बातो का बोध होता है। एक तो यह कि उस वस्तु की इच्छा है, दूसरे उसके खरीदने के लिए पर्याप्त साधन है और तीसरे यह कि उस वस्तु को उसका मूल्य देकर खरीदने की मानसिक प्रेरणा भी है। मनुष्य की उन्ही इच्छाओ को हम माग मे सम्मिलित करेंगे जिनमें ये तीनो बाते मौजूद हो। उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी व्यक्ति को एक मेज, जिसका मूल्य दस रुपया है, खरीदने की इच्छा है। यदि उसके पास दस रुपये हैं, और वह उन रुपयों को अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए देने को तैयार है, तो उसकी वह इच्छा माग कही जायगी।

माग के माने एक खास कीमत और समय का होना बहुत जरूरी है। माग सदा एक निश्चित कीमत पर होती है। बिना किसी खास कीमत के माग का कोई अर्थ नहीं होता। जैसे केवल यदि इतना कहा जाय कि १०० साइकिलों की माग है, तो इसका कोई अर्थ न होगा, क्योकि साइकिल की माग हर कीमत पर एक समान न रहेगी। भिन्न-भिन्न कीमतो पर साइकिल

की भिन्न-भिन्न मात्राएं मोल ली जाएगी, अर्थात् साइकिल की माग भिन्न-भिन्न होगी। इसलिए प्रत्येक माग के साथ हमेशा एक खास कीमत जुड़ी रहती है। माग के सम्बन्ध में दूसरी जरूरी बात है समय। कोई भी माग एक खास समय में ही कारगर मानी जायगी जैसे प्रतिदिन, सप्ताह, माह या वर्ष। हम यह कह सकते है कि अमुक वस्तु की माग प्रति सप्ताह या माह १०० है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम माग की परिभाषा इस ढग से कर सकते है—माग किसी वस्तु की उस मात्रा को कहते है जो एक निश्चित कीमत और समय में खरीदी जाती है।

माँग-सूची
(Demand Schedule)

किसी वस्तु की माग का पूरी जानकारी के लिए यह मालूम करना आवश्यक है कि भिन्न भिन्न कीमतों पर उस वस्तु की कितनी-कितनी माग होगी। जब तक हमें इस बात का पूरा पता न हो, तब तक हम उस वस्तु की माग का ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकते। यदि एक कोष्टक तैयार किया जाय जिसमें एक ओर किसी वस्तु की कीमतें दी गयी हों और दूसरी ओर उन कीमतों के सामने उस वस्तु की माग दिखाई गई हो, तो उस कोष्टक को उस वस्तु की माग की सारिणी अथवा माग-सूची (Demand Schedule) कहेंगे। अर्थात् माग की सारिणी वह सूची या फेहरिस्त है जिसमें यह मालूम होता है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राए एक व्यक्ति या कई लोग किन दामों में खरीदेंगे।

माग-सूची से यह ज्ञात होता है कि किसी समय में एक वस्तु की माग भिन्न-भिन्न कीमतों पर कितनी-कितनी होगी। यह बात उदाहरण द्वारा और स्पष्ट की जा सकती है। नीचे एक मनुष्य की आम की माग-सूची का एक नमूना दिया जाता है।

कीमत की आम	माग की मात्रा
८ पैसे	२
७ ,,	४
६ ,,	६
५ ,,	८
४ ,,	१०
२ ,,	१४

ऊपर दी हुई सूची एक व्यक्ति की माग-सूची (Individual Demand Schedule) है। इससे उसकी माग की पूरी जानकारी हो सकती है। इसके देखने से हमें पता चलता है कि जैसे-जैसे कीमत घटती है, वैसे-वैसे माग बढ़ती है और जैसे-जैसे कीमत बढ़ती है, वैसे ही वैसे माग घटती है। जब कीमत ८ पैसे की आम है, तो माग की मात्रा केवल २ है। जब कीमत ५ पैसे है तो माग की मात्रा बढ़कर ८ आम हो जाती है, और २ पैसे की आम होने पर माग की मात्रा १४ हो जाती है। अस्तु, माग-सूची से यह पता चलता है कि भिन्न-भिन्न कीमतों पर किसी वस्तु की कितनी-कितनी मात्राएं खरीदी जाएगी।

बाजार की माग-सूची (Market Demand Schedule) भी इसी प्रकार तैयार की जा सकती है। यदि हम बाजार के सभी व्यक्तियों की माग-सूचियों को मिलाकर एक मे जोड़ दे, तो बाजार की माग-सूची

निकल आयेगी। किन्तु यह काम बहुत कठिन है। सभी व्यक्तियों की एक सम्मिलित माग-सूची निश्चित करना निस्सदेह बहुत कठिन है। कारण, सब व्यक्ति एक ही तरह के नहीं होते। उनकी आय, रुचि, स्वभाव, आदि में बहुत भिन्नता होती है। इसलिए उनकी माग-सूचिया एक-सी नही होगी और फिर सबकी पृथक्-पृथक् सूची तैयार करके एक मे मिलाना और भी कठिन है। वास्तव मे बाजार की माग-सूची बिल्कुल ठीक-ठीक तैयार करना असभव-सा है। यहा पर तो केवल अन्दाजे के आधार पर ही काम किया जा सकता है। बाजार की माग-सूची बनाने के लिए हमे एक औसत दर्जे के साधारण व्यक्ति की माग-सूची को लेकर बाजार के कुल व्यक्तियों की सख्या से गुणा करना पड़ेगा। इसके गुणन द्वारा जो सूची निकलेगी, वही बाजार की माग-सूची होगी। इस सूची से बाजार की माग की पूरी जानकारी हो सकेगी। इस जानकारी का बहुत महत्व है, विशेष-कर सरकार और व्यापार की दृष्टि से।

माग-सूची के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। किसी वस्तु की माग बहुत-सी बातो पर निर्भर होती है, जैसे उस वस्तु की कीमत, ग्राहको की सख्या, उनकी रुचि, आय, प्रतियोगी वस्तुओ की कीमतें, आदि। जब कोई माग-सूची तैयार की जाती है, तो यह मान लिया जाता है कि उस वस्तु की कीमत के अतिरिक्त अन्य बातो मे कोई परिवर्तन नही होता। अन्य बातो मे परिवर्तन होने पर माग की एक नयी सूची तैयार करनी पड़ेगी। स्पष्ट शब्दो मे, माग-सूची केवल यह बताती है कि अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, किसी वस्तु की माग की मात्रा भिन्न-भिन्न कीमतों पर कितनी होगी।

माग-रेखा

(Demand Curve)

माग-सूची को रेखा-चित्र द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है जिसे 'माग-रेखा' कहते हैं। ऊपर दी हुई एक व्यक्ति की माग-सूची को रेखा द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है —
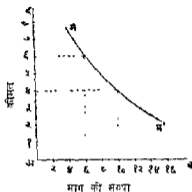
इस चित्र मे 'म म' माग की रेखा है। इसका झुकाव नीचे की ओर है, और साधारणत माग-रेखा का झुकाव नीचे की ओर ही होता है। ऊपर दिए हुए रेखा-चित्र को देखने से मालूम होता है कि जब आम की कीमत ६ पैसे है, तो माग की मात्रा ६ है, और २ पैसा फी आम की कीमत होने पर माग की मात्रा बढकर १४ हो जाती है। इससे भी यही प्रकट होता है कि कीमत के घटने से माग बढती है, और कीमत के बढने से माग घटती है। यही माग का नियम है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन नीचे किया जाता है।

माग का नियम

(Law of Demand)

माग का नियम कीमत और माग के बीच का परस्पर सम्बन्ध बतलाता है। साधारणतया माग कीमत के विपरीत घटती-बढती है। कीमत के घटने पर माग बढती है, और कीमत के बढने पर माग घटती है। यही माग का नियम है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है: अन्य बाते पूर्ववत् रहने पर, कीमत के घटने से माग में वृद्धि होने की प्रवृत्ति

होती है, और कीमत के बढ़ने पर माग म घटने की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् अन्य चीजो के यथास्थिति रहने पर, किसी वस्तु की माग का घटना-बढ़ना कीमत के घटने-बढ़ने पर निर्भर रहता है। कीमत के कम होने से माग बढ जाती है और कीमत के बढने से माग घट जाती है। पर यहा ध्यान रहे कि माग का नियम कीमत और माग के घटने-बढ़ने मे कोई अनुपातिक सम्बन्ध निर्धारित नही करता। यह जरूरी नही है कि जिस अनुपात से कीमत घटे-बढे, माग भी उसी या किसी निश्चित अनुपात से बढे-घटे। माग का नियम केवल इतना ही बतलाता है कि अन्य बातो के वैसे ही रहने पर, माग कीमत के विपरीत घटती-बढ़ती है।

प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यो है? क्यो माग की रेखा का झुकाव नीचे की ओर होता है? अर्थात् क्यों कीमत के घटने से माग बढ़ती है और कीमत के बढने से माग घटती है? इसका उत्तर यह है कि माग का यह *नियम सीमात उपयोगिता-ह्रास नियम से निकला है।* सीमात उपयोगिता-ह्रास नियम से यह पता चलता है कि किसी वस्तु के परिमाण में वृद्धि होने से उसकी सीमान्त उपयोगिता क्रमश गिरती जाती है। अत बाद म ली जाने वाली इकाइयों के लिए मनुष्य कम ही कम कीमत देने को तैयार होगा क्योकि उनसे उसे क्रमश घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होगी। अस्तु, कीमत कम होने पर मनुष्य किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदने को तैयार हो जायगा क्योकि ऐसी दशा म बाद वाली इकाइयो के खरीदने म उसे हानि न होगी। इसी प्रकार यदि कीमत बढ जाय तो वह उन इकाइयो को न खरीदेगा जिनकी उपयोगिता कीमत से कम होगी। फलस्वरूप माग घट जायगी।

इसी बात को एक दूसरे तरीके से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो किसी वस्तु की कीमत घट जाती है। इसका एक परिणाम तो यह होगा कि मनुष्य की क्रय-शक्ति (purchasing power) बढ जायगी। इसके कारण वह उस वस्तु को और खरीदने

के लिए तैयार हो सकेगा, अर्थात् माग में वृद्धि होगी। दूसरा परिणाम यह होगा कि वह वस्तु अन्य प्रतियोगी वस्तुओ की अपेक्षा सस्ती हो जायगी। इसलिए लोग उसे अधिक खरीदने लगेगे और फलस्वरूप माग बढ जायगी। इसी प्रकार मान लो कि वस्तु की कीमत बढ जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि एक तरफ तो लोगो की क्रय-शक्ति और उनकी वास्तविक आय घट जायगी, और दूसरी ओर वह वस्तु अन्य प्रतियोगी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक महगी हो जायगी। इन दोनो के प्रभाव से उस वस्तु की माग घट जायगी।

अन्य आर्थिक नियमो की तरह यहा पर भी वही शर्त लगी हुई है कि "अन्य बाते पूर्ववत् रहे"। हम ऊपर कह चुके है कि माग की मात्रा भाव के घटने पर बढती है, और भाव के बढने पर घटती है। पर सम्भव है कि अन्य बातो मे परिवर्तन होने से ऐसा न हो। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु का फैशन हट गया है, तो उसकी कीमत मे काफी कमी होने पर भी वस्तु की माग न बढेगी, अपितु घटती ही जायेगी। इसी तरह मान लो किसी वस्तु की कीमत उतनी ही रहती है, परन्तु उपभोक्ता की आय बढ जाती है। ऐसी स्थिति मे सम्भवत वह उस वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे मोल लेगा। जनसख्या, रीति-रिवाज, वस्तु के गुण आदि में परिवर्तन होने से, सम्भव है, माग मे उलटा परिवर्तन हो। इसलिए माग का नियम तभी सिद्ध हो सकेगा जबकि अन्य बातें पूर्ववत् या यथास्थिति रहे।

माग मे परिवर्तन

(Changes in Demand)

माग मे परिवर्तन दो कारणो से हो सकता है एक तो कीमत मे परिवर्तन होने के कारण और दूसरे फैशन, जनसख्या, धन-वितरण, लोगो की आय, आदत, परिस्थिति आदि अन्य बातो के बदलने के कारण। कीमत का प्रभाव माग पर बहुत पडता है, पर माग मे केवल कीमत के द्वारा ही परिवर्तन नही होता, बल्कि अन्य बातो का भी काफी प्रभाव पडता

हैं। मनुष्य की आदत अथवा फैशन में उलट-फेर होने के कारण माग में बहुत परिवर्तन हो जाता है। कितनी ही वस्तुए ऐसी है जिनकी माग, फैशन बदलने के कारण, बिलकुल ही गिर गई है। इसके विपरीत फैशन के प्रभाव से बहुत-सी वस्तुओं की माग मे अत्यधिक वृद्धि हो गई है। जनसख्या के घटने और बढने के कारण भी माग मे बहुत परिवर्तन आ जाता है। यदि जनसख्या किसी कारण बढ जाय, तो साधारणत इसका परिणाम यह होगा कि वस्तुओ की माग मे वृद्धि होगी। सम्भव है कुछ वस्तुओ की माग औरो की अपेक्षा कम या अधिक बढे। इसी तरह यदि कुछ लोग पहले से धनी हो जाय और कुछ गरीब, तो कई वस्तुओ की माग पहले से अधिक हो जायगी, और कई वस्तुओ की कम।

इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि केवल कीमत के ही घटने-बढने का प्रभाव माग पर नही पडता, बल्कि अन्य बातो से भी माग में परिवर्तन होता है। माग मे इन दो तरह के परिवर्तनो मे काफी अन्तर और भिन्नता है। इसलिए इन दो तरह के परिवर्तनो का अलग-अलग विवेचन करना आवश्यक है।

जब फैशन, रुचि, स्वभाव, स्थिति, आय, आदि अन्य बातों के बदल जाने के कारण माग मे वृद्धि होती है, तो उसे माग की प्रबलता (Increase of Demand) कहते है। इसका यह अर्थ होता कि है उसी कीमत पर लोग किसी वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक परिमाण मे खरीदते है या पहले से अधिक कीमत पर भी उतने ही परिमाण में उस वस्तु को खरीदते है। जब कीमत कम हो जाने से माग मे वृद्धि होती है, तो उसे माग का प्रसार (Extension of Demand) कहते है। अस्तु, माग की प्रबलता और प्रसार का अन्तर स्पष्ट है। माग की प्रबलता अन्य बातो के कारण होती है और माग का प्रसार कीमत के कारण होता है। माग की प्रबलता वस्तु की कीमत के बढने का एक कारण होती है, परन्तु माग का प्रसार कीमत के कम होने का फल है।

इसके विपरीत जब फैशन, जनसंख्या, आय, आदि में परिवर्तन होने के कारण किसी वस्तु की माग कम हो जाती है तो उसे माग की शिथिलता (decrease of demand) कहते है । इसका आशय यह है कि लोग उस वस्तु को उसी कीमत पर पहले की अपेक्षा कम खरीदने को तैयार है, अथवा कम कीमत पर भी उतने ही परिमाण मे वे उस वस्तु को खरीदते है । मूल्य के बढने से जब माग गिर जाती है, तो उसे माग की घटी अथवा सिकोड (contraction of demand) कहते है। माग की शिथिलता से कीमत मे कमी होने की सम्भावना रहती है, लेकिन माग की घटी कीमत क बढने का परिणाम है ।

माग मे इन परिवर्तनो को एक रेखा-चित्र खीच कर दिखाया जा सकता है। इससे इस बात को समझने में और भी आसानी होगी।
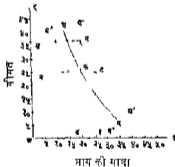
'अ ब' पर माग की मात्रा दिखाई गई है और 'अ द' पर कीमत। मोटी म म रेखा माग की पहली रखा है। यह इस आधार पर खीची गई है कि अन्य बाते पूर्ववत् है । इस रखा पर चलते हुए माग का प्रसार और माग की घटी दिखाई जा सकती है। जैसे जब हम इस रेखा पर

नीचे की ओर चलेंगे, तो इससे माग का प्रसार (कीमत के घटने पर माग की वृद्धि) प्रकट होगी । और जब ऊपर की ओर चलेंगे तो माग की घटी (कीमत के चढने से माग का घटना) दिखाई देगी। यदि कीमत 'अ न' है तो माग की मात्रा 'अ व' होगी। जब कीमत घटेगी तो माग की मात्रा बढेगी, और कीमत के बढने पर माग की मात्रा कम होगी।

मान लो अन्य बातो मे परिवर्तन हो जाता है, तो उस दशा मे 'ग म' रेखा बेकार हो जायगी क्योकि यह रेखा अन्य बातो के यथास्थिति रहने के आधार पर खींची गयी थी । जब अन्य बातें (रीति-रिवाज, फैशन, स्वभाव, रुचि, आय, जनसख्या, आदि) बदल जायेंगी, तो निश्चय ही हमे एक नई माग की रेखा खीचनी पडेगी । वह नई परिस्थितियो के आधार पर खींची जायगी। मान लो रीति-रिवाज, आमदनी, स्वभाव, आदि के बदल जाने के कारण लोग उसी वस्तु को पहली कीमत पर अधिक मात्रा में खरीदने लग जाते हैं अथवा पहले से ऊची कीमत पर उतनी ही मात्रा मे खरीदते है, अर्थात् माग प्रबल हो गई है। तो इस बात को (अर्थात् माग की प्रबलता को) दिखाने के लिए हमें माग की एक दूसरी रेखा खीचनी पडेगी । यह रेखा पहली रेखा के ऊपर होगी। इस चित्र मे ' म म' रेखा माग की प्रबलता को दिखाती है। इसके देखने से पता चलता है कि लोग पहली कीमत (अ न) पर अधिक मात्रा मे ('अ र' मात्रा जो 'अ ब' से अधिक है) खरीदते है, अथवा उसी मात्रा के लिए ('अ ब') अधिक कीमत देते है ('अ ल' जो 'अ न' कीमत से अधिक है) । इसी को माग की प्रबलता कहते है।

इसी तरह जब हमे माग की शिथिलता दिखानी होगी तो पहली माग की रेखा की बाई ओर, अर्थात् उसके नीचे रेखा खीचेंगे । जैसे इस चित्र मे "म म" रेखा माग की शिथिलता दिखाती है। इससे ज्ञात होता है कि वस्तु, अब परिस्थिति के बदल जाने के कारण, पहली कीमत पर कम परिमाण मे खरीदी जाती है अथवा पहले से कम कीमत पर भी पहले

वे बराबर ही मात्रा में खरीदी जाती है। माग की शिथिलता का यही अर्थ होता है।

माँग की लोच

(Elasticity of Demand)

माग के नियम के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि कीमत में परिवर्तन होने से माग में परिवर्तन हो जाता है। साधारणत: किसी वस्तु की कीमत के बढ जाने से, उस वस्तु की माग घट जाती है और कीमत के घटने से उसकी माग बढ़ जाती है। माग मे इस प्रकार के परिवर्तन होने के गुण, शक्ति अथवा विशेषता को अर्थशास्त्र में 'माग की लोच' (elasticity of demand) कहते हैं, अर्थात् कीमत के बदलने पर माग जिस गति से बदलती है, उसे माग की लोच कहते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माग की लोच भिन्न-भिन्न होती है। कुछ वस्तुओं की माग अधिक लोचदार होती है, और कुछ की कम। यदि कीमत मे थोडा-सा परिवर्तन होने से किसी वस्तु की माग मे बहुत परिवर्तन होता है, तो उस वस्तु की माग बहुत लोचदार कही जायेगी। इसके विपरीत यदि कीमत में परिवर्तन होने से, किसी वस्तु की माग में कम परिवर्तन होता है तो वह माग कम लोचदार होगी, और यदि माग में बिल्कुल भी परिवर्तन नहीं होता, तो उसे बेलोचदार माग कहेंगे। उदाहरण के लिए मान लो कि साइकिल की कीमत कुछ गिर जाती है। यदि इसके कारण साइकिल की माग बहुत बढ जाती है, तो हम कहेंगे कि साइकिल की माग बहुत लोचदार है। यदि साइकिल की माग में थोडी-सी ही वृद्धि होती है, तो माग कम लोचदार मानी जायगी, और यदि मांग पर मूल्य के कम होने का लेशमात्र भी प्रभाव नही पडता, तो उस दशा मे साइकिल की माग बिलकुल बेलोचदार कही जायगी।

माग की लोच को रेखा द्वारा आसानी से दिखाया जा सकता है।
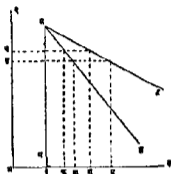
इस चित्र में माग की तीन रेखाएं दिखाई हुई हैं। मांग की 'म म' रेखा 'अ व' पर सीधी गिरती है। कीमत के परिवर्तन का इस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। 'अ न' और 'अ स' कीमतों पर माग की मात्रा 'अ र' ही रहती है। इसलिए यह रेखा बेलोचदार माग प्रदर्शित करती है। 'म ल' रेखा माग की दूसरी रेखा है। इस रेखा के अनुसार कीमत के 'अ न' से 'अ स' तक घटने पर माग की मात्रा 'अ क' से 'अ ल' तक बढ जाती है, अर्थात् कीमत मे परिवर्तन होने से माग में परिवर्तन होता है। इसलिए माग की इस रेखा मे लोच है। ठीक इसी कारण 'म र' रेखा द्वारा प्रदर्शित माग और भी लोचदार है। कीमत में परिवर्तन होने से इस माग मे बहुत परिवर्तन होता है। वस्तु, माग की जो रेखा जितनी ही 'अ व' पर सीधी गिरेगी, उतनी ही कम लोचदार होगी और जो रेखा जितनी ही 'अ व' से दूर हटती और उसके समानान्तर होती जायगी, उतनी ही अधिक वह लोचदार होगी। एक ही रेखा के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर माग की लोच भिन्न भिन्न हो सकती है।

लोच का निर्धारित होना

(Factors Determining Elasticity)

भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माग की लोच भिन्न-भिन्न होती है। यही नहीं, बल्कि एक ही वस्तु की माग की लोच अलग-अलग श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होती है। अब हम यहा पर यह विचार करेंगे कि कुछ वस्तुओ की माग, अन्य वस्तुओ की माग की अपेक्षा, क्यो अधिक या कम लोचदार होती है। माग की लोच कई बातों पर निर्भर करती है। इनमे से मुख्य-मुख्य बाते नीचे दी जाती है —

(१) **वस्तु की प्रकृति**—साधारणत आवश्यक वस्तुओं की माग बेलोचदार होती है और आराम तथा शौक की वस्तुओ की माग में अधिक लोच होती है। कारण यह है कि जो वस्तुए जीवन के लिए आवश्यक होती है, उनकी माग मे हम कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर सकते। चाहे उनकी कीमत कुछ भी हो, हमे ऐसी वस्तुओं को एक परिमाण मे खरीदना ही पडता है। दूसरे शब्दो मे, कीमत के घटने-बढने पर आवश्यक वस्तुओ की माग की मात्रा बढाने और घटाने की अधिक गुजाइश नही रहती। पर आराम तथा शौक की वस्तुओ के साथ ऐसी बात नही है। उनकी कीमतो मे परिवर्तन होने से उनकी माग काफी घटाई-बढाई जा सकती है। यदि शौक की वस्तुओ की कीमते बढ जायँ तो उनकी खरीद कुछ समय के लिए बन्द या कम की जा सकती है। इसी तरह यदि उनकी कीमत कम हो जाय, तो ऐसी वस्तुओं की माग बहुत बढ सकती है। इसलिए आराम तथा शौक की वस्तुओ की माग अपेक्षाकृत अधिक लोचदार होती है, और आवश्यक वस्तुओ की माग कम लोचदार।

(२) **कीमत**—माग की लोच कीमत के साथ सीधे तौर से घटती-बढती है। साधारणत किसी वस्तु की माग की लोच ऊची कीमत पर अधिक होती है, बीच की कीमत पर कुछ कम और बहुत नीची कीमत पर माग लगभग बेलोच होती है। यदि किसी ऊची कीमत वाली वस्तु की

कीमत गिर जाय, तो बहुत-से लोग जो पहले नही खरीद सकते थे, अब उसे खरीदने लगेंगे, और यदि उसकी कीमत बढ जाय तो कुछ लोग उस वस्तु को खरीदना बन्द कर देंगे, और कुछ अपनी माग की मात्रा पहले से कम कर देंगे। इस तरह कीमत में परिवर्तन होने से कीमती वस्तु की माग बहुत बदल जाती है। अत ऊची मूल्य वाली वस्तु की माग बहुत लोचदार होती है। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु की कीमत बहुत कम है जिससे कि वह सभी लोगों की पहुच के भीतर है और सब अपनी आवश्यकतानुसार उस वस्तु को पहले से ही खरीद रहे है, तो मूल्य के थोड़ा घटने या बढने पर उस वस्तु की माग में कोई विशेष परिवर्तन न होगा। अस्तु, कम कीमत वाली वस्तुओ की माग लगभग बेलोच होती है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि माग की लोच कीमत के साथ-साथ बदलती है।

इस सम्बन्ध मे एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्तियो के लिए ऊची, मध्यम और कम कीमतो का स्तर अलग-अलग होता है। एक ही कीमत धनी के लिए नीची लेकिन मजदूरो के लिए ऊची होगी। दो रुपये सेर अगर धनी मनुष्य के लिए कम कीमत वाली वस्तु होगी, परन्तु गरीब के लिए वही ऊची कीमत वाली वस्तु है। इसलिए किसी वस्तु की ऊची, मध्यम और नीची कीमतों को एक विशेष श्रेणी के मनुष्यो के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। स्वतन्त्र रूप से उनका कोई अर्थ न होगा।

(३) आदत—मनुष्य की आदतो का भी माग की लोच पर काफी प्रभाव पडता है। जिन वस्तुओ के उपभोग के हम आदी बन जाते है, उनकी माग लोचदार नही होती। ऐसी वस्तुओ की माग मे मूल्यानुसार परिवर्तन करने की शक्ति हममे नही रहती। कारण, हम अपनी आदतो के एक तरह से गुलाम होते है, अपनी आदतो को हम आसानी से नही बदल सकते। किन्तु अन्य वस्तुओ के साथ ऐसी बात नही है। कीमत के घटने-बढने के साथ-साथ हम उन वस्तुओ की माग अच्छी तरह से बढा-घटा

सकते है। अतएव उन वस्तुओ की माग, जिनके हम आदी नही बन गये है, अधिक लोचदार होती है।

(४) विभिन्न उपयोग (variety of uses)—कुछ वस्तुए ऐसी होती है जो अनेक कार्यो मे प्रयोग की जा सकती है, जैसे बिजली कोयला, लोहा, दूध, आदि। इन वस्तुओ की कीमत घट जाने पर इनकी माग बहुत बढ जाती है। कीमत कम हो जाने से ये वस्तुए उन स्थानो मे भी प्रयोग की जाने लगती है जहा पहले, कीमत अधिक होने के कारण, इनका प्रयोग नही होता था। उदाहरण के लिए बिजली को ही ले लो। बिजली को कई स्थानो या कार्यो के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इससे रोशनी का काम ले सकते है, भोजन तैयार कर सकते है, पखा अथवा रेडियो चला सकते है। ये सब काम एक समान आवश्यक नही है। इसलिए जब बिजली की कीमत घट जायगी तो कम आवश्यक स्थानो मे भी इसका प्रयोग होने लगेगा। अर्थात् बिजली की माग बहुत बढ जायगी। इसके विपरीत जब बिजली की कीमत बढ जायगी, तो इसका उपयोग कम आवश्यक स्थानो पर बन्द कर दिया जायगा। तब बिजली केवल आवश्यक कार्यों में ही प्रयोग की जाने लगेगी और वहा भी बहुत सीमित मात्रा मे। फलस्वरूप बिजली की माग कम हो जायगी। अस्तु, विभिन्न उपयोग में आ सकने वाली वस्तुओ की माग बहुत लोचदार होती है।

(५) स्थानान्तरित वस्तुओ की संख्या (number of substitutes)—जिन वस्तुओ के स्थान पर दूसरी वस्तुए प्रयोग मे आ सकती है, उनकी माग अधिक लोचदार होती है। जितनी अधिक या कम एक वस्तु की स्थानान्तरित या प्रतियोगी वस्तुएँ होगी, उतनी ही अधिक या कम उस वस्तु की माग की लोच होगी। मोटर और ट्रेम एक दूसरे की स्थानान्तरित वस्तुएँ (substitutes) है, ये एक दूसरे के बदले में उपयोग हो सकती है। यदि मोटर का किराया बढ जाय, तो लोग ट्रेम पर जाने लगेगे। परिणामस्वरूप मोटर सवारी की माग कम

हो जायगी। यदि ट्रेम का किराया मोटर के किराये से अधिक हो जाय, तो लोग मोटर से आने-जाने लगेंगे। ट्रेम सवारी की माग, किराया बढने से, कम हो जायगी और मोटर सवारी की माग बढ जायगी। अत एक दूसरे के स्थान में प्रयोग आने वाली वस्तुओं की माग लोचदार होती है।

नमक का स्थान कोई दूसरी वस्तु नही ले सकती। कीमत बढने पर भी हमें नमक खरीदना ही पड़ेगा, क्योंकि इसके बदले में किसी अन्य वस्तु का प्रयोग नही हो सकता। इसलिए नमक की माग लोच-रहित है।

(६) **धन का वितरण**—साधारण तौर से माग की लोच धन के वितरण की समानता से बढती है और असमानता से घटती है। यदि किसी देश में धन के वितरण में बहुत असमानता है, तो माग की लोच बहुत कम होगी। जैसे-जैसे असमानता कम होती जायगी, माग की लोच बढती जायगी।

(७) **आय का प्रतिशत व्यय**— जिन वस्तुओं के खरीदने में आय का बहुत थोडा भाग खर्च होता है, उनकी माग कम लोचदार होती है, जैसे दियासलाई, सुई, आदि। इनके मूल्य में परिवर्तन होने पर भी हम इन्हें करीब-करीब पहले के ही परिमाण में खरीदते हैं।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माग की लोच क्यो भिन्न-भिन्न होती है, अथवा क्यो एक ही वस्तु की माग की लोच भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न होती है। साधारणत उन वस्तुओं की माग लोचदार होती है जिनकी कीमतें अपेक्षाकृत ऊँची होती हैं, जिनके विभिन्न उपयोग होते हैं, जिनका उपयोग भविष्य के लिए टाला जा सकता है, जिनके बदले में अन्य वस्तुएँ प्रयोग की जा सकती हैं और जो शौक व आराम की श्रेणी व वर्ग में आती हैं। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की कीमतें नीची होती हैं, जिनके स्थान पर अन्य वस्तुएँ उपयोग नहीं हो सकती, जिनके विभिन्न उपयोग सम्भव नही होते, जिन

पर आमदनी का थोडा भाग खर्च होता है अथवा जो आवश्यकता के वर्ग में आती है, उनकी माग कम लोचदार व बेलोच होती है।

लोच की माप
(Measurement of Elasticity)

माग की लोच के सम्बन्ध में केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि अमुक वस्तु की माग लोचदार है, या बेलोचदार। साथ ही हमे यह देखना होगा कि माग की लोच कितनी है। तभी व्यावहारिक जीवन मे इससे लाभ उठाया जा सकेगा।

माग की लोच मापने के दो मुख्य तरीके हैं। माग की लोच मापने का एक सरल तरीका इस प्रकार है। किसी एक विशेष कीमत पर माग की लोच मापने के लिए हम यह देखना पड़ेगा कि कीमत म परिवर्तन होने से माग मे कितना प्रतिशत परिवर्तन हुआ। दोनो के प्रतिशत परिवर्तन को भाग देने से जो भागफल निकलेगा, वही माग की लोच होगी। उदाहरण के लिए मान लो कि किसी वस्तु की कीमत २ प्रतिशत घट जाती है और इस कारण उस वस्तु की माग मे १० प्रतिशत वृद्धि होती है, तो ऐसी परिस्थिति मे माग की लोच १०/२ = ५ होगी। अस्तु, माग की लोच निम्नलिखित तरीके या रीति से मापी जा सकती है —

$$\text{माग की लोच} = \frac{\text{माग म प्रतिशत अन्तर}}{\text{कीमत म प्रतिशत अन्तर}}$$

माग की लोच एक दूसरे तरीके से भी मापी जा सकती है। यदि कीमत मे परिवर्तन होने से किसी वस्तु के खरीदने मे उतना ही खर्च होता है जितना कि पहले होता था, तो उस वस्तु की माग की लोच सम व इकाई के बराबर (equal to unit) मानी जाती है। यदि कीमत के घटने से उस वस्तु पर किया गया कुल खर्च बढ जाता है और कीमत बढने पर कुल खर्च कम हो जाता है, तो उस वस्तु की माग की लोच सम व इकाई से अधिक मानी जायगी। और जब कीमत के घटने पर किसी वस्तु के मोल लेने मे कुल खर्च कम हो जाता है अथवा

कीमत बढने पर कुल खर्च बढ जाता है, तो कहा जायगा कि उस वस्तु की माग की लोच इकाई व सम से कम है। नीचे दिये गये कोष्टक में यह बात अंको मे दिखाई गई है।

कीमत आनो में	माग की मात्रा	कुल खर्च आनो में	माग की लोच
१०	३	१० × ३ = ३०	इकाई व सम से अधिक
९	४	९ × ४ = ३६	
८	५	८ × ५ = ४०	
७	६	७ × ६ = ४२	इकाई व सम के बराबर
६	७	६ × ७ = ४२	
५	८	५ × ८ = ४०	इकाई व सम से कम
४	९	४ × ९ = ३६	
३	१०	३ × १० = ३०	

इस कोष्टक से माग की लोच का अनुमान ठीक तरह से किया जा सकता है। जब कीमत दस आने से घट कर ८ आने हो जाती है, तो कुल खर्च ३० आने से बढ कर ४० आने हो जाता है। (माग की मात्रा को कीमत से गुणा करने से कुल खर्च निकल आता है)। अतएव माग की लोच इकाई से अधिक है। जब कीमत ७ आने और ८ आने है तो कुल खर्च मे कोई परिवर्तन नहीं होता। दोनो ही कीमतो पर कुल खर्च ४२ आने है। इसलिए यहा पर माग की लोच इकाई के बराबर है। इसके बाद जैसे-

जैसे कीमत घटती जाती है, वैसे-वैसे कुल खर्च भी घटता जाता है। अस्तु, यहा पर माग की लोच इकाई से कम है।

माग की लोच का महत्त्व

(Importance of Elasticity of Demand)

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही रूपो मे माग की लोच से बडी सहायता मिलती है। इसका विशेष महत्त्व कर, मूल्य और वितरण के क्षेत्रो मे है। माग की लोच से पता चलता है कि कीमत मे परिवर्तन होने से भिन्न-भिन्न वस्तुओ की माग पर क्या प्रभाव पडेगा। इसके द्वारा यह भी मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियो अथवा भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्यो की मागो पर कीमत के घटने-बढने का क्या-कैसा फल होगा। उत्पादको, विशेष कर एकाधिकारी, को इसमे बडी सहायता मिलती है। माग की लोच मालूम कर एकाधिकारी यह भली प्रकार जान सकता है कि किस कीमत पर बेचने से उसे अधिकतम लाभ हो सकेगा। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु की माग बहुत लोचदार है, तो एकाधिकारी वस्तु की कम कीमत रखकर अधिक लाभ उठा सकता है क्योकि उस दशा मे लोग उस वस्तु को अधिक परिमाण मे खरीदेंगे। किन्तु यदि माग बेलोचदार है, तो ऊँची कीमत रखने से उसको अधिक लाभ होगा।

सरकार को भी वस्तुओ पर कर लगाते समय इस ओर काफी ध्यान देना पडता है। सरकार को यह देखना पडता है कि कर लगाने से वस्तु की कीमत में जो वृद्धि होगी उसका माग पर क्या असर पडेगा। यदि माग बहुत लोचदार है, तो उस पर कर लगाने से सरकार को कम आय होगी क्योंकि मूल्य बढने से लोग उस वस्तु की माग कम कर देंगे। इसका फल यह होगा कि सरकार को कम माल पर कर मिल सकेगा। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की माग कम लोचदार होती है, उन पर कर लगाने से सरकार को काफी आमदनी हो सकेगी। अस्तु, माग की लोच का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

QUESTIONS

1 What is meant by 'demand' in Economics?
2 Prepare an imaginary demand schedule and represent it in the form of a curve
3 Explain and illustrate the law of demand and indicate its relationship with the law of diminishing marginal utility?
4 What do you mean by 'elasticity of demand'? Explain the factors on which elasticity of demand depends
5 Show why demand expands with a fall in price and contracts with a rise in price
6 What is meant by 'increase' and 'decrease' of demand? How do they differ from 'extension' and 'contraction' of demand?
7 How can you measure elasticity of demand? State the importance of elasticity of demand

अध्याय १२

उपभोग सम्बन्धी कुछ अन्य नियम

(Some Other Laws Concerning Consumption)

पिछले दो अध्यायो मे उपयोगिता और माग सम्बन्धी नियमो का उल्लेख किया गया है। उनमें इस बात का बोध होता है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु का अधिक परिमाण होता जाता है, वैसे ही वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और इस कारण वह व्यक्ति उस वस्तु की बाद में मिलने वाली इकाइयो के लिए, परिस्थिति के अपरिवर्तित रहने पर, क्रमश घटती हुई कीमते देने को तैयार होगा। इसी के आधार पर हम इस अध्याय मे उपभोग या उपयोगिता सम्बन्धी कुछ अन्य नियमो का विवेचन करेंगे।

उपभोक्ता की बचत का नियम

(Doctrine of Consumer's Surplus)

साधारणत हम बाजार से अनेक वस्तुए खरीदते है जिनके उपभोग से हमारी आवश्यकताओ की तृप्ति होती है। हम इच्छित वस्तुओ को इसलिए खरीदते है कि उनमे उपयोगिता होती है, अर्थात् उनमे आवश्यकताओ की पूर्ति करने की शक्ति होती है। किन्तु ये वस्तुए हमे बाजार मे मुफ्त नही मिलती। इनके लिए हमे पर्याप्त मूल्य देना पडता है। जो मूल्य हम देते है उसमे भी कुछ उपयोगिता होती है क्योकि उस मूल्य से अन्य इच्छित वस्तुए खरीदी जा सकती है, और उनके उपभोग मे तृप्ति प्राप्त की जा सकती है। अस्तु, जब हम किसी वस्तु को खरीदते है तो हमे उस वस्तु से कुछ उपयोगिता प्राप्त होती है, पर साथ-ही-साथ हमे उस वस्तु की कीमत के रूप

में कुछ उपयोगिता व तृप्ति का त्याग करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, हमें एक ओर तो वस्तु से उपयोगिता मिलती है और दूसरी ओर उसके पाने के लिए कुछ उपयोगिता देनी पड़ती है। यदि वह उपयोगिता, जिसको हमें किसी वस्तु से मिलने की सभावना है, उस उपयोगिता से कम है जो उस वस्तु के प्राप्त करने मे हमें त्याग करनी पड़ेगी, तो हम उस वस्तु को नही खरीदेंगे। साधारणत किसी वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता त्याग की जाने वाली उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होती है। तृप्ति के इस अन्तर अथवा बचत को अर्थशास्त्र में "उपभोक्ता की बचत" कहते हैं। जो तृप्ति-भाव किसी वस्तु के पाने मे उस सतोष से अधिक होता है जिसका उसके लिए त्याग करना पड़ता है, उसे 'उपभोक्ता की बचत' (consumer's surplus) कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, 'उपभोक्ता की बचत' इन दो तृप्तियो के बीच का अन्तर है—एक तो जो किसी व्यक्ति को किसी वस्तु से प्राप्त होती है और दूसरी जो उसे उस वस्तु के पाने मे त्याग करनी पड़ती है। मान लो किसी वस्तु के खरीदने से एक व्यक्ति को ५० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और उसका मूल्य देने मे ४० इकाई उपयोगिता देनी पड़ती है। तो, इस उदाहरण के अनुसार, उस व्यक्ति को ५०–४० = १० इकाई उपयोगिता की बचत हुई। यही अन्तर 'उपभोक्ता की बचत' कहलाता है। यही उसकी 'उपभोक्ता की बचत' है।

'उपभोक्ता की बचत' को हम इस प्रकार माप सकते हैं। जितनी उपयोगिता या तृप्ति एक व्यक्ति को किसी वस्तु से मिलती है, वह लगभग उस मूल्य के बराबर होती है जो वह व्यक्ति उस वस्तु के लिए देने को तैयार हो सकता है। और जितनी उपयोगिता का वह त्याग करता है, वह उस मूल्य के बराबर होती है जो वास्तव में उसे देना पड़ता है। इन दोनों मूल्यों के अन्तर से (एक तो जो वह देने को तैयार हो सकता है और दूसरे जो उसे देना पड़ता है) उपभोक्ता की बचत का अन्दाजा हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लो कि तुम्हे एक मेज की बहुत आवश्यकता है और तुम उसके लिए

१५ रुपये तक देने को तैयार हो। किन्तु जब तुम बाजार जाते हो, तो मान लो, उस तरह की मेज तुम्हें १० रुपये में ही मिल जाती है। इस दशा में तुम्हें ५ रुपये की बचत होगी। उपयोगिता के हिसाब से तुम मेज के लिए १५ रुपये देने को तैयार थे, लेकिन बाजार भाव के कारण तुम्हें केवल १० रुपये ही देने पड़े। अस्तु, १० रुपये खर्च करने में तुम्हें ५ रुपये के बराबर अधिक तृप्ति प्राप्त हुई। इसलिए हम यह कहेंगे कि मेज से तुम्हें ५ रुपये के बराबर 'उपभोक्ता की बचत' हुई। इसी तरह अन्य वस्तुओं से प्राप्त होने वाली 'उपभोक्ता की बचत' को माप की जा सकती है। अधिकतर जो कीमतें हम वस्तुओं के बदले में देते हैं, वे उन कीमतों से कम होती हैं जो हम देने के लिए तैयार हो सकते हैं। दैनिक समाचार-पत्रों का मूल्य इधर कुछ समय से काफी बढ़ गया है, फिर भी हम उन्हें खरीदते हैं। सम्भव है, मूल्य के और बढ़ जाने पर भी हम उन्हें और खरीदते रहें। यही दशा अन्य वस्तुओं की भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि बहुधा हमें वस्तुओं के उपभोग से बचत होती है जिसे अर्थशास्त्र में "उपभोक्ता की बचत" कहते हैं।

उपर्युक्त बात को इस तरह भी स्पष्ट किया जा सकता है। उपयोगिता-ह्रास-नियम से यह स्पष्ट है कि वस्तु की पहली इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है और जैसे-जैसे उस वस्तु का परिमाण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे बाद में ली जाने वाली इकाइयों की उपयोगिता गिरती जाती है। किन्तु क्या हम पहली इकाई के लिए अधिक मूल्य देते हैं, दूसरी इकाई के लिए कुछ कम, तीसरी इकाई के लिए और भी कम ? बाजार में प्रत्येक इकाई का मूल्य एक ही होता है। हम किसी वस्तु को तब तक खरीदते जाते हैं, जब तक कि उसकी सीमान्त उपयोगिता मूल्य से अधिक होती है। जब सीमान्त उपयोगिता और मूल्य दोनों बराबर हो जाते हैं, तब हम उस वस्तु की खरीद बन्द कर देते हैं। अस्तु, सब इकाइयों का मूल्य तो एक होता है, पर उनकी उपयोगिता एक समान नहीं होती। केवल सीमान्त इकाई की ही उपयोगिता मूल्य के बराबर होती है। इसके पहले

वाली इकाइयों से मूल्य से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है, अर्थात् सीमान्त इकाई को छोड़कर बाकी सब इकाइयों से तृप्ति की बचत होती है। अत उपभोक्ता की बचत का अन्दाजा इस प्रकार भी हो सकता है —उपभोक्ता की बचत = कुल प्राप्त उपयोगिता-सीमान्त उपयोगिता × खरीद की मात्रा ।

उदाहरण द्वारा 'उपभोक्ता की बचत' को और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो कोई व्यक्ति भूखा है और भूख मिटाने के लिए वह रोटियाँ खरीदता है। प्रत्येक रोटी की उपयोगितानुसार वह निम्नलिखित कीमत देने को तैयार हो सकता है। मान लो कि बाजार में प्रति रोटी की कीमत २ आने है।

रोटी की संख्या	मूल्य जो वह देने को तैयार हो सकता है	बाजार भाव	उपभोक्ता की बचत
पहली	१२ आने	२ आने	(१२-२) = १० आने
दूसरी	१० ,,	२ ,,	(१०-२) = ८ ,,
तीसरी	८ ,,	२ ,,	(८-२) = ६ ,,
चौथी	६ ,,	२ ,,	(६-२) = ४ ,,
पाँचवी	४ ,,	२ ,,	(४-२) = २ ,,
छठी	२ ,,	२ ,,	(२-२) = ० ,,
कुल ६ रोटियाँ	४२ आने	१२ आने	३० आने

ऊपर के कोष्टक से यह स्पष्ट है कि वह व्यक्ति कुल ६ रोटियां खरीदेगा। कारण, रोटी की सीमान्त उपयोगिता और कीमत दोनों यहां बराबर हैं। यदि वह सातवीं रोटी लेगा, तो उसे कीमत की तुलना में कम तृप्ति मिलेगी। कीमत तो उसे दो आने देनी पड़ेगी लेकिन उपयोगिता उतनी न मिलेगी। इसलिए वह छठी रोटी के बाद और रोटियां न खरीदेगा। वह ६ रोटियों से कम भी न खरीदेगा क्योंकि इससे पहले की रोटियों से उसे कीमत की तुलना में अधिक तृप्ति प्राप्त होती है। अतः वह कुल ६ रोटियां खरीदेगा, इससे न कम, न अधिक। वह ६ रोटियों की उपयोगिता के अनुसार कुल ४२ आने देने को तैयार है, पर बाजार भाव दो आने प्रति रोटी होने के कारण उसे कुल १२ आने ही देने पड़ेंगे। अस्तु, उसे (४२-१२) = ३० आने के बराबर 'उपभोक्ता की बचत' मिलेगी।

ऊपर के उदाहरण को रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है। चित्र का रंगा हुआ भाग 'उपभोक्ता की बचत' दर्शाता है।

रोटी की संख्या
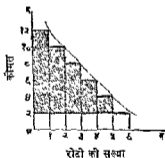
भिन्न भिन्न वस्तुओं से भिन्न भिन्न मात्राओं में उपभोक्ता की बचत मिलती है। साधारणतः आवश्यक पदार्थों में अधिक 'उपभोक्ता की बचत' मिलती है और आराम तथा शौक की वस्तुओं से कम। साधारण जीवन में काम आने वाली अनेक वस्तुओं से बहुत अधिक तृप्ति की बचत होती है, जैसे

दियासलाई, नमक, समाचार-पत्र, पोस्टकार्ड, अन्न, दूध, आदि। इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जो कीमतें हमें देनी पडती है, वे उनसे कहीं कम होती हैं जो हम देने के लिए तैयार हो सकते हैं। साधारणत इन वस्तुओं की माग कम लोचदार होती है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि जिन वस्तुओं की माग की लोच कम होती है, उनसे अधिक 'उपभोक्ता की बचत' मिलती है।

ऊपर यह बतलाया गया है कि किसी वस्तु की खरीद से 'उपभोक्ता की बचत' कैसे निकाली जाती है। जब हम किसी व्यक्ति के उपभोग की सभी वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचतो को जोड लेंगे, तो उस व्यक्ति की कुल 'उपभोक्ता की बचत' मालूम हो जायगी। और इसी प्रकार कुल व्यक्तियों की व्यक्तिगत उपभोक्ता की बचतों को जोडकर मण्डी की 'कुल उपभोक्ता की बचत' प्राप्त की जा सकती है। इसके आधार पर हम भिन्न-भिन्न समय और स्थानों पर भिन्न-भिन्न मनुष्यों की सम्पन्नताओं की तुलना कर सकते हैं। साधारण रूप से यह माना जाता है कि उपभोक्ता की बचत जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक सम्पन्नता होगी।

किन्तु 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धान्त पर अनेक प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसका विवेचन केवल कपोल-कल्पित है, वास्तविक नहीं। यह कहना कि किसी व्यक्ति को अपनी १०० रुपये की आमदनी से १००० रुपए की उपयोगिता प्राप्त होती है, फिजूल है; इससे कोई लाभ नहीं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जीवन-रक्षक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। कोई व्यक्ति किसी-जीवन-रक्षक पदार्थ के लिए कितना दे सकता है, इसका हिसाब लगाया ही नहीं जा सकता। और फिर इसके बिना 'उपभोक्ता की बचत' का अनुमान कैसे हो सकता है। इसलिए यह नियम अधूरा है। साथ ही कुछ लोग यह कहते हैं कि 'उपभोक्ता की बचत' की माप नहीं की जा सकती।

इसके वे कई कारण बताते हैं। एक तो यह है कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बराबर नहीं रहती, वह बदलती जाती है। दूसरे, पूरी-पूरी माग की सूची तयार नहीं की जा सकती। यह पता लगाना कठिन है कि लोग भिन्न-भिन्न सम्भव कीमतों पर किसी वस्तु को कितनी-कितनी मात्रा में खरीदने को तयार होंगे। साधारणत जो कीमतें मण्डी में चालू होती हैं, उनके आस-पास की कीमतों की सूची तो बनाई जा सकती है, लेकिन अन्य कीमतों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए पूरी माग की सूची तैयार करना असम्भव है। फिर भला किस प्रकार 'उपभोक्ता की बचत' को ठीक-ठीक मापा जा सकता है। और बिना इसके 'उपभोक्ता की बचत' का क्या-कितना वैज्ञानिक महत्त्व रह जायगा।

इस तरह के अनेक आक्षेप 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धान्त पर लगाए जाते हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यह केवल भ्रमात्मक है, इसमें कोई तथ्य नहीं है। लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह तो ठीक है कि 'उपभोक्ता की बचत' का सही माप नहीं हो सकता, पर यह मानना पड़ेगा कि यह कपोल-कल्पित नहीं है। हम अपने दैनिक जीवन में इसका प्रतिदिन अनुभव करते हैं। कितनी ही वस्तुएं ऐसी हैं जिनसे हमें उनकी कीमतों से कहीं अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यही 'उपभोक्ता की बचत' है।

उपभोक्ता की बचत का महत्त्व

(Importance of Consumer's Surplus)

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से 'उपभोक्ता की बचत' का बहुत महत्त्व है। इस सिद्धान्त से वस्तु की कीमत और उसकी उपयोगिता के बीच का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इससे हमें इस बात का बोध होता है कि कीमत के द्वारा किसी वस्तु की कुल उपयोगिता का सही-सही अन्दाजा नहीं हो सकता। कीमत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। इसलिए इससे वस्तु की केवल सीमान्त उपयोगिता की ही माप हो सकती है,

उसकी समस्त उपयोगिता की नहीं। आम तौर से बाजार में वस्तुओं के लिए जो कीमतें देनी पड़ती है, उनसे कहीं अधिक उन वस्तुओं से उपयोगिता प्राप्त होती है। अर्थात् उनसे 'उपभोक्ता की बचत' मिलती है।

दूसरे, 'उपभोक्ता की बचत' के द्वारा उन लाभो का अनुमान हो सकता है जो मनुष्यो को परिस्थितियो के कारण, राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक वातावरण के कारण अनायास प्राप्त होते है। जो व्यक्ति सभ्य समाज मे, उन्नत तथा प्रगतिशील देश मे रहते है, उन्हे विविध प्रकार की वस्तुए बहुत सस्ते दामो मे प्राप्त हो जाती है। असभ्य या पिछड़े हुए देशों मे ये वस्तुए कई गुना अधिक खर्च करने पर भी आसानी से नहीं मिल सकतीं। अस्तु, सभ्य देश या स्थान के निवासियो को वहा की परिस्थितियों के कारण अधिक 'उपभोक्ता की बचत' प्राप्त होती है।

तीसरे, इस सिद्धान्त के द्वारा भिन्न-भिन्न मनुष्यो की, भिन्न-भिन्न समाज, समय और स्थान की सम्पन्नताओ की तुलना करके आर्थिक दशा और प्रगति का पता लगाया जा सकता है। यदि किसी देश म, दूसरे देश के मुकाबले में 'उपभोक्ता की बचत' अधिक मात्रा में प्राप्त होती है तो, अन्य बातो के समान रहने पर, वह देश अधिक सम्पन्न, सभ्य और सुसगठित माना जायगा। इसी प्रकार एक ही देश के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न समय पर आर्थिक दशा व प्रगति का तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है। इस तरह का तुलनात्मक विवेचन हर दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

चौथे, कर लगाते समय सरकार को इस सिद्धान्त से बडी सहायता मिलती है। सरकार को यह देखना पड़ता है कि लोग किसी वस्तु के लिए कितना देने को तैयार है, और कर लगाने से कीमत मे जो वृद्धि होगी, उसका उन पर क्या-कैसा प्रभाव पडेगा। 'उपभोक्ता की बचत' के अध्ययन से इस तरह की जानकारी हो सकती है। अस्तु, कर लगाते समय इस सिद्धान्त से काफी सहायता मिलती है। इसी भांति जब सरकार किसी उद्योग-धन्धे को सहायता या प्रोत्साहन देती है, तो इस बात का ध्यान रखती है कि

'उपभोक्ता की बचत' की मात्रा पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि उससे 'उपभोक्ता की बचत' में वृद्धि होती है, तो उस उद्योग-धन्धे को सरकारी सहायता और प्रोत्साहन मिलना, जनता की दृष्टि से, लाभप्रद होगा।

पाचवें, मूल्य-निर्धारण में भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। किसी वस्तु की कीमत तय करते समय विक्रेता को, विशेषकर एकाधिकारी को, 'उपभोक्ता की बचत' पर दृष्टि रखनी पड़ती है। यदि उस वस्तु से अधिक मात्रा में 'उपभोक्ता की बचत' मिल रही है, तो एकाधिकारी आसानी से उसकी कीमत ऊंची रख सकता है। लेकिन अपने लाभ के साथ-साथ उसे यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऊंची कीमत से 'उपभोक्ता की बचत' में कहीं इतनी कमी न आ जाय जिससे ग्राहक उसके खिलाफ हो जाय और आगे चलकर उस वस्तु का उपभोग कम या बन्द न कर दे।

अस्तु, 'उपभोक्ता की बचत' के सिद्धान्त का सम्बन्ध अनेक महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्तों और समस्याओं के साथ जुड़ा हुआ है। इससे इस सिद्धान्त का महत्त्व स्पष्ट है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

(Law of Equi-marginal Utility)

प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि उसे अपनी आय से अधिक से अधिक तृप्ति और सतोष प्राप्त हो। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं है, वे असख्य हैं। किन्तु मनुष्य की आय, जिससे वह अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करता है, अपेक्षाकृत सीमित होती है। इसलिए उसे बराबर इस बात पर विचार करना पड़ता है कि वह अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति करे और किनको अतृप्त ही छोड़ दे। आय के सीमित होने के कारण वह सभी वस्तुओं को इच्छा-नुसार नहीं खरीद सकता। उसे यह निर्णय करना पड़ता है कि किन-किन वस्तुओं को किस समय और कितने परिमाण में खरीदे। यदि वह किसी वस्तु के खरीदने में अधिक द्रव्य खर्च कर देगा तो निश्चय ही उसके पास

अन्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए पर्याप्त साधन न रहेंगे, अर्थात द्रव्य की कमी पड जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी कुल तृप्ति में कमी आ जायगी। ऐसी स्थिति में यदि वह अपने खर्च के ढंग में उचित परिवर्तन करे तो उसे और अधिक तृप्ति प्राप्त हो सकती है।

यह कार्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना करके किया जा सकता है। जिन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता कम है, उनकी मात्रा कम करने से हमें लाभ होगा। यह पहले कहा जा चुका है कि वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने से उनकी सीमान्त उपयोगिता गिर जाती है। यदि हमने किसी वस्तु को अधिक परिमाण में खरीदा है और दूसरी को कम परिमाण में, तो पहली वस्तु की सीमान्त उपयोगिता दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से कम होगी। इस दशा में यदि हम पहली वस्तु की मात्रा को कुछ कम कर दें और दूसरी वस्तु को अधिक खरीदें, तो हमें इस परिवर्तन से लाभ होगा। इस तरह की अदल-बदल से दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएं एक सीमा पर आकर बराबर हो जायेंगी। जब खरीदी हुई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ एक समान हो जाती हैं, तो तृप्ति अधिकतम सीमा पर पहुंच जाती है। जब तक सीमान्त उपयोगिताएं बराबर न होंगी, तब तक कुछ वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि करने से और कुछ के घटाने से हमें लाभ होगा। ऐसा करने से हम सम-सीमान्त उपयोगिता की सीमा पर पहुंच जायेंगे। तभी हमें अपनी सीमित आय से अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकेगी।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मनुष्य को किसी वस्तु से, जिसके विभिन्न प्रयोग हैं, तभी सबसे अधिक संतोष या उपयोगिता प्राप्त हो सकती है, जबकि वह उस वस्तु को विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार बांटे कि प्रत्येक उपयोग में उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। यदि यह वस्तु मुद्रा है, तो उसे विविध वस्तुओं के खरीदने में इस प्रकार लगाना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये गये अन्तिम रुपये की सीमान्त उप-

योगिता बराबर हो। तभी उससे अधिक से अधिक तृप्ति की प्राप्ति हो सकेगी। यदि सीमान्त उपयोगिताएं बराबर नहीं है, तो रुपयों को एक स्थान से हटाकर, जहा उनकी सीमान्त उपयोगिता कम है, उस स्थान पर लगाने में लाभ होगा जहा सीमान्त उपयोगिता अधिक है। इस तरह के उलट-फेर से मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता हर स्थान पर बराबर हो जायगी और तभी अधिकतम तृप्ति प्राप्त होगी। इसी को अर्थशास्त्र में सम-सीमान्त उपयोगिता नियम' अथवा 'प्रतिस्थापन नियम' कहते है। इस नियम की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—मुद्रा अथवा और किसी वस्तु में तभी अधिक से अधिक तृप्ति प्राप्त हो सकती है, जबकि उसका विभिन्न प्रयोगों में इस ढग से उपयोग किया जाय कि प्रत्येक प्रयोग में उसकी सीमान्त उपयोगिता एक समान हो।

इस नियम को एक उदाहरण लेकर और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो किसी मनुष्य के पास आठ आने है और वह तीन चीज—दूध, चीनी और मक्खन—खरीदना चाहता है। इन तीनों वस्तुओं की प्रत्येक इकाई का मूल्य, मान लो एक आना है और भिन्न-भिन्न इकाइयों की उपयोगिता इस प्रकार है —

आना	सीमान्त उपयोगिता		
	दूध	चीनी	मक्खन
पहला	१८	१७	१५
दूसरा	१६	१६	१४
तीसरा	१४	१४	१२
चौथा	१२	११	१०
पांचवा	१०	८	७
छठा	८	५	४
सातवा	५	२	१
आठवा	२	०	–२

अब हमको यह देखना है कि यह व्यक्ति अपने आठ आने को इन तीनों वस्तुओं पर किस प्रकार खर्च करे जिससे उसे अधिकतम तृप्ति हो। वह पहले आने को दूध पर खर्च करेगा जिसमे उसे १८ इकाई उपयोगिता मिलती है। यदि पहले आने को वह चीनी या मक्खन पर खर्च करेगा, तो उसे केवल १७ या १६ आने इकाई ही उपयोगिता प्राप्त होगी। इसलिए वह पहले आने को दूध पर खर्च करेगा। दूसरे आने को वह चीनी पर खर्च करेगा जिससे उसे १७ इकाई उपयोगिता मिलती है। तीसरे आने को मक्खन पर खर्च करेगा और चौथे आने को फिर दूध पर। इस तरह से उपयोगिताओं की तुलना करते हुए, वह पाचवा आना चीनी पर, छठा आना दूध पर, सातवा आना चीनी पर और आठवा आना मक्खन पर खर्च करेगा। इस तरह वह आठ आने में से ३ आने दूध पर खर्च करेगा, ३ आने चीनी पर, और २ आने मक्खन पर। इस ढग से खर्च करने पर तीनो वस्तुओ की सीमात उपयोगिता एक समान (१४ इकाई) हो जाती है और उसे कुल १२४ इकाई उपयोगिता मिलती है। अन्य किसी ढग से खर्च करने पर उसे इतनी उपयोगिता न मिलेगी। उदाहरण के लिए मान लो वह दो आने दूध पर खर्च करता है, तीन आने चीनी पर और तीन आने मक्खन पर। ऐसा करने से उसे कुल १२२ इकाई ही उपयोगिता मिलेगी जो कि पहले से कम है। इससे यह सिद्ध होता है अधिकतम तृप्ति तभी मिल सकती है जबकि खरीदी हुई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताए बराबर हो।

यह नियम केवल मुद्रा के खर्च के साथ ही नही, बल्कि हर प्रकार के साधन के उपयोग के साथ लागू है। हम अपने समय, शक्ति, आदि साधनो से तभी अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकते हैं, जबकि हम उनका इस प्रकार प्रयोग करें जिससे हर स्थान में उनकी सीमान्त उपयोगिताए एक समान हो। उदाहरण के लिए, यदि हम अपने सीमित समय को किसी एक कार्य में अधिक लगा देते हैं, तो अन्य कार्यो के लिए समय नही रहेगा या कम पड जायगा। फलस्वरूप हमे उतना सतोष न मिल सकेगा जितना कि

समय को उचित ढग से प्रयोग करने से मिल सकता है । यदि समय को भिन्न-भिन्न कार्यों के बीच इस तरह बाटे जिससे प्रत्येक घण्टे की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय, तो उस दशा मे हमे अधिकतम तृप्ति प्राप्त होगी । अन्य साधनों के लिए भी यह बात लागू है ।

प्रत्येक मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन मे इसी प्रकार की तुलना करके सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार अपनी आय और अन्य सीमित साधनो को उपयोग मे लाता है। कारण, केवल इसी तरीके से सबसे अधिक उपयोगिता और तृप्ति प्राप्त हो सकती है । इसका यह आशय नही कि हर समय मनुष्य ऊपर की तरह एक कोष्टक बनाकर ही यह निश्चय करता है कि किसी वस्तु पर कितना खर्च करे । इस तरह से खर्च करना उसका स्वभाव हो जाता है। उसे कोष्टक बनाने की फिर जरूरत नही रहती।

पारिवारिक आय-व्यय

(Family Budgets)

किसी परिवार के आय और व्यय के भिन्न-भिन्न मदो के विवरण अथवा ब्योरे को पारिवारिक बजट या आय-व्यय-पत्र कहते हैं । इससे यह पता चलता है कि किसी कुटुम्ब की कितनी आमदनी है और भिन्न-भिन्न पदार्थों पर कितना खर्च होता है । इस तरह के अध्ययन से समाज के रहन-सहन का माप-दण्ड ज्ञात होता है । यह जानना बहुत आवश्यक और लाभ-प्रद है कि भिन्न-भिन्न देशों के रहने वाले अपनी आय को किस ढग से खर्च करते हैं। मनुष्य किस प्रकार और कितना खर्च करता है, यह कई बातो पर निर्भर है, जैसे उसकी आदत, आय, उस देश की जलवायु, प्रथा, आदि । ये बाते हर जगह एक-सी नही होतीं । इसलिए खर्च करने के ढग मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। हा, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक कुटुम्ब अपनी आय के अनुसार ही व्यय करता है।

पाश्चात्य देशो मे पारिवारिक बजट के विषय मे बहुत खोज की गई है जिससे यह पता चलता है कि भिन्न-भिन्न आमदनी वाले कुटुम्ब अपनी

आय को किस प्रकार विभिन्न मदों में खर्च करते हैं। जर्मनी के एक प्रसिद्ध लेखक, डाक्टर एञ्जिल ने इस विषय पर काफी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विचारपूर्वक विश्लेषण करने के बाद उन्होंने निम्नलिखित कोष्टक तैयार किया :—

पदार्थ	मजदूर के परिवार का खर्च	मध्यम श्रेणी के परिवार का खर्च	सम्पन्न परिवार का खर्च
१ भोजन-सामग्री	६२ प्रतिशत	५५ प्रतिशत	५० प्रतिशत
२. वस्त्र	१६ „	१८ „	१८ „
३ मकान का किराया	१२ „	१२ „	१२ „
४. ईंधन तथा रोशनी	५ „	५ „	५ „
५ शिक्षा, स्वास्थ्य, सफर, शौक की सामग्री, आदि	५ „	१० „	१५ „
कुल	१००	१००	१००

इस कोष्टक में तीन श्रेणियों के परिवारों की आमदनी का औसत प्रतिशत खर्च भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर दिखाया गया है। इन आकड़ों से डाक्टर एन्जिल ने निम्नलिखित परिणाम व निष्कर्ष निकाले है जिन्हें एन्जिल का उपभोग-सिद्धान्त कहा जाता है —

(१) जैसे-जैसे किसी परिवार की आमदनी बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे भोजन-सामग्री पर प्रतिशत खर्च कम होता जाता है। अर्थात् एक गरीब

आदमी एक धनी व्यक्ति की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग भोजन पर खर्च करता है।

(२) आय का प्रतिशत भाग जो वस्त्र, किराया, रोशनी और ईंधन पर खर्च होता है, वह करीब-करीब सब परिवारों म बराबर होता है।

(३) आय के बढने के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, सफर, इत्यादि पर प्रतिशत खर्च बढता जाता है और जैसे-जैसे आमदनी कम होती जाती है, इन पर खर्च घटता जाता है। यहा तक कि बहुत कम आमदनी के होने पर इन पर खर्च होना बन्द-सा हो जाता है।

उपर्युक्त परिणाम जो डाक्टर एन्जिल ने निकाले हैं, वे काफी अश तक ठीक है। लगभग सभी स्थानो मे ऐसा ही देखने मे आता है। यह एक साधारण-सी बात है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय बढती जाती है, वह अपनी आय का अधिक भाग आराम और विलासिता की वस्तुओ पर व्यय करने लगता है। वस्त्र, मकान, ईंधन, आदि पर प्रतिशत खर्च लगभग वैसा ही बना रहता है, पर भोजन-सामग्री पर प्रतिशत खर्च कम हो जाता है।

भारतवर्ष मे भी अब कुछ समय स पारिवारिक बजटो के अध्ययन की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। मेजर जेक, प्रोफेसर फिडले शिराज, आदि ऐसे व्यक्तियों ने इस विषय पर काफी काम किया है। कई प्रान्तों मे, विशेषकर पजाब, उत्तर प्रदेश, बम्बई, बगाल और बिहार मे पारिवारिक बजट अध्ययन के लिए इकट्ठे किए गए हैं। भारतवर्ष मे पारिवारिक बजट इकट्ठे करने का कार्य बहुत कठिन है। कारण, भिन्न-भिन्न प्रान्तो की जलवायु, रहन-सहन की रीति, सामाजिक प्रथाओ, आदि मे बहुत भिन्नता है। दूसरे, लोग अनपढ होने के कारण अपने आय-व्यय का ठीक तरह से हिसाब नही रखते। यहा तक कि जब खोज करने वाले उनसे प्रश्न पूछते हैं, तो वे अच्छी तरह से उत्तर भी नही देते। वे कहते है कि आखिर हम क्यो पराये व्यक्ति के सामने अपने परिवार का चिट्ठा खोले ?

पारिवारिक बजटों का अध्ययन केवल रुचिकर ही नहीं, बल्कि लाभप्रद भी है। उपभोक्ता, समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, आदि सभी के लिए पारिवारिक आय-व्यय का अध्ययन बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। घर के मुखिया को इससे पर्याप्त सहायता मिलती है। उसको यह मालूम हो जाता है कि किन वस्तुओं पर आवश्यकता से अधिक खर्च हो रहा है और किन वस्तुओं पर आवश्यकता से कम। यह मालूम होने पर कि कहाँ फिजूलखर्ची हो रही है, वह अपनी त्रुटियों को आसानी से सुधार सकता है। इस तरह से वह अपने परिवार के लोगों की तृप्ति बढ़ा सकता है।

पारिवारिक बजट का अध्ययन अर्थशास्त्री के लिए विशेष महत्त्व रखता है। इसके द्वारा उसे किसी देश की आर्थिक दशा का यथोचित ज्ञान हो सकता है। इसकी सहायता से वह लोगों के जीवन-स्तर अथवा रहन-सहन के दर्जे का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकता है। उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि किस परिवार में व्यय ठीक तरह से हो रहा है और किस में नहीं। इसके अलावा पारिवारिक बजटों की सहायता से कुछ आवश्यक आकड़े तैयार किये जाते हैं जो श्रम और पूजी के झगड़ों के सुलझाने में बहुत सहायक होते हैं।

समाज-सुधार और राजनीतिक क्षेत्रों में भी पारिवारिक बजट का विशेष स्थान है। पारिवारिक बजट द्वारा यह पता चल सकता है कि भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों में टैक्स का भार उठाने की कितनी शक्ति है। किसी वस्तु पर कर लगाने का क्या प्रभाव होगा, इसको मालूम करने के लिए पारिवारिक बजट सर्वोत्तम साधन है। इसके अध्ययन से यह पता चल सकता है कि लोगों की आय में कितनी असमानता है। इसे मालूम करके समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ अपने सुधार के कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

QUESTIONS

1 Explain and illustrate the doctrine of consumer's surplus How far is it possible to measure it in terms of money? What is its importance?

2 On what principle should a person regulate his expenditure in order to obtain the maximum satisfaction from it?

3 "Economic expenditure involves distributing the income in such a way as to secure the greatest possible amount of satisfaction" Explain and give examples

What are family budgets? What purposes do they serve to (a) an householder, (b) an economist, and (c) a social reformer?

5 State Engel's Law of Consumption

अध्याय १३

व्यय और बचत की समस्या

(Problem of Spending and Saving)

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह उद्योग करता है। उद्योग के फलस्वरूप उसे तृप्ति और संतोष की प्राप्ति होती है। मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे आवश्यकता, उद्योग और संतोष के बीच सीधा सम्बन्ध था। उस समय मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु स्वय ही जुटाता था। जब उसे भूख लगती तो वह स्वय फल, दाना-पात, मांस, आदि प्राप्त करने का प्रयत्न करता था और उनको खाकर भूख मिटाता था। इसी प्रकार जब उसे धूप, वर्षा, आदि से बचने की आवश्यकता होती तो वह स्वय गुफा या झोपड़ी, आदि का प्रबन्ध करता था। अस्तु, उस समय मनुष्य पूर्णरूप से स्वावलम्बी था। आवश्यकता के कारण वह उद्योग करता था और उद्योग के फलस्वरूप उसे सीधा सतोष प्राप्त होता था।

किन्तु वर्तमान समय मे ऐसा सम्बन्ध बहुत कम देखने मे आता है। अब अधिकतर मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकताओ की प्रत्येक वस्तु स्वय नही बनाते। वे अलग-अलग उद्योगो मे लग जाते हैं और फिर एक-दूसरे के उद्योग द्वारा बनाई हुई वस्तुओं को खरीद-बेच कर अपनी-अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति करते हैं। साधारणत आजकल वस्तुओं का अदल-बदल या विनिमय वस्तुओं से न होकर मुद्रा या रुपये-पैसे मे किया जाता है। मनुष्य को आजकल उसके उद्योग के बदले मुद्रा के रूप मे आय या आमदनी मिलती है। इसके द्वारा वह अपनी विभिन्न वर्तमान और भावी आव-

श्यकता-पूर्ति की वस्तुओं को खरीदता है जिनके उपयोग अथवा सेवन से उसे तृप्ति और संतोष की प्राप्ति होती है। अस्तु, वर्तमान समय में उद्योग और संतोष के बीच पहले जैसे सीधा सम्बन्ध नहीं रहा। अब मनुष्य को उसके उद्योग के बदले में रुपये-पैसे में आमदनी होती है जिसके खर्च करने या उपयोग से उसे तृप्ति मिलती है।

व्यय
(Spending)

अभी हम कह चुके हैं कि वर्तमान युग में मनुष्य को अपने उद्योग द्वारा आमदनी होती है। इस आमदनी का थोड़ा हिस्सा कर के रूप में सरकार को देना पड़ता है। आमदनी का शेष भाग मनुष्य अपनी वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति में उपयोग करता है। आमदनी के उस प्रयोग को जिससे वर्तमान आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप में तृप्ति होती है 'व्यय' या 'खर्च' कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक भाग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाता है। साधारणतः वह मण्डी में जाकर आवश्यकता-पूर्ति की वस्तुओं को खरीदता है। उनके बदले में वह द्रव्य, रुपये-पैसे देता है। इसी को 'खर्च' कहते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि खर्च करना एक कला है, जिसका यथोचित ज्ञान सबको नहीं होता। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जिनका यह विचार है कि व्यय करना एक साधारण-सी बात है। इसमें कोई ऐसी पेचीदी बात नहीं जिसे सीखने की मनुष्य को आवश्यकता हो। खर्च करना तो सभी जानते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य के पास पर्याप्त द्रव्य है, तो वह बाजार जाकर आसानी से वस्तुओं को खरीद सकता है, और इस तरह बिना किसी कठिनाई के अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। आय को उचित ढंग से व्यय करने की कला सबको मालूम नहीं। बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें यह नहीं मालूम कि आय को कब और किस प्रकार खर्च करना चाहिए जिससे अधिकतम

तृप्ति प्राप्त हो। कभी तो वे कजूस बन बैठते है और कभी अपव्ययी होकर द्रव्य को फिजूल कामो मे फूकने लग जाते है। यही कारण है कि बराबर खर्च करने पर भी कुछ को अधिक सतोष मिलता है, और कुछ को कम।

मनुष्य को जो तृप्ति और सतोष अपनी आय के व्यय से मिलता है, वह दो बातो पर निर्भर है (१) व्यय का ढग, और (२) वस्तुओ की कीमत।

(१) *व्यय का ढग*—कुछ व्यक्ति धन के व्यय मे निपुण होते है। उनमे कुछ ऐसे गुण होते है जिनकी सहायता से उन्हे अपने व्यय से अधिकतम तृप्ति मिलती है। यह प्रश्न उठ सकता है कि कैसे उन्हे दूसरो की अपेक्षा द्रव्य के व्यय से अधिक तृप्ति प्राप्त होती है। इसके कई कारण है जिनम से मुख्य निम्नलिखित है —

(क) वे अपनी आवश्यकताओ को भली भाति समझते है। वे यह जानते है कि उन्हे ठीक-ठीक किस वस्तु की जरूरत है। अस्तु, दूकानदार के बहकाने अथवा अन्य लोगो की देखा-देखी मे वे नही आते। वे उन्ही वस्तुओ को खरीदते है जिनसे अधिकतम तृप्ति मिलने की सभावना होती है।

(ख) वे वस्तुओ के गुण की परीक्षा करने मे विशेषज्ञ होते है। उन्हे वस्तुओ की खूब पहचान होती है। बाहरी दिखावट अथवा रग-रूप से वे आकर्षित नही होते। दिखावटी वस्तुए खराब होने के साथ-साथ कम टिकाऊ भी होती है।

(ग) वे सौदा करने मे बहुत कुशल होते है। उनमें सौदा करने का गुण होता है जिससे वे दूसरो की अपेक्षा कम मूल्य पर वस्तुओ को खरीद लेते हैं।

(घ) उनको यह भी ज्ञात होता है कि किस स्थान पर अच्छी और सस्ती वस्तुए मिलती है। वहा तक आने-जाने का कष्ट उठाने के लिए वे सदैव तैयार रहते है।

(ड) वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं के बीच उचित तुलना करके यह निश्चय करने में वे कुशल होते हैं कि किन आवश्यकताओं की पूर्ति पहले की जाय। दूसरे शब्दों में उन्हें खर्च करते समय भविष्य का पूरा-पूरा खयाल रहता है।

इन सब कारणों से सबको एक समान खर्च करने पर भी एक-सा संतोष प्राप्त नहीं हो पाता।

(२) **वस्तुओं का मूल्य**—उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त मनुष्य को जो तृप्ति अपनी आय के व्यय से प्राप्त होती है, वह काफी अंश तक उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य पर निर्भर करती है जिन पर वह अपनी आय को खर्च करता है। यदि वस्तुओं के मूल्य अधिक हैं, तो मनुष्य अपनी आय से कम वस्तुएं खरीद सकेगा। फलतः उसकी तृप्ति भी कम होगी। इसके विपरीत यदि वस्तुओं का मूल्य कम है, तो वह उसी आय से अधिक वस्तुएं खरीद सकेगा। अतएव उसे अपनी उसी आय से पहले से अधिक तृप्ति प्राप्त होगी।

व्यय का सामाजिक पहलू
(Social aspect of Spending)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जो कुछ वह करता है, उसका प्रभाव केवल उसी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सारे समाज पर पड़ता है। यदि वह अच्छा काम करता है, तो उसकी और समाज दोनों की उन्नति होगी। इसी तरह उसके खर्च का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और दूसरों का उस पर। समाज की उन्नति काफी अंश तक लोगों के व्यय करने के ढंग पर निर्भर है। यदि व्यय का ढंग अच्छा है, तो समाज का कल्याण होगा, अन्यथा हानि। हमारे खर्च का प्रभाव धनोत्पत्ति और अन्य उपभोक्ताओं पर बहुत पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि उत्पत्ति माँग पर निर्भर होती है। जिन वस्तुओं की माँग होती है, उन्हीं की उत्पत्ति की जाती है। उत्पत्ति के लिये भूमि, पूंजी, श्रम और अन्य कई साधनों की

आवश्यकता पड़ती है। जिस वस्तु पर हम खर्च करते हैं, उसकी माँग पैदा हो जाती है। फिर उसकी उत्पत्ति के लिए लोग साधन जुटाने लग जाते हैं। धीरे धीरे उस वस्तु की उत्पत्ति की जाने लगती है। यदि वह विलास अथवा ऐश-आराम की वस्तु है जिससे उपभोक्ता की कार्य-कुशलता गिर जाती है तो उसका फल केवल उपभोक्ता को ही नहीं, बल्कि पूरे समाज को भुगतना पड़ेगा। कारण जब उस वस्तु की माँग है तो उसकी उत्पत्ति अवश्य होगी। देश की पूँजी और श्रम का एक भाग इस ओर खिंच आयगा जिसका प्रयोग दूसरे आवश्यक और लाभदायक उद्योग धन्धों में किया जा सकता था। इसका परिणाम यह होगा कि आवश्यक और निपुणतादायक पदार्थों की उत्पत्ति घट जायगी या उतनी न होगी जितनी कि हो सकती थी। ऐसा होने से इन वस्तुओं की कीमत बढ़ जायगी और फिर साधारण लोग इन वस्तुओं का उचित मात्रा में सेवन न कर सकेंगे। फलस्वरूप उनकी योग्यता और उत्पादन शक्ति गिर जायगी। इससे भविष्य में उत्पत्ति और भी कम और असंतोषजनक होगी। यह दुष्चक्र इस प्रकार चलता रहेगा जिससे व्यक्ति और समाज दोनों को ही हानि होगी।

अस्तु खर्च का सामाजिक पहलू भी होता है। समाज की उन्नति और सुख-समृद्धि के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि लोग अपनी आमदनी को किस ढंग से खर्च करते हैं।

यही कारण है कि आजकल सभी सभ्य देशों में सरकार लोगों को खर्च करने की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं देती। सार्वजनिक हित के लिए सरकार उपभोग-क्षेत्र में अनेक रोक-टोक लगाती है, उस पर नियन्त्रण रखती है। उदाहरणार्थ नशीली वस्तुएँ हर समय और हर स्थान पर नहीं बेची जा सकतीं। उनके बेचने के लिए लोगों को सरकार से आज्ञा पत्र लेना पड़ता है। वे नियत समय और स्थान पर ही बेची जा सकती हैं। ठीक इसी प्रकार खाद्य पदार्थों का भी निरीक्षण होता है और इस बात के लिए निरीक्षक

नियुक्त किये जाते हैं जिससे जनता को शुद्ध और साफ भोजन-सामग्री मिल सके।

बचत
(Saving)

साधारणतया हम अपनी कुल आय को वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च नही कर देते। वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय हमे अपनी भावी आवश्यकताओं का भी ख्याल रखना पडता है। इसलिए हम अपनी आय का कुछ भाग भविष्य के लिए बचा लेते हैं जिसमें आगे चलकर आवश्यकताओं की तृप्ति में कोई बाधा न पड़े। इस बची हुई रकम को कुछ लोग तो जमीन में गाड़ देते हैं और कुछ उत्पादन-कार्यो में लगाते हैं। सुरक्षित अथवा गड़े हुए धन को 'बचत' नही कहते। बचत से अभिप्राय उस संचित धन से है जो और धनोत्पादन के काम मे आता है। इससे पूंजी का निर्माण होता है, जिसका उत्पादन-क्षेत्र में, विशेषकर आधुनिक युग में, बहुत महत्त्व है। पूंजी की सहायता से धनोत्पत्ति की मात्रा और शक्ति बहुत बढ जाती है। अस्तु, बचत द्वारा आवश्यकताओं की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में नही बल्कि परोक्ष रूप में होती है। इससे इच्छित वस्तुओं की उत्पत्ति में सहायता मिलती है जो आगे चलकर आवश्यकताओं की तृप्ति करने में काम आती है।

मनुष्य कई कारणों से धन-संचय करते हैं जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा। यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि बचत से व्यक्ति और समाज दोनों को बहुत लाभ पहुंचता है।

व्यय और बचत का सम्बन्ध
(Relation of Spending and Saving)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है व्यय और बचत धन के प्रयोग के दो रूप हैं। दोनों का उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। व्यय से वर्तमान आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप में तृप्ति होती है

और बचत से भावी आवश्यकताओं की । व्यय और बचत दोनो ही जीवन मे प्रगति और उन्नति के लिए आवश्यक है। पर कभी-कभी इस बात पर बहस छिड जाती है कि दोनो में से कौन अधिक आवश्यक अथवा महत्वपूर्ण है। कुछ व्यय को अधिक आवश्यक और लाभप्रद मानते है, और कुछ बचत को। सक्षेप मे, हम यहा यह विचार करेंगे कि दोनो पक्ष वालों की बाते कहा तक और कितनी ठीक है।

कुछ लोगो का कहना है कि अधिक खर्च करने से ही समाज की उन्नति हो सकती है। अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए वे इस प्रकार दलील देते है। वे कहते है कि यदि लोग अधिक खर्च करेंगे तो वस्तुओं की माग में वृद्धि होगी। इससे उत्पत्ति बढेगी और जब उत्पत्ति मे वृद्धि होगी तो पूजी, श्रम और अन्य साधनो को अधिक काम मिलने लगेगा। इसके फलस्वरूप बेकारी की समस्या हल हो जायगी और श्रमिको की मजदूरी बढेगी। व्यापारियो और उद्योगपतियो को भी अधिक लाभ होगा। इस तरह हर क्षेत्र मे उन्नति होगी। लोगो का जीवन-स्तर ऊचा हो जायगा, और देश की आर्थिक दशा सुधर जायगी। ये बातें कहा तक ठीक है, यही हमे देखना है। उत्पत्ति बढाने के लिए अधिक पूजी की आवश्यकता पडती है। पूजी की मात्रा तभी बढ सकती है जबकि लोग अपनी आय का काफी भाग बचायें। यदि लोग अपनी पूरी आय वर्तमान आवश्यकताओं की ही पूर्ति में लगा देगे तो फिर बचत कहा से हो सकेगी। बचत न होने पर *भविष्य मे पूजी का निर्माण कैसे होगा। पूजी के अभाव मे उत्पत्ति में* वृद्धि लाना सम्भव न होगा। इसका फल यह होगा कि देश मे बेकारी, गरीबी, आदि अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याए फैलेंगी और देश की उन्नति रुक जायेगी। अस्तु, यह सोचना भूल है कि अत्यधिक खर्च करने से व्यक्ति और समाज की उन्नति होगी।

इसके विपरीत कुछ लोग यह कहते है कि अधिक बचत करने से व्यक्ति और समाज दोनो को लाभ पहुँचेगा। अधिक बचत होने पर पूजी

की मात्रा बढ़ेगी । इसकी सहायता से उत्पत्ति बड़े पैमाने पर की जा सकेगी। उत्पादन में वृद्धि होने से लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठेगा और पूंजी की मात्रा बढ़ेगी। इस तरह उन्नति का यह चक्र बराबर चलता रहेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादित वस्तुओं को खरीदेगा कौन ? जब लोग खर्च कम करेंगे तो वस्तुओं की मांग कहां से होगी ? कैसे उनका विक्रय होगा ? ग्राहकों की कमी होने के कारण वस्तुएं गोदामों में ही पड़ी रहेंगी। उत्पत्तिकर्त्ताओं को इससे बहुत हानि होगी। फलस्वरूप वे उत्पत्ति को कम करेंगे। उत्पत्ति के घटने से लोग बेकार हो जायेंगे। उनके आर्थिक जीवन को गहरा धक्का लगेगा। साथ ही समाज की भी उन्नति रुक जायगी।

इससे यह स्पष्ट है कि व्यय और बचत दोनों ही आर्थिक उन्नति के लिए *आवश्यक है। जिस प्रकार दो पैर मनुष्य के चलने के लिए आव*-श्यक हैं, उसी प्रकार आर्थिक जीवन के लिए व्यय और बचत दोनों के बीच तालमेल होना परमावश्यक है। खर्च कम होने से वस्तुओं की मांग कम हो जायगी और इससे बेकारी बढ़ेगी। इसके विपरीत बचत कम होने से पूंजी की कमी होगी जिससे उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति में रुकावट पहुंचेगी। इसलिए खर्च और बचत दोनों के बीच एक प्रकार के सतुलन का होना आवश्यक है।

विलासिता की समस्या
(Problem of Luxuries)

संक्षेप में, अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि समाज की दृष्टि से विलासिता की वस्तुओं पर किया गया खर्च लाभप्रद है अथवा हानि-कारक। यह एक टेढ़ी समस्या है। इस पर भिन्न-भिन्न रायें प्रकट की जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि विलासिता की वस्तुओं का उपभोग न्यायपूर्ण है। इससे मनुष्य सभ्य बन जाता है और समाज की भी उन्नति होती है। किन्तु दूसरे पक्ष वाले बिलकुल इससे उल्टा कहते हैं। उनके कथना-

नुसार विलासिता के पदार्थों पर किया गया खर्च निन्द्य है। इससे मनुष्य विलासी और आलसी हो जाते है। उनकी कार्यकुशलता गिर जाती है और इस कारण समाज की भी अवनति होती है। इसके पहले कि हम इस विषय पर अपनी राय प्रकट करे यह जान लेना आवश्यक है कि विलासिता के पक्ष और विपक्ष मे क्या-क्या दलीले पेश की जाती है, और वे कहा तक ठीक है।

विलासिता की वस्तुओ का उपभोग निम्नलिखित बातो द्वारा न्याययुक्त और हितकर बनाया जाता है —

(१) विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से माग बढती है। इससे उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन मिलता है। इसके फलस्वरूप रोजगार में उन्नति होती है और अनेक बेकार लोगो को काम मिलता है। इस प्रकार बेकारी को दूर करने म इससे बडी सहायता मिलती है।

(२) विलासिता की वस्तुओ को तैयार करने म ऊचे दर्जे के कलाकार, कुशल और निपुण श्रमिको की आवश्यकता होती है। अतएव विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करने से कला, कुशल-श्रम और सुसस्कृति में वृद्धि होगी।

(३) इससे आविष्कार-क्षेत्र मे प्रगति होती है जिससे देश के प्राकृतिक और अन्य साधनो को उचित ढग से काम मे लाया जा सकता है। इससे व्यक्ति और समाज दोनो का कल्याण होगा।

(४) इससे धन-वितरण की असमानता भी कम हो जाती है। विलासिता की वस्तुओ पर खर्च करने से धनवानो के द्रव्य का कुछ हिस्सा गरीबो के पास पहुच जाता है जो उसे अधिक आवश्यक कार्यो मे प्रयोग कर सकते है। यदि विलासिता की वस्तुओ का उपभोग न हो, तो धनवानो के पास कुछ धन व्यर्थ ही पडा रहेगा। इससे समाज की हानि होगी।

(५) विलासिता की वस्तुओ के प्रयोग से जन-सख्या मे अत्यधिक वृद्धि नही होने पाती। कारण, इन वस्तुओ के प्रयोग से जीवन-स्तर

में उन्नति होती है। और जब तक ऊंचे रहन-सहन वाले व्यक्तियों को यह विश्वास नहीं हो लेता कि वे अपनी सन्तान का उसी ढंग से पालन-पोषण कर सकेंगे, तब तक वे विवाह नहीं करते, बच्चे पैदा नहीं करते। इस प्रकार जन-संख्या में अत्यधिक वृद्धि नहीं होने पाती।

(६) विलासिता की वस्तुओं के सेवन से जीवन की नीरसता दूर हो जाती है और मनुष्य को नई स्फूर्ति और कार्य-शक्ति प्राप्त होती है। निश्चय ही फिर वह व्यक्ति अधिक उन्नति कर सकेगा। और यह तो सभी जानते हैं कि समाज की क्षमता, शक्ति और उन्नति व्यक्तियों पर निर्भर है।

संक्षेप में, विलासिता द्वारा व्यापार, उद्योग, उत्पादन, आदि को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है। यह उन्नति का चिह्न है। इससे मानव-जीवन अधिक सभ्य, सुखमय और समृद्धिशाली बन सकता है।

विलासिता के विपक्षी उपर्युक्त बातों को ठीक नहीं मानते। वे विलासिता के खिलाफ निम्नलिखित तर्क पेश करते हैं —

(१) यह सोचना भूल है कि विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करने से व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है। अपव्यय से पूंजी की वृद्धि कम हो जाती है जिससे उत्पादन-कार्य को भारी क्षति पहुंचती है। यही नहीं, यदि विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में देश के सीमित साधनों को लगाया जायगा, तो अन्य आवश्यक स्थानों पर उन साधनों की कमी पड़ेगी। इस कारण अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कम हो सकेगा। इसमें निश्चय ही समाज की हानि होगी।

(२) जिस देश में अधिकांश लोगों को भर पेट भोजन भी नहीं मिल पाता, वहां पर विलासिता की वस्तुओं पर किया गया खर्च किसी तरह न्याययुक्त नहीं हो सकता। यह कहां तक ठीक माना जा सकता है कि एक ओर तो लोग भूख के मारे मौत के शिकार हो रहे हों और दूसरी ओर थोड़े-से लोग विलासिता की वस्तुओं के साथ गुलछर्रे उड़ायें।

ऐसा होने से देश में अशान्ति की आग फैल जाती है और अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक समस्याएं उपस्थित होने लगती हैं जिनसे आसानी से छुटकारा नहीं मिल पाता।

(३) धनी लोगो का विलासिता के पदार्थों में किया गया खर्च अनुचित है, परन्तु गरीब लोगो का इन पदार्थों मे किया गया खर्च ओर भी अधिक अनुचित है। कारण, गरीब लोग बहुधा जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों मे कमी करके विलासिता की वस्तुओं को खरीदते हैं। इससे उनके चरित्र और स्वास्थ्य दोनो ही गिर जाते हैं। इसका फल उन्हें ही नहीं बल्कि पूरे समाज को भुगतना पड़ता है।

(४) विलासिता की वस्तुओं में कला, आविष्कार, आदि की उन्नति होती है, पर यह समझना भूल है कि आवश्यक अथवा निपुणतादायक वस्तुएं कला की उन्नति मे कम सहायक होती है। कभी-कभी विलासिता की वस्तुओं को बनाने में केवल साधारण श्रम की ही आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि जितने भी आविष्कार होते हैं, वे सभी विलासिता की वस्तुओं के सेवन के ही कारण होते हैं।

इस तरह की अनेक बातें विलासिता के पक्ष और विपक्ष में कही जाती हैं। दोनों पक्षों की बातें कुछ अंश तक ठीक हैं। विलासिता की कुछ वस्तुएं ऐसी है जो नैतिक या सामाजिक दृष्टि से ठीक नहीं होती। उनके उपभोग से मनुष्य का स्वास्थ्य गिर जाता है, चरित्र बिगड़ जाता है, और कार्य-कुशलता मे भी कमी आ जाती है। इन वस्तुओं पर किये गये खर्च को किसी भी दृष्टिकोण से न्याययुक्त नहीं बताया जा सकता। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि विलासिता की सभी वस्तुओं का उपभोग बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से उन्नति में रुकावट पड़ेगी। आज जो विलासिता की वस्तु मानी जाती है, कल वही आवश्यक पदार्थ हो सकती है। अतएव हर प्रकार की विलासिता को बन्द करना ठीक न होगा। विलासिता की कुछ वस्तुएं हानिरहित हैं। उनके उपभोग से कोई हानि न होगी, बल्कि लाभ ही होगा।

QUESTIONS

"Spending is more important than saving for the material welfare" Comment

Is it of any consequence to society how an individual spends his income? Should society interfere with a man's liberty in spending money?

What are luxuries? Is the expenditure on luxuries justifiable from social point of view?

Examine the various arguments that are put forward in favour of and against the use of luxuries

अध्याय १४

जीवन-स्तर

(Standard of Living)

आवश्यकताओं की विशेषताओं पर विचार करते समय यह कहा गया था कि मनुष्य की कुछ आवश्यकताएं ऐसी हैं जो एक बार तृप्त हो जाने पर भी बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं। उनके जन्म और तृप्ति का चक्र सदैव चलता रहता है। जब मनुष्य अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति पर्याप्त समय तक बार-बार करता रहता है, तो उस आवश्यकता की तृप्ति करने का उसका स्वभाव-सा पड जाता है। धीरे-धीरे इस प्रकार की आवश्यकताएं उस व्यक्ति की आदतों मे परिवर्तित होती जाती है। आदत पड जाने के कारण वह उन आवश्यकताओं को आसानी से छोड़ नहीं पाता। यही नहीं, बिना उनकी पूर्ति के उसे कष्ट होता है, उसकी योग्यता-क्षमता मे फर्क पड जाता है। इस कारण वे उसके प्रतिदिन के साधारण जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाती हैं। 'जीवन स्तर' (standard of living) का आशय मनुष्य की इन्हीं आवश्यकताओं से है जिनकी तृप्ति का वह आदी हो जाता है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के 'जीवन-स्तर' का आशय उन वस्तुओं से है जिनके उपभोग का उसका स्वभाव पड जाता है।

सबका जीवन-स्तर अथवा रहन-सहन का दर्जा एक समान नहीं होता। प्रत्येक काल, देश और व्यक्ति के जीवन-स्तर का दर्जा भिन्न भिन्न होता है। अमरीका-निवासियों का जीवन-स्तर भारतवासियों के जीवन-स्तर की अपेक्षा आज बहुत अधिक ऊंचा है। और जो जीवन-स्तर अम-

रीका में सौ वर्ष पूर्व था, वह वहां के वर्तमान जीवन-स्तर की तुलना में कहीं अधिक नीचा था। इसी प्रकार एक ही समय और देश में भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों का जीवन-स्तर अलग-अलग हो सकता है।

किसी व्यक्ति का जीवन-स्तर मुख्यतः दो बातों पर निर्भर होता है। एक तो उस व्यक्ति की आय, और दूसरे उसके खर्च करने का ढंग। साधारण बोलचाल में तो ऊंचे जीवन-स्तर का अर्थ यह होता है कि मनुष्य अपनी आय को अधिकतर आराम तथा विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करता है। अर्थात् अधिक खर्चीले रहन-सहन को जीवन-स्तर का ऊंचा दर्जा माना जाता है। जो अधिक खर्च नहीं करते, उनके जीवन-स्तर का दर्जा नीचा समझा जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र में ऊंचे या नीचे जीवन-स्तर का यह आशय नहीं होता। अर्थशास्त्र के अनुसार जीवन-स्तर के ऊंचे दर्जे का यह अर्थ है कि मनुष्य अपनी आय को इस विधि से खर्च करे जिससे उसकी शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक उन्नति हो, उसकी कार्य-शक्ति, योग्यता-क्षमता में वृद्धि हो। जब तक कोई व्यक्ति आय को इस ढंग से खर्च नहीं करता जिससे उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो, तब तक उसके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा नहीं माना जाता। केवल अधिक खर्च करना ही ऊंचे जीवन-स्तर का चिह्न नहीं है। यदि किसी व्यक्ति की आय अधिक है, तो यह कोई आवश्यक बात नहीं कि उसके रहन-सहन का ढंग भी ऊंचा हो। सम्भव है वह अपनी आय को उचित ढंग से न खर्च करता हो। अस्तु, किसी व्यक्ति के जीवन-स्तर का दर्जा मालूम करने के लिए हमें यह देखना होगा कि उसकी कितनी आय है, उसके व्यय का ढंग कैसा है, वह किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा उनकी तृप्ति का उसकी कार्य-कुशलता पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है।

भारतवासियों का जीवन-स्तर
(Standard of Living of Indians)

भारतवासियों का औसत जीवन-स्तर बहुत ही नीचा और असंतोषजनक

है। इसके कई कारण हैं। सबसे प्रमुख कारण यहा का गरीबी है। भारतवासी भयकर गरीबी के बोझ से बुरी तरह दबे हुए हैं। यहा के अधिकाश लोगो की आमदनी इतनी थोडी है कि जीवन की प्रमुख आवश्यकताओ की भी पूर्ति नही हो सकती। दूसरे महायुद्ध के पहले एक भारतीय की औसत सालाना आमदनी मुश्किल से ६५ रुपये थी जबकि एक अमरीकन की आमदनी १४०६ रुपये, कनेडा निवासी की १०३४ रुपये, अग्रेज की ९८० रुपये, और एक जर्मन की ६०३ रुपये थी। अनुमान है कि अब देश की व्यक्तिगत वार्षिक आय लगभग २६५ रुपये है। यह वृद्धि नक़द आमदनी (money income) मे ही हुई है, वास्तविक आमदनी (real income) मे नही। वास्तविक आमदनी मालूम करने के लिए हमे चीजो की कीमतो को देखना होगा। पिछले कई सालो से कीमते बराबर ऊपर चढती रही है जिसके कारण रुपये की क्रय-शक्ति पहले से बहुत गिर गई है। यदि एक ओर औसत आमदनी ६५ रुपये से बढकर २६५ रुपये हो गई है तो दूसरी ओर कीमतें भी कई गुना बढ गई हैं। अस्तु, वास्तविक आमदनी मे कोई वृद्धि नही हुई, बल्कि कई अर्थशास्त्रियो के अनुमान के अनुसार इसमे कुछ घटी ही हुई है। जब लोगो की आमदनी इतनी कम है, तो उनका जीवन-स्तर क्या हो सकता है, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। कुल आय को यदि केवल भोजन पर ही खर्च किया जाय तो भी भर पेट और उचित प्रकार का भोजन मिलना कठिन है। फिर भला किस प्रकार अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति भली-भाति हो सकती है।

देश की गरीबी का मुख्य कारण यह है कि यहा की अर्थ-व्यवस्था पिछडी हुई और अर्ध-विकसित अवस्था मे है। ऐसा होने से देश के मानवीय और प्राकृतिक साधनों का उचित ढग से उपयोग नही हो पाता। फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा कम है और फिर उसका बटवारा भी ठीक-ठीक नही होता। साथ ही देश की आबादी भी तेजी से बढ रही है जिसके कारण गरीबी का रोग और बढता जा रहा है।

निर्धनता के अतिरिक्त दूसरा कारण, जिसके फलस्वरूप भारत-वासियों का जीवन-स्तर नीचा है, वह यह है कि यहां लोगों का खर्च करने का ढंग ठीक नहीं है। कुछ अवसरों पर लोग अपनी शक्ति से अधिक खर्च करते है। पुराने रीति-रिवाजों के पालन करने में वे अपने आपको एक तरह से लुटा देते हैं। चाहे उन्हें कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़े, वे शादी, आदि अवसरों पर खूब खर्च किये बिना नहीं मानते। वे खर्च की उपयोगिता और अपनी शक्ति पर पूरा-पूरा ध्यान नहीं देते। बहुत कुछ यह शिक्षा की कमी के कारण है। इससे उनका जीवन-स्तर और भी गिर जाता है।

इस सम्बन्ध में प्राय यह पूछा जाता है कि जीवन-स्तर की प्रवृत्ति किस ओर है। क्या यहां के निवासियों का नीचा जीवन-स्तर समय के साथ-साथ गिरता रहा है, या उसमें कुछ उन्नति हो रही है? कुछ लोग यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि भारतवासियों का जीवन-स्तर ऊंचा हो रहा है। इस बात की पुष्टि के लिए वे हमारा ध्यान शहरों की ओर आकर्षित करते हैं जहां पर पक्की और बड़ी-बड़ी इमारते, लम्बी-चौडी सीमेंट की सड़क, मोटर, बग्घी व तरह-तरह के खेल-तमाशों के साधन नजर आते है। शहरों में आराम तथा विलासिता की वस्तुएं अधिक मात्रा में बाहर से आने लगी हैं जिससे यह पता चलता है कि इन वस्तुओं का उपभोग पहले से अब अधिक हो रहा है। रेशमी और ऊनी वस्त्र, तेल, साबुन, चाय, सिगरेट, सोडावाटर, आदि वस्तुओं के उपभोग में काफी वृद्धि हुई है। धीरे-धीरे लोग शिक्षित और सभ्य बनते जा रहे है। शहरों और कल-कारखानों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। इन सब बातों से कुछ लोग यह सिद्ध करना चाहते है कि यहां के लोगों के रहन-सहन का दर्जा क्रमश ऊंचा होता जा रहा है।

यह तो ठीक है कि शहर के रहने वालों का रहन-सहन देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि लोगों का जीवन-स्तर नीचा है अथवा नीचे

गिर रहा है। पर शहरो मे रहने ही कितने लोग है ! गुणित मे ११ प्रतिशत, बाकी सब गावो मे रहते हैं। अतएव शहरो को देखकर भारतवर्ष के असली रूप का पता नही चल सकता । यदि हम भारतवर्ष का वास्तविक चित्र देखना चाहते है, तो हमे गावो पर दृष्टि डालनी पडेगी जहा लगभग ८७ प्रतिशत लोग रहते हैं। इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि जीवन-स्तर की प्रवृत्ति किस ओर है, अर्थात् जीवन-स्तर गिर रहा है या ऊचा हुआ है।

गावो की दशा किसी से छिपी नहीं है । वहा की कीचड से सनी हुई सडके, टूटे-फूटे कच्चे मकान, अर्धनग्न और भूख से पीडित लोगों की दशा किसे नहीं मालूम । सक्षेप में, हम यहा कुछ ही बातों पर विचार करेंगे जिनके आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि भारत-वासियो का जीवन-स्तर किस ओर है ।

सर्व प्रथम गाव के मकानों पर ही दृष्टि डालिए। लगभग हर गाव में लोगो के कच्चे और फूस के मकानों को छोडकर एक दो पुरानी टूटी-फूटी पक्की सराय, धर्मशालाए और कुए दिखाई पडेगे। ये सब जनता के हित के लिए बनाये जाते है। इससे पता चलता है कि पहले लोगो की आय इतनी होती थी कि वे सार्वजनिक हित के लिए इमारतें बनवा सकते थे। किन्तु आज लोगों की आय इतनी कम हो गई है कि वे अपने पूर्वजो की बनाई हुई इमारतो की मरम्मत तक नही करवा सकते, नई इमारतें बनवाने की बात तो दूर रही। जब वे अपने मकानो की ही देखभाल करने मे असमर्थ है, तो भला किस प्रकार वे परोपकार के लिए धर्मशालाए, कुए बनवा या सुधरवा सकते है। इससे यह ज्ञात होता कि समय के साथ-साथ लोगो की वास्तविक आय गिरती रही है, और इस कारण उनका जीवन-स्तर भी ।

इसके अतिरिक्त हम हर तरफ यह सुनते है कि गाव वाले बडे अपव्ययी होते है। वे अपने धन को उचित ढग से खर्च नही करते। शादी-

विवाह, आदि अवसरो पर वे बहुत फिजूल खर्च करते है। इस बात के लिए उन्हे बहुत धिक्कारा जाता है। यदि एक धनी व्यक्ति शादी के अवसर पर उतना या उससे अधिक खर्च करता है तो हम कुछ भी नही कहते। किन्तु जब गाव का एक गरीब आदमी इस तरह से खर्च करता है, तो उसकी ओर हम तुरन्त उगली उठाते है, उसे बुरा-भला कहते है। कारण, उसकी इतनी आय नही कि उस खर्च का बोझ सभाल सके। इस खर्च के लिए उसे महाजन के सामने हाथ पसारना पड़ता है, जिसके चगुल से वह जीवन भर नही निकल पाता। पर प्रश्न यह है कि सामाजिक तथा धार्मिक अवसरो पर इतना खर्च करने की प्रथा कैसे आरम्भ हुई जिसके कारण आज गाव वालो को इतना सुनना पड़ता है। यदि उनके पूर्वजो की भी इतनी ही आय होती जितनी आजकल लोगो की है, तो इस तरह की खर्चीली प्रथाओ की नीव कभी नही पड सकती थी। इनका चलन इस कारण हुआ कि पूर्वजो की आय पर्याप्त थी। जीवन की प्रमुख आवश्यकताओ की पूर्ति करने के बाद उनके पास इन अवसरो पर खर्च करने के लिए द्रव्य बच रहता था। पर आज दशा वैसी अच्छी नही रही। रीति-रस्म आसानी से नही छोड़ी जा सकते। कारण, मनुष्य अपनी आदतो का दास है। अत पुराने समय के रीति रिवाज अब भी चल रहे है। किन्तु आय कम हो जाने के कारण लोगो म उनको पूरा करने की शक्ति नही रही। यही कारण है कि जब आज भी लोग अपनी गिरी हुई आय को पुरातन रीति रिवाजो के पालन करने म खर्च करते है तो उन्हें दोषी ठहराया जाता है। क्या इससे यह पता नही चलता कि क्रमश लोगो का जीवन-स्तर नीचे की ओर ही रहा है?

इस बात की पुष्टि के लिए एक और बात पर विचार किया जा सकता है। भारतवर्ष की नारियो को सोने चादी के आभूषणो से बहुत प्रेम है। कुछ समय पहले गावो की स्त्रिया गहनो से लदी रहती थीं। पर आज उनके शरीर पर एक-आध गहने मुश्किल से दिखाई पड़ते

है। क्या उनको अब गहने अच्छे नही लगते ? क्या मनुष्य उनकी इस इच्छा की पूर्ति करना नही चाहते ? ऐसी बात नही है। वास्तव मे वे लाचार है। उनकी आय बहुत कम हो गई है। प्रतिदिन की साधारण आवश्यकताओ की भी तृप्ति करना उनके लिए कठिन हो गया है। फिर भला गहने कहा से बनवाये जाय ! अक्सर पुराने आभूषणो को बेचने तक की नौबत आ पडती है, तब कही मुश्किल से उनका काम चल पाता है। दूसरे शब्दो में, उनकी आय इतनी कम हो गई है कि जीवन की प्रमुख आवश्यकताओ की भी पूर्ति नही हो सकती। इस काम के लिए उन्हे पूजी की शरण लेनी पडती है या सेठ-साहूकारो से उधार लेना पडता है। क्या इसे ऊचे जीवन-स्तर का चिह्न माना जा सकता है ?

उपर्युक्त बातो से स्पष्ट है कि भारतवासियो का जीवन-स्तर समय के साथ और भी असतोषजनक बन गया है। इसमे सदेह नही कि देश की आन्तरिक शान्ति और पाश्चात्य सभ्यता के ससर्ग स जनता के हृदय में कुछ नवीन विचारो का समावेश हुआ है और कुछ लोगो की आय मे भी वृद्धि हुई है। इस तरह पाच-दस फी-सदी लोगो का जीवन-स्तर अवश्य ऊचा हो गया है। किन्तु पाच-दस फीसदी आदमियो के रहन सहन के दर्जे के ऊचे होने से ही किसी देश के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं माना जा सकता। इससे यह अनुमान लगाना कि औसत जीवन-स्तर ऊचा होता जा रहा है, सरासर भूल है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार यहा के लोगो का जीवन स्तर उठाने मे प्रयत्नशील है। इसके लिए पचवर्षीय योजना के आधार पर काम हो रहा है और पिछले तीन-चार वर्षों मे इस काम में कुछ सफलता भी मिली है। लेकिन गरीबी दूर करके जीवन-स्तर को ऊपर उठाने का काम ऐसा नही है जो दो-चार वर्षो म ही पूरा हो सके। इस काम मे काफी समय लगेगा। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि यदि योजना के आधीन काम होता रहा तो यहाँ के लोगो का जीवन-स्तर ऊपर उठने लगेगा।

QUESTIONS

1. What is meant by the phrase 'standard of living'? On what factors does it depend?
2. Write an essay on the standard of living in India
3. How can you show that standard of living in India has been steadily going down?
4. What is the implication of 'high' and 'low' standard of living? Why is standard of living in India low?

(Production)

अध्याय १५

उत्पत्ति और उसके साधन
(Production and its Factors)

उपयोगिता सम्बन्धी नियमों और समस्याओ पर विचार करते समय यह मान लिया गया था कि उपभोग के लिए जो वस्तुए उपलब्ध है, वे कीमत देकर बाजार से खरीदी जा सकती है। पर इसके पहले कि उपभोग के लिए बाजार मे वस्तुए उपलब्ध हो सके, हमे उनकी उत्पत्ति करनी होगी। इस सम्बन्ध मे यह जान लेना आवश्यक है कि 'उत्पत्ति' कहते किसे है, उत्पादन-कार्य मे किन साधनो की आवश्यकता होती है, उन साधनो की क्या-क्या विशेषताए है, और उत्पत्ति के क्या नियम है ? इस और अगले कुछ अध्यायो में इन्ही बातो पर विचार किया जायगा।

उत्पत्ति का अर्थ
(Meaning of Production)

साधारण बोलचाल मे उत्पत्ति का आशय भौतिक वस्तुओ के उत्पादन मे होता है। किसान, बढई, कुम्हार, आदि को उत्पादक कहा जाता है क्योंकि इनके उद्योग द्वारा भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, जैसे अन्न, मेज, कुर्सी, बर्तन, आदि। डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर आदि जैसे व्यक्तियो को साधारणत उत्पादक नही माना जाता क्योंकि इनके उद्योग का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओ की उत्पत्ति से नही होता। पर प्रश्न यह उठता है कि 'उत्पत्ति' का वास्तविक अर्थ क्या है ? वह कौन-सा काम है जिसके करने से मनुष्य को उत्पादक कहा जा सकता है ? यह तो सभी को मालूम है कि मनुष्य कोई भी ऐसा नया पदार्थ नही

बना सकता जो किसी-न-किसी रूप में पहले से ही विद्यमान न हो। प्रकृति का जितना स्वरूप संसार में है बस उतना ही रहेगा। उसमें कमी-बेशी लाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। मनुष्य तो केवल विद्यमान पदार्थों में ही कुछ परिवर्तन करके उन्हें पहले से अधिक उपयोगी या मूल्यवान बना सकता है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता। कुछ पदार्थ अपनी प्राकृतिक स्थिति में विशेष उपयोगी नहीं होते, किन्तु यदि मानव-प्रयत्न द्वारा उन्हें एक नया रूप दे दिया जाता है तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए एक बढ़ई का काम ले लो। वह लकड़ी स्वयं उत्पन्न नहीं करता। लकड़ी तो उसे प्रकृति की ओर से प्राप्त होती है। वह अपने औजारों की सहायता से लकड़ी को काट-छाँट कर कुर्सी, मेज, आदि बनाता है। इस नये रूप में लकड़ी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक हो जाती है। इसी तरह दर्जी सर्वथा कोई नया पदार्थ नहीं बनाता। वह कपड़े को काट कर विशेष नाप का कोट या कमीज सी देता है। पहले रूप में कपड़ा इतना उपयोगी नहीं था जितना कि अब उसे दर्जी ने बना दिया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं बना सकता जो सर्वथा नया हो। वह केवल विद्यमान पदार्थों की उपयोगिता ही बढ़ा सकता है। इसी उपयोगिता-वृद्धि को अर्थशास्त्र में "उत्पत्ति" कहते हैं। जो व्यक्ति किसी भी ढंग से उपयोगिता बढ़ाता है, उसे उत्पादक कहेंगे। किसान, बढ़ई, व्यापारी, वकील, डाक्टर, कुली, आदि सभी उत्पादक कहलाने के अधिकारी है, क्योंकि इनके उद्योग द्वारा उपयोगिता का उत्पादन होता है, अथवा उसमें वृद्धि होती है।

उपयोगिता-वृद्धि के रूप
(Kinds of Utility)

ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र में उपयोगिता वृद्धि को ही उत्पत्ति कहते हैं। उपयोगिता-वृद्धि का कार्य अर्थात् उत्पादन-कार्य अनेक ढंगों से किया जा सकता है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है —

(१) रूप-परिवर्तन—वस्तुओं के रूप में आवश्यक परिवर्तन करने से उनकी उपयोगिता बढाई जा सकती है। उदाहरणार्थ जब कुम्हार मिट्टी से बर्तन बनाता है, तो इस नये रूप मे मिट्टी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती है। जब कच्चा माल तैयार माल म परिवर्तित होता है, तब आकार परिवर्तन होने से उपयोगिता मे वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार जब बढई लकडी चीर कर कुर्सी बनाता है, सुनार सोना-चादी से आभूषण तैयार करता है, तो रूप-परिवर्तन से इन वस्तुओं की उपयोगिता बढ जाती है।

(२) स्थान-परिवर्तन—वस्तु में स्थान सम्बन्धी परिवर्तन द्वारा भी उपयोगिता बढाई जा सकती है। यदि किसी स्थान पर कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक मात्रा मे है, तो वहा पर उस वस्तु की उपयोगिता कम होगी। यदि उस वस्तु को ऐसे स्थान पर ले जाया जाय जहा वह कम मात्रा में हो, तो इससे उसकी उपयोगिता बढ जायगी। जैसे लकडी जगल से काटकर बाजार म लाई जाय या लोहा, कोयला, पत्थर, आदि को खानो से निकाल कर शहरो म लाया जाय। खनिज पदार्थों की उपयोगिता खान के पास बहुत कम होती है। पर जब इन चीजों को वहा से गाडी या मोटर द्वारा शहरो या बाजारो म लाया जाता है, तो स्थान-परिवर्तन होने से इनकी उपयोगिता बढ जाती है। इसी प्रकार अन्न, शाक और फलो को खेतो से मण्डी मे ले जाने पर उनकी उपयोगिता में वृद्धि होती है।

(३) अधिकार-परिवर्तन—कुछ दशाओ में केवल वस्तुओं के अधिकार व स्वामित्व-परिवर्तन से ही उनकी उपयोगिता बहुत बढ जाती है। इसमे सौदागरो, आढतियो और दलालो का कार्य सम्मिलित है। जैसे एक व्यापारी के पास एक हजार मन गल्ला है। गल्ले की उपयोगिता साधारण गृहस्थियो के लिए उस व्यापारी की अपेक्षा कही अधिक है। जब वह उस गल्ले को उपभोक्ताओं को बेचता है, तो इस स्वामित्व-परिवर्तन से गल्ले की उपयोगिता बढ जाती है। अतएव जो व्यक्ति या

संस्थाएं इस कार्य में सहायक होती है, उनका उद्योग उत्पादक-कार्य माना जायगा।

(४) **समय-परिवर्तन**--वस्तुओं को कुछ समय तक सचय करके भी उपयोगिता बढाई जा सकती है। कुछ वस्तुएँ किसी खास समय या ऋतु मे बहुत होती है। यदि उन वस्तुओं को भविष्य के लिए सचय किया जाय तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ सकती है। इस वर्ग म व्यापार द्वारा होने वाले कार्य शामिल है। गुड, चावल, शराब, आदि पदार्थ पुराने होने पर अधिक उपयोगी होते है। फसल के समय अन्न की इतनी उपयोगिता नही होती जितनी कि दूसरे समय म होती है। अस्तु, यदि अन्न को फसल के समय लेकर रख छोडे और एसे समय के लिए सुरक्षित रखें जब वे कम प्राप्त होते हैं, तो उपयोगिता मे अवश्य वृद्धि होगी। दूकानदार, व्यापारी, आदि इसी तरह समय-सम्बन्धी परिवर्तन लाकर उपयोगिता को बढाते है। इस कारण व भी उत्पादक माने जायगे।

(५) **सेवा द्वारा उपयोगिता-वृद्धि**--भौतिक वस्तुओ के रूप, स्थान, समय या स्वामित्व परिवर्तन से ही नही, बल्कि सेवाओं द्वारा भी उपयोगिता वृद्धि होती है। इसे अभौतिक उत्पत्ति कहते है। नाचने-गाने वाले तथा तमाशा दिखाने वाले अपनी-अपनी कला से दर्शको और श्रोताओ को आनन्दित करके उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है, अर्थात् उपयोगिता बढाते है। अत य भी आर्थिक दृष्टि से उत्पादक है। इसी प्रकार डाक्टर, वैद्य, न्यायाधीश, सिपाही, अध्यापक, वकील, घरेलू नौकर, आदि भी उत्पादक है क्योकि ये सब अपनी सेवाओ से उपयोगिता का उत्पादन करते हैं।

(६) **ज्ञान द्वारा उपयोगिता-वृद्धि**--वस्तुओं के सम्बन्ध में लोगो को ज्ञान कराने से भी उपयोगिता का उत्पादन होता है। बहुत-सी वस्तुओ के लाभ या प्रयोग से हम परिचित नही होते। इस कारण हमारे लिए उनमे उपयोगिता नही होती। लेकिन जब विज्ञापन आदि के द्वारा हमें

उनका ज्ञान हो जाता है तो हम उनको उपयोग में लाने लग जाते हैं। इससे उपयोगिता-वृद्धि होती है। अस्तु, विज्ञापन-कार्य भी उत्पादन-कार्य है। इससे लोगों को वस्तुओं के उपयोग का ज्ञान प्राप्त होता है और फलस्वरूप उपयोगिता की उत्पत्ति और वृद्धि होती हैं।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में उपयोगिता-उत्पादन या वृद्धि को "उत्पत्ति" कहते हैं, चाहे उपयोगिता का उत्पादन किसी भी ढंग से किया जाय। इस परिभाषा के अनुसार किसान, व्यापारी, दलाल अध्यापक, वकील, सिपाही, मजदूर, आदि सभी के कार्य उत्पत्ति में समावेशित है क्योंकि इन सब कार्यों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उपयोगिता-उत्पादन से होता है।

उत्पत्ति के साधन

(Factors of Production)

उत्पत्ति में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। बिना उनकी सहायता के उत्पत्ति असम्भव है। खेती का ही सुपरिचित उदाहरण ले लो। इसके पहले कि किसान कुछ अन्न पैदा कर सके, उसके पास भूमि, बीज, पानी, खाद, हल, बैल, आदि का होना आवश्यक है। इनके बिना वह किसी प्रकार का अन्न पैदा नहीं कर सकता। उत्पत्ति के अन्य कार्यों के लिए भी यही बात लागू है। उन वस्तुओं को, जो उत्पत्ति के कार्य में सहायक होती हैं, 'उत्पत्ति के साधन' (Factors of Production) कहते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए उत्पत्ति के साधनों को पाँच भागों में विभक्त कर दिया जाता है—भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध और साहस।

भूमि (Land)—अर्थशास्त्र में 'भूमि' का अर्थ साधारण बोल-चाल के अर्थ से बहुत भिन्न होता है। साधारणतया भूमि से अभिप्राय पृथ्वी तल से होता है। किन्तु अर्थशास्त्र में इसके अन्तर्गत वे सब उपयोगी पदार्थ और शक्तियां समावेशित हैं जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं और धनोत्पत्ति में प्रयोग की जाती हैं। अर्थात् भूमि उन वस्तुओं को कहते हैं जो प्रकृति की

देन है, जिनमे मनुष्य के श्रम का कोई भी अश नही लगा होता। जैसे पृथ्वी-तल, पहाड, जगल, नदी, वायु, वर्षा, गर्मी, आदि अन्य पदार्थ और शक्तिया जो पृथ्वी-तल पर या उसके ऊपर और नीचे पाई जाती हैं।

श्रम (Labour)—'श्रम' से अभिप्राय मनुष्य के उन मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्नो से है जो धनोत्पत्ति के लिए किये जाते हैं। मनोरजन के लिए किये गये प्रयत्न को अर्थशास्त्र मे 'श्रम' नही कहते। अर्थशास्त्र म केवल उन्ही उद्योगो को श्रम मे शामिल किया जाता है जिनका सम्बन्ध धनोत्पत्ति से होता है, जो धनोपार्जन के उद्देश्य से किये जाते हैं।

पूजी (Capital)—धन का वह भाग, जो और अधिक धन पैदा करने में सहायक होता है, 'पूजी' कहलाता है। पूजी के अन्तर्गत विविध वस्तुए सम्मिलित है, जैसे कच्चा माल, औजार, मशीन, कारखाना, आदि।

प्रबन्ध (Organisation)—उपर्युक्त साधनो को एकत्र करके उनका यथेष्ठ रूप से सगठन निरीक्षण, अथवा व्यवस्था करने के कार्य को 'प्रबन्ध' कहा जाता है। आधुनिक उत्पत्ति-प्रणाली में प्रबन्ध का बडा महत्त्व है। इसके बिना कल-कारखानो में धनोत्पत्ति का कार्य नही चल सकता।

साहस (Enterprise)—उत्पादन में जोखिम उठाने के कार्य को 'साहस' कहते हैं। जो व्यक्ति हानि और लाभ का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है, उसे साहसी कहते हैं। बडे पैमाने पर होने वाले आधुनिक धनोत्पादन में इस कार्य का विशेष महत्त्व है। अब यह उत्पत्ति का एक पृथक् साधन माना जाने लगा है।

भूमि और श्रम उत्पत्ति के दो प्रमुख और मूल साधन हैं। मनुष्य बिना प्रकृति या भूमि की सहायता के उत्पादन का कोई भी कार्य नही कर सकता। उदाहरणार्थ मछली पकडने वाला अपना काम तभी कर सकता है जब

प्रकृति की ओर से नदियों में मछलियां हों। इसी तरह किसान खेती का काम तभी कर सकता है जबकि उसके लिए भूमि, हवा, पानी, वर्षा, आदि प्राकृतिक वस्तुएं पहले से ही विद्यमान हों। इन प्रकृति-दत्त वस्तुओं को ही 'भूमि' कहा जाता है। अस्तु उत्पत्ति के लिए भूमि का होना अनिवार्य है। यद्यपि प्रकृति मनुष्य के लिए बहुत-सी वस्तुएं स्वयं प्रदान करती है, फिर भी मनुष्य के परिश्रम के बिना उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। चाहे कितने ही अच्छे प्राकृतिक साधन क्यों न हो, किन्तु जब तक मनुष्य अपना श्रम न लगायेगा, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकेगी। यही कारण है कि भूमि और श्रम उत्पत्ति के प्रमुख अथवा मूल साधन माने जाते हैं।

किन्तु भूमि और श्रम के सहयोग से ही मनुष्य बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। उसे भूमि के अतिरिक्त कई और वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन निवासी शिकार करने के लिए धनुष-बाण का प्रयोग करते थे, मछली पकड़ने के लिए जाल और कांटे को काम में लाते थे। आज मनुष्य विविध प्रकार की मशीनों तथा औजारों से काम लेते हैं। अर्थशास्त्र में इनको 'पूंजी' कहा जाता है। आधुनिक उत्पत्ति का दारो-मदार काफी अंश तक पूंजी पर ही है। पूंजी की सहायता से मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। इसलिए उत्पत्ति में, विशेषकर आधुनिक उत्पादन-क्षेत्र में, पूंजी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

आजकल अधिकतर उत्पत्ति कल-कारखानों द्वारा की जाती है जहां पर हजारों मजदूर एक साथ काम करते हैं। इन कारखानों में बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग होता है जो बिजली आदि की शक्ति से चलाई जाती है। कारखानों में निरीक्षण अथवा प्रबन्ध करने वालों की बहुत आवश्यकता होती है। उन्हें यह विचार करना पड़ता है कि कौन-सा काम, कब और किस प्रकार किया जाय, कहां से आवश्यक साधन सस्ते और अच्छे मिल सकते हैं तथा काम को किस तरह मजदूरों के बीच बांटा जाय। उन्हें

यह भी विचार करना होता है कि उत्पादित वस्तु को किन-किन मण्डियों में बेचा जाय, वैसे उन्हें उन स्थानों तक ले जाया जाय, किस ढंग से उस वस्तु का विज्ञापन किया जाय इत्यादि। इन सब बातों का तय करना 'प्रबन्ध व संगठन' कहलाता है। जो व्यक्ति यह काम करता है उसे प्रबन्धक कहते हैं। वैसे तो प्रबन्ध एक प्रकार से श्रम का ही एक विशेष रूप है, लेकिन आधुनिक उत्पादन-क्षेत्र में इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि इसे एक पृथक साधन माना जाता है। इसी के द्वारा अन्य साधनों का संगठन, उनके उपयोग का निरीक्षण और नियन्त्रण किया जाता है।

आधुनिक युग में उत्पत्ति व्यक्तिगत अथवा प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं बल्कि मंडी में बिक्री के लिए की जाती है। मंडी में किसी वस्तु की आगे चलकर कितनी माँग होगी उसके बदले में कितनी कीमत मिल सकेगी इसी के आधार पर उत्पत्ति की जाती है। उत्पत्ति की इस प्रणाली के कारण उत्पादन और अन्तिम उपभोग के बीच बहुत लम्बा अन्तर आ गया है जिसके कारण उत्पादन-क्षेत्र में लाभ हानि की समस्या बहुत बढ़ गई है। सम्भव है जो वस्तु उत्पन्न की जाय वह न बिक सके या जितना उस पर खर्च आया हो उससे कम कीमत मिले। ऐसा होने पर हानि होगी। इसलिए यह आवश्यक है कि कोई न कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (कम्पनी आदि) हानि लाभ का जोखिम उठाने के लिए तैयार हो। बिना इस तरह के साहस के आधुनिक उत्पादन-कार्य नहीं चल सकता।

अस्तु उत्पत्ति के लिए भूमि, श्रम पूँजी प्रबन्ध और साहस की आवश्यकता पड़ती है। उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में चाहे वह छोटा हो, या बड़ा इन पाँचों साधनों की आवश्यकता होती है। कोई भी काम हो, वह बिना श्रम के नहीं किया जा सकता। श्रम मनुष्य करता है, लेकिन इसके पहले कि मनुष्य किसी प्रकार का श्रम कर सके उसे भूमि की आवश्यकता होती है। साथ ही श्रम करने वाले के लिए औजार और सहायक वस्तुओं की जरूरत होती है जो पूँजी कहलाती है। इन साधनों

के उपयोग के निरीक्षण और नियन्त्रण के लिए 'प्रबन्ध' की आवश्यकता पड़ती है। और फिर यह भी जरूरी है कि कोई व्यक्ति उत्पादन-कार्य चलाने का साहस करे, लाभ-हानि के जोखिम की जिम्मेवारी ले।

उपर्युक्त साधनों में भूमि और श्रम प्रधान माने जाते हैं। इन दोनों के फलस्वरूप पूंजी उत्पन्न होती है। इसलिए पूंजी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। प्रबन्ध और साहस भी श्रम के विशेष रूप हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के केवल दो ही प्रधान साधन रह जाते हैं—भूमि और श्रम। इन दोनों साधनों में श्रम अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह तो ठीक है कि भूमि के बिना कोई भी काम नहीं चल सकता। पर भूमि निष्क्रिय है; वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। वह श्रम को उत्पादन-कार्य में सहायता देती है। काम तो स्वयं मनुष्य करता है। इस दृष्टि से श्रम ही अधिक महत्वपूर्ण ठहरता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उत्पत्ति के लिए केवल श्रम ही पर्याप्त है और अन्य साधनों की कोई आवश्यकता नहीं। उत्पादन-कार्य में तो उपर्युक्त सभी साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

अगले अध्यायों में इन साधनों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

उत्पत्ति पर प्रभाव

(Influences on Production)

उत्पत्ति कई बातों से प्रभावित होती है, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं —

(१) **प्राकृतिक परिस्थिति**—प्राकृतिक बातों का उत्पत्ति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी देश में कितनी, किस ढंग की उत्पत्ति होगी, यह बहुत अंश तक वहां की जलवायु, वर्षा, नदी, पहाड़, भूमि की उपज तथा अन्य प्राकृतिक बातों पर निर्भर है। यदि प्राकृतिक साधन अच्छे हैं, तो उत्पत्ति भी अच्छी होगी। यदि किसी देश में अच्छे प्राकृतिक साधनों की कमी है अथवा अक्सर बाढ़, आंधी, भूचाल, आदि आते रहते हैं, तो उत्पत्ति अवश्य ही कम और अनिश्चित होगी।

(२) **वैज्ञानिक ज्ञान**—वैज्ञानिक ज्ञान और उसके प्रयोग का उत्पत्ति पर काफी प्रभाव पडता है। वैज्ञानिक ज्ञान में जितनी अधिक वृद्धि और उन्नति होगी, उतनी ही अच्छी और अधिक परिमाण में उत्पत्ति हो सकेगी। वैज्ञानिक क्षेत्र में आगे होने के कारण इगलैण्ड, अमरीका, आदि देशों ने उत्पादन-कार्य में बहुत उन्नति की है। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा उनके उपयोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता बहुत बढ जाती है। इससे उत्पादन का परिमाण ही नही बढता बल्कि अच्छे ढग की उत्पत्ति भी होने लगती है।

(३) **उत्पत्ति के साधन**—इसके अतिरिक्त उत्पादन का परिमाण उत्पत्ति के साधनो की मात्रा और उनकी क्षमता अथवा उत्पादन-शक्ति पर निर्भर है। जितने अधिक या कम परिमाण म उत्पत्ति क साधन होंगे, उतनी ही अधिक या कम उत्पत्ति हो सकेगी। यदि किसी आवश्यक साधन की कमी है, तो उत्पत्ति की मात्रा कम होगी। अधिक उत्पत्ति के लिए केवल यही आवश्यक नही है कि उत्पत्ति के साधन अधिक हो, साथ ही यह भी आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधन अच्छे ढग के हों और उचित ढग से उनका उपयोग हो। उनके बीच यथेष्ठ रूप से प्रबन्ध और सुव्यवस्था न होने पर उत्पत्ति का परिमाण निश्चय ही कम रहेगा।

(४) **साख, बैंक, यातायात की सुविधाए**—उत्पादन का परिमाण बहुत-कुछ अश तक साख (credit), बैंक और यातायात की सुविधाओं पर निर्भर है। यदि साख और वित्त (finance) की देश मे ठीक व्यवस्था नही है, तो उत्पादन-कार्य में अनेक कठिनाइया और रुकावट आयेंगी। इसी प्रकार यातायात सम्बन्धी सुविधाओं का भी उत्पत्ति पर बहुत प्रभाव पडता है। व्यापार, उद्योग, आदि अच्छे और सस्ते यातायात के साधनों के होने पर ही प्रगति कर सकते है, अन्यथा नही।

(५) **राजनीतिक स्थिति और व्यवस्था**—उत्पत्ति राजनीतिक स्थिति और व्यवस्था से भी बहुत प्रभावित होती है। यदि राजनीतिक

झगड़ों के कारण देश में शान्ति न हो, या देश की सरकार से उत्पादन-कार्य में सहायता-प्रोत्साहन न मिलता हो अथवा सरकार की आर्थिक नीति ठीक न हो, दोषपूर्ण हो, तो निश्चय ही उत्पादन कम होगा। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक उन्नति या विकास कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि उत्पत्ति बढ़ाने के लिए हमें किन-किन बातों पर ध्यान देना जरूरी होगा।

उत्पत्ति का महत्त्व
(Importance of Production)

अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना उत्पत्ति सम्बन्धी विषयों के अध्ययन के, अर्थशास्त्र का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। मनुष्य वस्तुओं के उपभोग से अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। किन्तु यह तृप्ति तभी सम्भव है जबकि वस्तुएं उत्पन्न की जा चुकी हों। मनुष्य को कितनी तृप्ति प्राप्त हो सकती है, यह उत्पत्ति के परिमाण पर निर्भर है। उत्पत्ति द्वारा ही मनुष्य का जीवन-स्तर निर्धारित होता है। भारतवासियों का जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है। इसका मुख्य कारण धनोत्पत्ति की कमी है। जीवन-स्तर तभी ऊंचा हो सकता है, जबकि उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि हो। अतएव इस बात का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है कि उत्पत्ति किन-किन साधनों द्वारा होती है, और किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

सामाजिक दृष्टि से भी उत्पत्ति का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। अनेक आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएं, जिनसे आधुनिक समाज पीड़ित है, अधिकतर कम अथवा बुरी उत्पत्ति के कारण ही पैदा होती हैं। समाज को इन जटिल समस्याओं से छुटकारा दिलाने के लिए हमें उत्पत्ति-विषय पर यथेष्ट रूप से ध्यान देना होगा। निर्धनता की समस्या का ही उदाहरण ले लो। कभी-कभी यह कहा जाता है कि धन-वितरण सम्बन्धी असमानता दूर करके लोगों की आर्थिक दशा सुधारी जा सकती है, गरीबी दूर की

जा सकती है। यह तो ठीक है कि कुछ हद तक वितरण की विषमता दूर करने से निर्धनता का बोझ हल्का किया जा सकता है, पर निर्धनता की समस्या को हल करने के लिए केवल असमानता को ही दूर करना पर्याप्त न होगा। यदि देश में पर्याप्त मात्रा में उत्पत्ति नहीं होगी तो अधिकांश लोग गरीब बन रहेंगे, चाहे जिस ढंग से बटवारा किया जाय। जब तक निर्धनता का साम्राज्य रहेगा, तब तक वह देश शान्ति और सतोष का अनुभव नहीं कर सकता, और उस समय तक उन्नति का मार्ग बन्द ही रहेगा। अस्तु, सामाजिक समृद्धि और उन्नति के लिए उत्पत्ति का यथेष्ठ रूप से अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक है।

QUESTIONS

1. Define production What are the different ways in which production can take place ?
2. "Man produces and consumes utilities only" Discuss
3. Indicate the various factors of production and show which of them should be regarded as primary factors
4. Bring out the importance of the study of production Examine briefly the factors that affect the volume of production

अध्याय १६

भूमि

(Land)

साधारण बोलचाल मे पृथ्वी-तल को, जिस पर मनुष्य को रहने और काम करने के लिए स्थान मिलता है, 'भूमि' कहते है। किन्तु अर्थशास्त्र मे 'भूमि' शब्द को इससे कही व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र मे 'भूमि' शब्द से अभिप्राय उन समस्त पदार्थो और शक्तियो से है जो प्रकृति धनोत्पादन के लिए मनुष्य को पृथ्वी तल पर अथवा उसके नीचे और ऊपर देती है। उदाहरणार्थ समुद्र, नदी, झील, तालाब, झरने, वन, पर्वत, मैदान, खान तथा इन सबमे पाये जाने वाले पदार्थ जैसे वनस्पतिया, जीव-जन्तु, आदि भूमि मे समावेशित है। साथ ही गर्मी-सर्दी, वायु, वर्षा, ऋतु, आदि भी भूमि के अन्तर्गत आ जाते है। इस सम्बन्ध मे यह याद रखना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र मे प्रकृति का वही भाग 'भूमि' में सम्मिलित किया जाता है जिसकी उत्पत्ति में मनुष्य के श्रम का कोई भी अश नही लगा होता और जो धनोत्पत्ति के काम मे जरूरी होता है।

भूमि की विशेषताए

(Peculiarities of Land)

उत्पत्ति के अन्य साधनो की तुलना मे भूमि में कुछ खास विशेषताए है जिनका कई स्थानो या बातो पर बहुत प्रभाव पडता है। अत उनको ध्यान मे रखना आवश्यक है। इन विशेषताओ में मुख्य निम्नलिखित है :

(१) भूमि प्रकृति की देन है। अस्तु, इसके उत्पादन मे कुछ भी लागत या खर्च नही पडता। भूमि मनुष्य को बिना किसी श्रम या खर्च के ही

प्राप्त होती है। पर भूमि की यह विशेषता केवल प्रारम्भिक स्थिति के लिए ही लागू है। आगे चलकर जब किसी व्यक्ति का किसी भू-भाग पर अधिकार हो जाता है, तो वह उसके उपयोग के लिए दूसरों से कुछ न कुछ मूल्य या उजरत अवश्य चाहेगा। प्राकृतिक भूमि को काम में लाने के लिये मनुष्य को श्रम करना पड़ता है, अपनी पूंजी लगानी पड़ती है। ऐसी दशा में भूमि प्रकृति की स्वतन्त्र देन नहीं रह जाती, वह पूंजी का रूप धारण कर लेती है। इसलिए उसके उपयोग के लिए मनुष्य को कीमत देनी पड़ती है।

(२) दूसरी विशेषता यह है कि भूमि का परिमाण परिमित है। उसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। उत्पत्ति के अन्य साधनों को समय मिलने पर घटाया-बढ़ाया जा सकता है। किन्तु भूमि के साथ यह बात सम्भव नहीं है। प्रकृति द्वारा भूमि का परिमाण परिमित है। भूमि का जितना परिमाण है, बस उतना ही रहेगा। यदि भूमि की कीमत बढ़ जाय, तो कहीं से नई भूमि पैदा नहीं की जा सकती। वह उतनी ही रहेगी, चाहे उसकी माग घटे या बढ़े। अस्तु, जितनी भूमि प्रकृति द्वारा हमें मिली है, उसी पर हमें सतोष करना पड़ेगा क्योंकि हम स्वयं भूमि पैदा नहीं कर सकते। भूमि की इस विशेषता का उत्पादन-कार्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी विशेषता के कारण कृषि में क्रमागत-उत्पादन-ह्रास नियम शीघ्र ही लागू होने लगता है। भूमि की कीमत भी इसी कारण चढ़ती जाती है।

(३) भूमि अमर तथा अविनाशी है। यह अक्षय है। मनुष्य इसको नष्ट नहीं कर सकता। भूमि की उर्वरा-शक्ति, उत्पादन-शक्ति नष्ट हो सकती है। पर जब हम यह कहते हैं कि भूमि अक्षय है, भूमि नष्ट नहीं होती, तो हमारा आशय भूमि के तल से होता है। उसकी उर्वरता से नहीं।

(४) भूमि की चौथी विशेषता उसकी स्थिरता है। आवश्यकता-

नुसार हम दूसरी वस्तुओं व साधनों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं। किन्तु भूमि में यह गुण नहीं है। यह स्थिर है। भूमि का जो भाग जहा है, वही रहेगा। उसका स्थान नहीं बदला जा सकता। इस कारण भिन्न-भिन्न स्थानों पर भूमि की कीमतों म बहुत अन्तर होता है।

(५) भूमि धनोत्पत्ति में स्वयं कार्य नहीं करती। वह निष्क्रिय है। किन्तु यह स्मरण रहे कि भूमि के बिना उत्पत्ति का कोई भी काम नहीं चल सकता।

(६) भूमि की उर्वरा शक्ति, स्थिति, आदि म बहुत भिन्नता पाई जाती है। भूमि के कोई भी दो भाग बिलकुल एक समान नहीं होते। उनकी शक्ति और स्थिति में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है।

भूमि का महत्त्व
(Importance of Land)

भूमि धनोत्पत्ति का आधारभूत साधन है। इसके बिना उत्पत्ति का कोई भी काम नहीं हो सकता। ससार में जितने भी काम होते हैं, उन सबके लिए भूमि की आवश्यकता पडती है। भूमि म ही मनुष्य को रहने और काम करने के लिए स्थान और आधार मिलता है। बिना स्थान के तो कुछ भी काम नहीं हो सकता। स्थान के साथ-साथ ही मनुष्य को वायु, पानी, प्रकाश, आदि परमावश्यक चीजें प्राप्त होती हैं। भूमि पर खेती की जाती हैं जिससे मनुष्य को तरह-तरह के खाद्य-पदार्थ मिलते हैं। इसी से भाति-भाति के कच्चे मालों की प्राप्ति होती है जिनके बिना कोई भी उद्योग-धन्धा या व्यवसाय नहीं चल सकता। लोहा, कोयला, सोना, चादी, आदि खनिज पदार्थों का उत्पादन-क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। और फिर जगलों से अनेक प्रकार की लकडिया प्राप्त होती हैं और समुद्र, नदियों, झीलों में मछली, आदि अनेक पदार्थ मिलते हैं। नदियों के पानी से बिजली पैदा की जाती है जो केवल रोशनी के ही काम नहीं आती बल्कि मशीनों

के चलाने मे भी प्रयोग होती है। इसके अतिरिक्त भूमि से एक और महत्वपूर्ण लाभ है। वह यह है कि भूमि यातायात के साधनो के लिए काम में आती है। भूमि पर ही हम अपने तथा व्यापार की सुविधा के लिए रेल, सडके, नहरे आदि, बनाते है। अस्तु, भूमि एक प्रकार का भडार है जहाँ से हमें खाद्य पदार्थ, कच्चा माल, हवा, पानी, तरह-तरह के खनिज पदार्थ, काम करने और रहने का स्थान और आधार मिलता है।

उपर्युक्त बातो से भूमि का महत्व स्पष्ट है। मानव जाति की उन्नति, सुख-समृद्धि में भूमि का बहुत हाथ है। किसी देश की आर्थिक उन्नति बहुत कुछ अश तक वहा के प्राकृतिक साधनो पर निर्भर है। यदि किसी देश की भूमि उपजाऊ है, भौगोलिक स्थिति अच्छी है, नदी, पहाड, जगल तथा खाने पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है, वहा की जलवायु अच्छी है और वर्षा नियत समय पर होती है, तो वह देश अन्य देशो की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकता है। उदाहरणार्थ आज जो अमरीका, इगलैण्ड, आदि देशो की आर्थिक उन्नति का झडा समस्त ससार मे लहरा रहा है, वह बहुत-कुछ अश तक उन देशों के प्राकृतिक साधनो तथा उनके सदुपयोग का फलस्वरूप है। वैसे तो भारतवर्ष भी प्राकृतिक साधनो के दृष्टिकोण से काफी धनी है। देश की भौगोलिक स्थिति बहुत अच्छी है, भूमि उपजाऊ है और विविध जलवायु और ऋतुओ के कारण अनेक प्रकार का अन्न, कच्चा माल, आदि यहा पैदा होता है। आवश्यक खनिज पदार्थों की भी देश में कोई कमी नही। विद्युत-शक्ति का भी यहा बहुत बडा भडार है। पर इस प्रकार धनवान देश होते हुए भी, भारतवर्ष बहुत गरीब है। आर्थिक उन्नति में यह औरो से कही पीछे है। इसका मुख्य कारण यह है कि यहा के प्राकृतिक साधनो को राष्ट्र के हित के लिए उचित ढग से प्रयोग नही किया जाता। यदि इन साधनों को ठीक तरह से प्रयोग में लाया जाय, तो निश्चय ही भारत आर्थिक क्षेत्र में बहुत उन्नति कर सकता है और यहा के लोगो का जीवन-स्तर ऊपर उठ सकता है।

भूमि की उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव
(Influences on Productivity of Land)

भूमि की उत्पादन-शक्ति का महत्त्व ऊपर बताया जा चुका है। अब हम यह विचार करेंगे कि भूमि की उत्पादन-शक्ति पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है।

(१) **प्राकृतिक सुविधाएं**—भूमि की उत्पादन-शक्ति बहुत-कुछ अंश तक हवा, वर्षा, नदी, जंगल, पहाड़, आदि प्राकृतिक बातों पर निर्भर है। औद्योगिक उत्पत्ति पर जलवायु का काफी प्रभाव पड़ता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति में विभिन्न जलवायु की आवश्यकता पड़ती है। लंका-शायर और बम्बई की जलवायु रुई के व्यवसाय के लिए बहुत उत्तम है। इस कारण इन स्थानों पर रुई के बड़े-बड़े कारखाने दिखाई पड़ते हैं। खनिज पदार्थों का भी भूमि की कार्य-शक्ति पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

(२) **स्थिति**—भूमि की उत्पादन-शक्ति के सम्बन्ध में हमें प्राकृतिक साधनों की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक साधनों की स्थिति अच्छी होने पर भूमि की उत्पादन-शक्ति अधिक होगी। बहुत उपजाऊ भूमि होते हुए भी, वह बेकार है, यदि उसकी स्थिति ऐसी है कि वहां तक मनुष्य आसानी से नहीं पहुंच सकता। प्राकृतिक पदार्थों को उसी समय नियात्मक रूप से प्रयोग किया जा सकता है, जबकि उन पदार्थों तक पहुंचने के साधन हों। कितने ही स्थान ऐसे हैं जहां अच्छे प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं, किन्तु मण्डी से दूर होने के कारण वे बेकार हैं। अस्तु, भूमि की अधिक उत्पादन-शक्ति के लिए अच्छी स्थिति का होना आवश्यक है। अर्थात् स्थिति का भूमि की उत्पादन-शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(३) **मानव-उद्योग**—प्राकृतिक साधनों और उनकी स्थिति के अतिरिक्त मानव-उद्योग का भी भूमि की उत्पादन-शक्ति पर काफी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने प्रयत्न से प्राकृतिक न्यूनताओं को बहुत-

कुछ अश तक दूर कर सकता है । विज्ञान की सहायता से मनुष्य जलवायु को बदल कर अपने अनुकूल बना सकता है । बडे पैमाने पर पेडो के लगाने में जलवायु में अन्तर आ जाता है । इसी तरह उचित ढग की खाद डालने मे अथवा फसल-परिवर्तन, आदि से खेत की उपज बढाई जा सकती है । मनुष्य अपने उद्योग द्वारा स्थिति मे भी काफी परिवर्तन ला सकता है । यातायात के साधनो मे उन्नति करके प्राकृतिक साधनो को मण्डी के निकट लाकर भूमि की उत्पादन-शक्ति बढाई जा सकती है।

सक्षेप मे, भूमि की उत्पादन-शक्ति मुख्यत मानव-उद्योग, यातायात के साधनों और भौगोलिक बातों पर निर्भर करती है।

विस्तृत और गहरी खेती
(Extensive and Intensive Cultivation)

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य अपने उद्योग द्वारा भूमि की शक्ति बढाकर, उसकी स्थिति सुधार कर, उत्पादन का परिमाण बढा सकता है । उदाहरण के लिए कृषि-उपज दो प्रकार से बढाई जा सकती है—एक तो विस्तृत खेती द्वारा और दूसरे गहरी खेती द्वारा । जब नई भूमि को जोत कर उपज बढाई जाती है, तो उसे विस्तृत खेती (extensive cultivation) कहते हैं । जिन देशों में जनसख्या कम होती है और भूमि का परिमाण अधिक होता है, वहा विस्तृत खेती के ढग को अपनाया जाता है । लगातार फसलें बोने से पुराने खेतो की उपज कम होने लगती है । इसलिए जहा आवश्यकतानुसार नई भूमि पर्याप्त मात्रा मे मिल सकती है, वहा के किसान पुराने खेतो मे अधिक पूजी, श्रम, आदि को न लगाकर उन्हे नए खेतो मे लगाते है और नई भूमि को प्रयोग में लाकर उपज बढाने का प्रयत्न करते है । खेतो का यह ढग नये देशो में ही किया जा सकता है जहा बे-जोती हुई भूमि उपलब्ध हो सकती है।

कृषि-पैदावार बढाने का दूसरा उपाय गहरी खेती (intensive cultivation) है । पुराने देशों मे जहा बे-जोती हुई नई भूमि

उपलब्ध नही होती, वहा माग के बढने पर पुराने खेतो मे ही अधिक पूजी और श्रम लगाकर उपज बढाने का प्रयत्न किया जाता है। जब उसी भूमि पर पूजी, श्रम, आदि साधनो की मात्रा बढाकर खेती की जाती है, तो उसे 'गहरी खेती' अथवा 'विशिष्ट खेती' कहते है। जहा भूमि का परिमाण अन्य साधनो की तुलना मे सीमित होता है, वहा इस ढग से खेती की जाती है। कारण, वहाँ आवश्यकतानुसार नई भूमि कृषि के लिए नहीं मिल सकती। जन-सख्या मे वृद्धि होने पर एक सीमा के बाद कृषि-उपज बढाने का एकमात्र साधन गहरी खती ही रह जाती है।

QUESTIONS

1. What is meant by 'Land' in Economics? State its peculiarities and importance in production
2. State and explain the main factors which influence the productivity of land
3. What do you mean by intensive and extensive cultivation? Under what conditions can they be followed successfully?

अध्याय १७

श्रम और उसके लक्षण

(Labour and its Peculiarities)

'श्रम' शब्द के साधारण और आर्थिक अर्थों मे काफी भिन्नता है। आम बोल-चाल मे हर तरह के प्रयत्न, काम अथवा उद्योग को श्रम कहते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र म 'श्रम' शब्द को इतने व्यापक अर्थ मे प्रयोग नही किया जाता। एक तो अर्थशास्त्र म (श्रम से अभिप्राय केवल मनुष्य के प्रयत्नो और कार्यों से ही है। जो काम पशुओ अथवा मशीनो द्वारा किया जाता है, वह श्रम म शामिल नही किया जाता। बैल खेतो के जोतने म बडी मेहनत से काम करते है। इसी प्रकार ऊट, घोडे, आदि भी बडी मेहनत करत है। लेकिन पशुओ और मशीनो क द्वारा जो काम होते है, उनकी गिनती श्रम म नही होती क्योकि पशुओ और मशीनो की गिनती तो पूजी म की जाती है। दूसरे, मनुष्य के सभी प्रयत्न अथवा कार्य 'श्रम' नही है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तरह-तरह के उद्योग करता है। लेकिन उसका वही कार्य श्रम माना जाता है जो धनोपार्जन के उद्देश्य से किया जाता है। इन दोनो बातों को ध्यान में रखते हुए 'श्रम' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है *अर्थशास्त्र में 'श्रम' से अभिप्राय मनुष्य के उन मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्नो से है—जो पूर्णत या अशत धनोपार्जन के लिए किये जाते है।*

अस्तु, मनुष्य के वे उद्योग, जो केवल मनोरजन, आनन्द या मन-बहलाव के लिए किए जाते है, 'श्रम' नही माने जायेंगे। उदाहरणवत् यदि कोई गायक अपने या दूसरो के मनोरञ्जन के लिए गाना गाता है, तो उसके

इस कार्य को 'श्रम' में न शामिल करेंगे। लेकिन यदि वह किसी को संगीत सिखाने के लिए गाना गाता है जिसके बदले में उसे रुपये की प्राप्ति होती है, तो उसके इस उद्योग को 'श्रम' माना जायगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि श्रम में मनुष्य के उन्हीं काम की गिनती होती है जिसमें मनोरंजन नहीं होता, जिसमें कड़ी मेहनत लगती है अथवा जो कष्ट-दायक हो। प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ आनन्द मिलता है और साथ ही उसमें थोड़ी-बहुत मेहनत भी पड़ती है। अस्तु, यह निर्णय करने के लिए कि अमुक कार्य 'श्रम' है या नहीं, हम उस काम के उद्देश्य पर विचार करना होगा। यदि कोई काम धनोपार्जन के लिए किया गया है, तो मनोरंजक होने पर भी वह काम 'श्रम' कहलाएगा। इसके विपरीत यदि काम केवल आनन्द या मनोरंजन के लिए ही किया गया है, तो वह श्रम न माना जायगा, चाहे उसमें कितनी कड़ी मेहनत क्यों न पड़ती हो। अर्थात् धनोपार्जन के उद्देश्य को सामने रखकर जो काम किया जाता है, वही अर्थशास्त्र में श्रम माना जाता है, चाहे उस काम में आनन्द मिलता हो या नहीं, अथवा उसमें कड़ी मेहनत पड़ती हो या नहीं।

श्रम के भेद
(Kinds of Labour)

श्रम के कई भेद किये जाते हैं जैसे साधारण तथा कुशल श्रम, मानसिक और शारीरिक श्रम, उत्पादक और अनुत्पादक श्रम, आदि। इनमें से एक दो पर यहाँ विचार किया जायगा।

(१) साधारण तथा कुशल श्रम (Unskilled and Skilled Labour)—'साधारण श्रम' से अभिप्राय उन कार्यों से है जिनके करने में किसी विशेष शिक्षा, अभ्यास या निपुणता की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसे कुली का काम। इसके विपरीत 'कुशल श्रम' उस श्रम को कहते हैं जिसके करने में विशेष अभ्यास, शिक्षा, आदि की जरूरत होती है जैसे डाक्टर, जज, इन्जीनियर, आदि के काम। इस

सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि 'साधारण' और 'कुशल' शब्द सापेक्षित हैं। इनका कोई निरपेक्ष अर्थ नहीं है। देश, काल, आदि के अन्तर से कुशल-श्रम साधारण-श्रम हो सकता है और साधारण-श्रम कुशल-श्रम बन सकता है।

(२) **उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम**–(Productive and Unproductive Labour) श्रम उत्पादक अथवा अनुत्पादक हो सकता है। अर्थशास्त्र में उत्पत्ति या अर्थ उपयोगिता-उत्पादन या वृद्धि में है। अस्तु, जिस श्रम से उपयोगिता की उत्पत्ति अथवा वृद्धि होती है, उसे 'उत्पादक-श्रम' कहेंगे। इसके विपरीत जिस श्रम से किसी प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न न हो या उपयोगिता में वृद्धि न हो, उसे 'अनुत्पादक-श्रम' कहेंगे। अर्थात् अनुत्पादक श्रम वह है जो व्यर्थ किया गया हो, जिसमें उपयोगिता-उत्पादन न हुआ हो। फिर भी यह ध्यान रहे कि यदि कोई श्रम उपयोगिता-उत्पादन में लगा हुआ है तो वह अवश्य उत्पादक श्रम माना जायगा, चाहे अन्त में उद्देश्य की पूर्ति संभव हो सके या नहीं।

पूर्वकाल के अर्थशास्त्री उत्पादक-श्रम को बहुत संकुचित अर्थ में लेते थे। अठारहवीं सदी में फ्रांस के अर्थशास्त्री केवल कृषि-कार्य को ही उत्पादक-श्रम मानते थे। बाकी सब काम अनुत्पादक-श्रम माने जाते थे। आगे चलकर एडम स्मिथ ने, जो अर्थशास्त्र के एक बहुत बड़े विद्वान् माने जाते हैं, कारखानों, उद्योग-धंधों में लगे हुए श्रम को उत्पादक-श्रम में शामिल कर लिया। फिर भी उनके अनुसार गायक, अध्यापक, घरेलू नौकर का काम अनुत्पादक था। किन्तु अब वर्तमान समय में उत्पादक-श्रम को बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार वे सभी श्रम उत्पादक श्रम हैं जिनसे किसी भी प्रकार की उपयोगिता की उत्पत्ति या वृद्धि होती है। अब किसानों, उद्योग-धंधों वालों का ही काम नहीं बल्कि डाक्टरों, गायकों, अध्यापकों, फौज वालों, आदि सभी का काम उत्पादक श्रम माना जाता

है क्योंकि इन सबका सम्बन्ध उपयोगिता के उत्पादन अथवा वृद्धि से होता है। और अर्थशास्त्र में इसी को 'उत्पत्ति' कहते हैं।

श्रम के लक्षण

(Peculiarities of Labour)

श्रम के लक्षणों पर विचार करने से पता चलता है कि श्रम अन्य साधनों से कितना भिन्न है। साथ ही इन लक्षणों का श्रम-सम्बन्धी बातों तथा समस्याओं पर बहुत प्रभाव पडता है। अस्तु, इन लक्षणों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। श्रम के मुख्य लक्षण इस प्रकार है —

(१) सबसे बडी बात यह है कि श्रम को श्रमिक से अलग नही किया जा सकता। इस कारण श्रमिक को स्वय उस स्थान पर जाना पडेगा जहाँ पर वह श्रम करने के लिए तैयार है। अन्य वस्तुओं को हम उनके अधिकारियों या मालिकों से पृथक् करके जहाँ चाहे भेज सकते है, किन्तु श्रम और श्रमिक एक दूसरे से अलग नही किए जा सकते। पत्थर बेचने वाला इस बात पर ध्यान नही देता कि खरीदार कौन या कैसा है अथवा उसका पत्थर किस काम या स्थान में प्रयोग होगा—गदी नाली में या एक सुन्दर महल में। यदि उसको ठीक कीमत मिल जाती है, तो वह इन बातो का तनिक-सा भी खयाल नही करता। किन्तु एक श्रमिक को अपना श्रम बेचते समय इन बातो पर विचार करना पडता है कि उसे कहा काम करना होगा, वहा का वातावरण, रहन-सहन कैसा है, किसके आधीन रह कर काम करना पडेगा, किन लोगो के साथ काम करना होगा, आदि। इन अनेक बातों का विचार करना उसके लिए जरूरी होता है क्योकि इन सबका प्रभाव उस पर पडता है।

(२) श्रम शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु है। अन्य साधनो और वस्तुओं को काफी समय तक सचय कर या बचाकर रखा जा सकता है। एक व्यापारी अपनी किसी वस्तु को कीमत में वृद्धि होने की सभावना से कुछ समय तक रोक कर लाभ उठा सकता है। पर श्रम इस प्रकार सचित

करके नहीं रखा जा सकता। यदि एक श्रमजीवी एक माह काम न करे, तो वह दूसरे महीने उसे पूरा न कर सकेगा क्योंकि समय के साथ-साथ श्रम भी बीतता जाता है, श्रम का ह्रास होता जाता है। यही कारण है कि श्रमिक में मोल-भाव करने की क्षमता अपेक्षाकृत बहुत कम होती है।

(३) एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रम उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही है। भूमि और पूंजी तो उत्पत्ति के केवल साधन मात्र ही हैं। इनसे उपयोगिता के उत्पादन में, इच्छित वस्तुओं के तैयार करने में सहायता मिलती है। पर श्रम उत्पादन करने वाला ही नहीं बल्कि उत्पन्न वस्तुओं का उपभोग करने वाला भी है। अस्तु, श्रम का स्थान अन्य साधनों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उत्पत्ति के साधनों को प्रयोग में लाते समय श्रम की इस विशेषता का पूरा-पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है।

(४) श्रम की पूर्ति श्रम की माग के अनुसार आसानी और शीघ्रता से घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। यदि माग एकदम बढ़ जाय या घट जाय, तो श्रम की पूर्ति उसके अनुसार जल्दी नहीं बदली जा सकती। श्रम की पूर्ति जन-संख्या पर निर्भर है, पर जन-संख्या की वृद्धि केवल आर्थिक बातों पर ही निर्भर नहीं करती और न पैदा होते ही मनुष्य काम में लग सकता है। उसके पालन-पोषण, शिक्षा, आदि में काफी समय लगता है। इस कारण श्रम की पूर्ति में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन लाया जा सकता है।

(५) अन्य साधनों की तरह श्रम में भी रुपया लगाया जा सकता है। लेकिन श्रम के साथ एक खास बात है। वह यह है कि श्रम के शिक्षण आदि में जो रुपया लगाया जाता है, वह सदा के लिए उसी में लग जाता है और बहुत ही धीरे धीरे निकलता है।

श्रम का महत्त्व
(Importance of Labour)

उत्पत्ति के साधनों में श्रम का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। हर प्रकार की उपयोगिता-उत्पादन अथवा वृद्धि के लिए श्रम अनिवार्य है। इसके बिना

कोई भी काम नही चल सकता, किसी भी प्रकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह बात तो भूमि के लिए भी कही जा सकती है। लेकिन भूमि निष्क्रिय है, वह स्वय कुछ भी नही कर सकती। इसके विपरीत श्रम सक्रिय है। श्रमिक खुद काम कर सकता है। बिना उसके न तो भूमि ही कुछ उत्पत्ति कर सकती है और न पूजी ही। वास्तव मे पूजी तो श्रम पर ही निर्भर है। अस्तु, श्रम उत्पत्ति का सर्वप्रधान साधन है। इसी पर उत्पत्ति निर्भर है।

श्रम का महत्त्व इस कारण भी है कि वह उपभोग करने वाला भी है। सारी उत्पत्ति उसी के उपभोग के लिए ही की जाती है। अस्तु, श्रम उत्पत्ति और उपभोग का एक मात्र केन्द्र है। इस बात से श्रम का महत्त्व स्वय स्पष्ट है।

श्रम की महत्ता को ध्यान मे रखते हुए श्रम की पूर्ति पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। कारण, श्रम की पूर्ति पर किसी देश की आर्थिक उन्नति, सुख-समृद्धि बहुत कुछ निर्भर होती है। श्रम की पूर्ति दो बातो पर निर्भर है (१) श्रमिको की सख्या, और (२) श्रमिको की कार्य-क्षमता अथवा योग्यता। इनका वर्णन अगले अध्यायो मे किया जायगा।

QUESTIONS

1. Define and explain the meaning of labour
2. What are the important peculiarities of labour ? What is their importance ?
3. Distinguish between productive and unproductive labour as clearly as you can.
4. Is the labour of the following productive ?
   (a) a house-wife,
   (b) a domestic servant,
   (c) a teacher
   (d) an amature painter.

अध्याय १८

श्रम की पूर्ति

(Supply of Labour)

श्रम की पूर्ति देश की जन-संख्या पर निर्भर होती है। जितनी ही अधिक या कम किसी देश की जन-संख्या होगी, साधारणतः उतनी ही अधिक या कम श्रम की पूर्ति होगी। किसी देश की जन-संख्या दो बातो पर निर्भर करती है (१) जन्म तथा मृत्यु-संख्या और (२) आवास-प्रवास। यदि किसी देश मे जन्म-दर मृत्यु-दर से अधिक है, तो जन-संख्या बढ़ेगी। इसी प्रकार यदि देश में बाहर से आने वालो की संख्या जाने वालों से अधिक है, तो जन-संख्या बढ़ेगी, और देश से बाहर जाने वालो की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होने पर जन-संख्या घटेगी। संक्षेप मे, हम यहा उन बातो पर विचार करेंगे जिनमे जन-संख्या प्रभावित होती है।

जन्म-दर

(Birth-Rate)

जन्म-दर कई बातो पर निर्भर होती है जिनमे से मुख्य निम्न-लिखित हैं —

(१) जलवायु—जलवायु का जन्म-दर पर काफी प्रभाव पड़ता है। गर्म देशों में विवाह जल्दी और कम उम्र मे हो जाते है। शीत-प्रधान देशो में विवाह देर से होते है। इस कारण गर्म देशो मे प्रत्येक विवाह के पीछे अधिक सन्तानें होती है, अर्थात् जन्म-दर अधिक होती है।

(२) सामाजिक और धार्मिक कारण—सामाजिक तथा धार्मिक कारणो का भी जन्म-दर पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जैसे भारत में

विवाह का आम रिवाज है। विवाह एक आवश्यक और धार्मिक बन्धन माना जाता है और सो भी छोटी ही उम्र में। इस कारण भारत में जन्म-संख्या का अनुपात अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। पश्चिमी देशों में ऐसी सामाजिक या धार्मिक प्रथाएं प्रचलित नहीं हैं। वहां विवाह की प्रथा इतनी व्यापक नहीं है, और न ही वहां बाल-विवाह या बहु-विवाह प्रचलित हैं। फलस्वरूप वहां पर जन्म-दर कम हैं।

(३) राजनीतिक परिस्थिति—कभी-कभी सरकारी नीति के कारण भी जन्म-दर की वृद्धि कम या अधिक हो जाती है। सरकार जन्म-दर की वृद्धि कम या अधिक करने के लिए लोगों को अनेक प्रकार से सहायता या प्रोत्साहन दे सकती है। जर्मनी, इटली, रूस, आदि देशों में सरकारी नीति का जन्म-दर पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

(४) आर्थिक दशा—सबमें अधिक प्रभावपूर्ण कारण लोगों की आर्थिक स्थिति है। साधारणतः गरीबी की अवस्था में जन्म-दर अधिक होती है। यह देखने में आता है कि रहन-सहन का दर्जा जितना ही नीचा होता है, उतनी ही अधिक जन्म-दर होती है। इसके कई कारण हैं। एक गरीब आदमी जल्दी विवाह करता है और बौद्धिक उन्नति कम होने के कारण वह भविष्य की कम चिन्ता करता है। यही नहीं मनोरंजन के लिए उसके पास और कोई साधन नहीं होता। फलस्वरूप गरीब मनुष्य के अधिक बच्चे हुआ करते हैं। इसके विपरीत, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है, जिनके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होता है, वे देर में शादी करते हैं और अपेक्षाकृत कम सन्तानें पैदा करते हैं ताकि उनके रहन-सहन का दर्जा नीचे न गिरे।

मृत्यु-दर
(Death Rate)

अन्य बातों के समान रहने पर, जितनी ही कम या अधिक मृत्यु-दर होगी, जन-संख्या की वृद्धि उतनी ही अधिक या कम होगी। यदि किसी देश में १०० जन्मों के पीछे प्रतिवर्ष २५ मौतें होती हैं और दूसरे

देश में केवल १५ मौतें होती हैं तो, अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, दूसरे देश की जन-संख्या में पहले देश की अपेक्षा अधिक वृद्धि होगी। मृत्यु-दर पर विभिन्न प्रकार की बातों का प्रभाव पड़ता है जैसे जलवायु, प्राकृतिक घटनाएं, रहन-सहन का दर्जा, विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाज, शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य, चिकित्सा, आदि के साधन। यदि किसी देश की जलवायु ठीक नही है अथवा वहा प्राय बाढ, भूकम्प, आदि के रूप मे दैवी प्रकोप होते रहते है, तो उस देश की मृत्यु-दर अपेक्षाकृत अधिक होगी। इसी प्रकार यदि किसी देश मे शिक्षा का प्रचार कम है, लोग गरीब है, उनके रहन-सहन का दर्जा नीचा है और देश मे स्वास्थ्य, चिकित्सा, आदि के अच्छे साधन सुलभ नहीं है, या उस देश मे बाल-विवाह आदि की प्रथाएं प्रचलित है, तो निश्चय ही वहा की मृत्यु-दर बहुत बढी-चढी होगी।

भारत मे मृत्यु-दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। इसके अनेक कारण है। एक तो, देश के कुछ भागो की जलवायु गर्म है जिसके कारण लोगों का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नही हो पाता और देश मे तरह-तरह के घातक रोगो का धावा रहता है। दूसरे, लोगों की आर्थिक स्थिति ठीक नही है। उनके जीवन-स्तर का दर्जा बहुत ही नीचा है। वे भीषण गरीबी मे पिसे हुए है। तीसरे, देश मे स्वास्थ्य, चिकित्सा, आदि के अच्छे साधनो की विशेष कमी है, और फिर देश मे शिक्षा का प्रचार भी कम है। लोग अपढ और अन्ध-विश्वासी है। बाल-विवाह, आदि की प्रथाएं भी देश में प्रचलित है। अस्तु, यह कोई आश्चर्य की बात नही कि भारत मे मृत्यु-दर अत्यधिक है।

जन्म-दर में से मृत्यु-दर निकाल कर किसी देश की जन-संख्या की प्राकृतिक वृद्धि मालूम की जा सकती है। यदि दोनो दर बराबर है, तो जन-संख्या उतनी ही बनी रहेगी। यदि मृत्यु-दर अपेक्षाकृत अधिक है, तो जन-संख्या में घटी होगी और इसके विपरीत यदि जन्म-दर का आधिक्य है, तो जन-संख्या बढेगी।

आवास-प्रवास
(Immigration and Emigration)

जन-संख्या पर आवास-प्रवास का भी काफी असर पड़ता है। यदि किसी देश में प्रवासी देशवासियों की संख्या देश में विदेशियों की संख्या से अधिक है, तो जन-संख्या घटेगी, और इसके विपरीत यदि विदेश से बहुत-से लोग आकर बसेंगे, तो जन-संख्या में वृद्धि होगी। अमरीका और आस्ट्रेलिया में बाहर के देशों से आकर बहुत से लोग बस गए। फलस्वरूप इन देशों की जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई। पर वर्तमान समय में आवास-प्रवास स्वतन्त्र नहीं है। इस पर बहुत नियन्त्रण होता है। भिन्न-भिन्न देश अब आवास-प्रवास पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते हैं। विदेश में जाकर बसने में अब लोगों को अनेक कठिनाइयां होती हैं। तरह-तरह की अड़चनों के कारण आवास-प्रवास की संख्या अब बहुत कम होती जा रही है। फलस्वरूप इसके द्वारा अब जन-संख्या में कोई विशेष उतार-चढ़ाव नहीं होता।

माल्थस का जन-संख्या सम्बन्धी सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है जन-सम्पदा ही राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। व्यक्ति और समाज की उन्नति, सुख-समृद्धि बहुत-कुछ इसी पर निर्भर है। और आज जब अनेक प्रकार से प्रकृति मनुष्य की दास बन चुकी है, तो इस कथन की सत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। अतः जन-संख्या के प्रश्न पर विचार करना, उसका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक काल में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर आर्थिक दृष्टि से विचार करने वालों में सर्वप्रथम स्थान इंगलैण्ड के पादरी टामस रावर्ट माल्थस का है। जन-संख्या और खाद्य-सामग्री का किस हद तक सम्बन्ध है, उसके बारे में सबसे पहले इन्होंने ही वैज्ञानिक ढंग से विचार किया। बहुत गम्भीर अध्ययन के अनन्तर माल्थस ने १७९८ ई० में

"जन-सख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध" नामक एक सुविख्यात पुस्तक लिखी। इसका सशोधित सस्करण पाच वर्ष बाद १८०३ ई० मे प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में इन्होंने जन-सख्या और खाद्य-सामग्री के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातो अथवा सिद्धान्तो की स्थापना की है :—

(१) भोजन-सामग्री जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक है। इसी के द्वारा जन-सख्या की वृद्धि की अधिकतम सीमा निर्धारित होती है।

(२) मनुष्य की इन्द्रिय-लोलुपता के कारण जन-सख्या बहुत तेजी के साथ बढती है। *साधारणत यदि जन-सख्या पर कोई रोकथाम न हो,* तो वह २५ वर्ष में दुगुनी हो जाती है। दूसरे शब्दो से जन-सख्या में रेखागणित के अनुपात (geometric ratio) मे बढने की प्रवृत्ति होती है, जैसे—१, २, ४, ८, १६, ३२, आदि। यदि जन-सख्या किसी समय १ इकाई मान ली जाय, तो वह २५ वर्ष में २ इकाई हो जायगी, ५० वर्ष मे ४ इकाई, ७५ वर्ष मे ८ इकाई और इस प्रकार कोई रुकावट न होने पर जन-सख्या रेखागणतीय प्रगति से बढती जायगी।

(३) भूमि की परिमितता के कारण, खाद्य-सामग्री इतनी तेजी से नही बढती। साधारणत यह अकगणतीय दर (arithmetic ratio) से बढती है, जैसे—१, २, ३, ४, ५, ६, आदि।

उपर्युक्त वर्णन से जन-सख्या और खाद्य-सामग्री के बढने की दरो का अन्तर स्पष्ट है। । जितनी जल्दी जन-सख्या बढती है, उतनी जल्दी अन्न की मात्रा नही बढती । यदि कोई रोक-थाम न हो, तो पच्चीस वर्ष में जन-सख्या दुगुनी हो जाती है परन्तु भोजन-पूर्ति (food supply) दुगुनी नही होती । इसलिए किसी भी स्थान की जन-सख्या वहा की भोजन-पूर्ति से अधिक होगी। ऐसा होने पर खाद्य-सामग्री कम पड जायगी, भुखमरी बढेगी और तरह-तरह के रोग और सघर्ष फैलेंगे । जनाधिक्य की यह समस्या (problem of over-population) सदैव बनी रहती है । भूतकाल म ऐसा देखने मे आया है, और भविष्य में भी ऐसा ही होने की सभावना है

जन-संख्या की वृद्धि की रोकथाम के लिए माल्थस ने सुझाया कि इसके दो ही उपाय हैं—एक तो नैसर्गिक उपाय (Positive Checks) और दूसरे प्रतिबंधक उपाय (Preventive Checks)। नैसर्गिक उपाय व रोक प्रकृति द्वारा काम में लाये जाते हैं, जैसे प्लेग, हैजा, महामारी, अकाल, लड़ाई, आदि। इनसे मृत्यु-दर बढ़ जायगी और अन्त में जन-संख्या छीजती-छीजती केवल उतनी ही रह जायगी जितनी कि निर्वाह के लिए उस देश या स्थान पर खाद्य-सामग्री पर्याप्त हो सकेगी। अर्थात् मृत्यु-दर बढ़ जाने से जन-संख्या का आधिक्य कम हो जायगा। जन्म-दर कम करने में भी जन-संख्या की वृद्धि रोकी जा सकती है, जैसे देर में विवाह करना, संयम, ब्रह्मचर्य से रहना, आदि। इन्हें बनावटी निरोध अथवा प्रतिबन्धक उपाय कहते हैं। ये मनुष्य के वश में हैं। इन उपायों के द्वारा मनुष्य नैसर्गिक उपायों से होने वाले अनेक कष्टों और दुःखों से बच सकता है। यदि जन-संख्या की वृद्धि प्रतिबन्धक उपायों से न रोकी जायगी तो निश्चय ही प्रकृति द्वारा नैसर्गिक उपाय काम में लाये जायेंगे।

संक्षेप में, माल्थस के सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि जन-संख्या का झुकाव खाद्य-सामग्री की प्राप्य मात्रा से अधिक तेजी से बढ़ने की ओर होता है। फलस्वरूप जन-संख्या हमेशा ज्यादा ही पाई जाती है। इसे दूर करने के लिए नैसर्गिक उपाय काम में लाये जाते हैं, जिसके कारण समाज को अनेक कष्टों और दुःखों का सामना करना पड़ता है। भूतकाल में ऐसा ही होता रहा है और इसलिए भविष्य में भी ऐसा ही होने की संभावना है। इसी विचारधारा के कारण माल्थस एक निराशावादी विचारक माना जाता है।

माल्थस के सिद्धान्त की समीक्षा

(Criticism of Malthusian Theory)

माल्थस के इस सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किये जाते हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) माल्थस का यह कहना कि जन-संख्या की वृद्धि रेखा-गणित के अनुपात में और खाद्य-सामग्री की वृद्धि अंक-गणित के अनुपात में होती है ठीक नहीं है, निराधार है। वास्तव में जन-संख्या और खाद्य-सामग्री की उत्पत्ति रेखा-गणित और अंक-गणित के अनुपात की कड़ाई पर न कभी स्थिर रह सकी है और न रहेगी। दोनों की वृद्धि के बीच इस तरह का कोई अनुपात सिद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन इसके आधार पर माल्थस के सिद्धान्त को काटा नहीं जा सकता। कारण, माल्थस के सिद्धांत के ये आवश्यक अंग नहीं है। माल्थस ने रेखा-गणित और अंक-गणित का व्यवहार केवल सुविधा और स्पष्टीकरण के लिए ही किया था। प्रवृत्ति के रूप में माल्थस का सिद्धान्त ठीक और विचारणीय है।

(२) कहा जाता है कि माल्थस ने प्राणिशास्त्र पर पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया। सन्तान-प्राप्ति की इच्छा सदा एक-सी नहीं रहती। यह इच्छा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, आदि अनेक बातों से प्रभावित होती है। पर ये बातें सदा एक समान नहीं रहती। इस कारण सन्तान-वृद्धि की इच्छा हमेशा वैसी ही बनी नहीं रहती। उसमें परिवर्तन होता रहता है। फलस्वरूप यह कहना कि जन-संख्या हमेशा तीव्र गति से बढ़ती रहेगी या २५ वर्ष में दुगुनी हो जायगी, ठीक नहीं है।

प्राणिशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि जैसे-जैसे मनुष्य अधिकाधिक सभ्य होता जाता है, सन्तान पैदा करने की उसकी इच्छा वैसे ही वैसे कम होती जाती है। अस्तु, सभ्यता के बढ़ने के साथ-साथ जन-संख्या की वृद्धि की तेजी पूर्ववत् नहीं रहती। साथ ही यह भी कहा जाता है कि जन-संख्या सम्पत्ति की वृद्धि की अपेक्षा कम बढ़ती है। सम्पत्ति में वृद्धि होने से लोगों का जीवन-स्तर, रहन-सहन का दर्जा ऊंचा हो जाता है। ऊंचे दर्जे के बनाये रखने के लिए छोटे परिवार का होना आवश्यक है। अस्तु, जैसे-जैसे जीवन-स्तर ऊंचा होता जाता है, वैसे ही वैसे लोगों में अधिक सन्तान-प्राप्ति की इच्छा घटती जाती है। इस कारण जन-संख्या की वृद्धि में कमी आ जाती है।

(३) माल्थस ने यह भी भूल की कि उन्होंने खाद्य-पदार्थ को स्थिर प्राकृतिक व्यवस्था के रूप मे मान लिया। उन्होंने इस बात की ओर उचित ध्यान नहीं दिया कि किस हद तक मानवीय यत्नो, सुधारो और आविष्कारो के द्वारा उत्पत्ति में उन्नति सम्भव है। फलस्वरूप उनके बाद ससार के आर्थिक इतिहास ने माल्थस के विचारो को काफी झूठा साबित कर दिया। वर्तमान समय मे नये-नये उपायों और सुधारो द्वारा उत्पत्ति मे कही अधिक वृद्धि हुई है। १९१३ और १९२५ ई० के बीच ससार भर की जन-सख्या कुल ५ प्रतिशत बढी लेकिन इन्ही दिनो मे खाद्य-सामग्री में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९२५ और १९२९ ई० के बीच ससार की जन-सख्या और खाद्य-सामग्री में क्रमश ४ और १० प्रतिशत से वृद्धि हुई। इससे पता चलता है कि उत्पत्ति क्रमश से, अर्थात् जन-सख्या से पीछे नही रही बल्कि आगे ही रही है। वास्तव मे कुछ देशो को तो सारी स्थिति ही पलट गई है। वहा तो यह प्रश्न उठने लगा है कि जन-सख्या को किस प्रकार बढाया जाय। अस्तु, उत्पत्ति के साधनो के उन्नत और विकसित हो जाने पर माल्थस के सिद्धान्त व्यर्थ से लगने लगे है।

(४) कुछ लोग यह भी कहते है कि जन-सख्या की समस्या पर विचार करते समय हमे देश के कुल साधनो व कुल धनोत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए, केवल खाद्य-पदार्थो की उत्पत्ति पर ही नही। एक औद्योगिक प्रधान देश अपने विभिन्न प्रकार के तैयार माल के बदले मे दूसरे देशो से अधिकाधिक खाद्य-पदार्थ प्राप्त कर सकता है। जैसे इगलैण्ड मे मुश्किल से वहा के १६ फीसदी लोगो के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न की जाती है। शेष खाद्य-सामग्री तैयार माल के बदले मे दूसरे देशो से आती है। देश मे खाद्य-पदार्थों की कम उत्पत्ति होते हुए भी, वहा के लोगो का जीवन-स्तर तुलनात्मक दृष्टि से कही ऊँचा है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार से खाद्य-पदार्थों की प्राप्ति एक सीमा तक ही सभव हो सकेगी। ससार मे खाद्य-सामग्री की मात्रा अपरिमित नही है।

(५) माल्थस के सिद्धान्त पर एक और आक्षेप यह किया जाता है कि मनुष्य को उपभोक्ता की ही दृष्टि से नहीं बल्कि उत्पादक की दृष्टि से भी देखना चाहिए। मनुष्य उपभोक्ता और उत्पादक दोनों ही है। जब मनुष्य संसार में पैर रखता है, तो वह केवल मुंह और उदर लेकर ही नहीं आता, काम करने के लिए दो हाथ और सोचने के लिए बुद्धि भी उसके पास होती है। अस्तु, यह सोचना भूल है कि जन-संख्या में वृद्धि का होना आपत्तियों को बुलाना है। कुछ हद तक जन-संख्या का बढ़ना लाभप्रद ही नहीं बल्कि आवश्यक है।

यह बात ठीक है कि मनुष्य उत्पादक है, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य पैदा होते ही उत्पादक नहीं बन जाता। उसका मुंह तो पैदा होते ही चलने लगता है लेकिन हाथ-पैर और दिमाग कुछ समय के बाद चलते हैं। उस समय तक वह मुख्यतः उपभोक्ता ही रहता है।

इस तरह के अनेक आक्षेप लगाकर यह कहा जाता है कि माल्थस का जन-संख्या सम्बन्धी सिद्धान्त ठीक नहीं है, वह व्यर्थ है। लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो माल्थस का सिद्धान्त निराधार नहीं है। यह करीब-करीब ठीक है। उसकी सच्चाई को काटा नहीं जा सकता। यदि बिना किसी बाधा और रोक-थाम के मनुष्य अपनी सन्तान पैदा करने की शक्ति का प्रयोग करता रहे, तो जन-संख्या की वृद्धि की कोई सीमा न होगी। वह निरन्तर बढ़ती जायगी। लेकिन जीवित रहने के लिए मनुष्य को खाद्य-सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। यह भूमि से उपजाई जाती है। पर भूमि का परिमाण निश्चित और परिमित है। यह घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता। इस कारण भूमि की उपज क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम से बाध्य है। इसके फलस्वरूप भूमि से जो खाद्य-सामग्री उत्पन्न की जायगी वह भी परिमित ही होगी। ऐसी दशा में यदि जन-संख्या की वृद्धि पर

रोकथाम न रखी गयी, तो वह खाद्य-सामग्री की वृद्धि से आगे निकल जायेगी और फलस्वरूप जनाधिक्य का प्रश्न उठ खड़ा होगा। संक्षेप में, माल्थस का यही कहना था, और इसमें कोई असत्यता नहीं है। हां, यह बात अवश्य है कि मनुष्य नए-नए उपायों और सुधारों के द्वारा क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम को लागू न होने देने का प्रयत्न करता रहता है और इस दिशा में उसे विज्ञान के द्वारा काफी सफलता भी मिलती रही है। इससे उत्पादन की वृद्धि की दर घटने के बजाय साधारणतः बढ़ती रही है। साथ ही वह अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊंचा करने के लिए जन-संख्या को रोकने का भी प्रयत्न करता है। अनेक पश्चिमी देशों में ऐसा ही किया जा रहा है, जिसके कारण जनाधिक्य का प्रश्न टलता जाता है, दूर हटता जाता है। भारत जैसे देशों में इस तरह के प्रयत्न कम दिखाई पड़ते हैं। इसलिए इन देशों में जनाधिक्य का प्रश्न मौजूद है और माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता साफ नजर आती है।

माल्थस के विचारों की महत्ता इस बात में है कि सबसे पहले उन्होंने जन-संख्या को समझ-बूझकर अपने काबू में रखने की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने यह सुझाया कि रोकथाम के साधनों का प्रयोग करके मनुष्य जन-संख्या को कम रख सकता है, और इस तरह जनाधिक्य के कष्टों से बच सकता है।

QUESTIONS

1. What are the factors on which the growth of population of a country depends? Explain them fully
2. Name the important factors which influence birth-rate in a country. In that light show why birth-rate in India is so high?
3. State and examine the Malthusian theory of population. How far do you agree with it?

अध्याय १९

श्रम की क्षमता

(Efficiency of Labour)

जन-संख्या के अतिरिक्त श्रम की पूर्ति श्रम की क्षमता या कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। श्रम की क्षमता का सम्बन्ध श्रम की उत्पादन-शक्ति से है। क्षमता का आशय श्रमजीवी के उस गुण से है जिससे वह एक निश्चित समय के भीतर अधिक कार्य करने अथवा उसी कार्य को और अच्छी तरह से करने के योग्य हो जाता है। किसी श्रमिक की योग्यता, कार्य-कुशलता अथवा क्षमता की परीक्षा निम्नलिखित जाँचों द्वारा हो सकती है—(क) उत्पादन का परिमाण और गुण तथा (ख) उत्पादन में कितना समय लगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति एक निश्चित समय में अधिक उत्पादन करता है, या दूसरों से वह पहले काम समाप्त कर लेता है, अथवा उसका उत्पादन अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हुआ है, तो वह दूसरों की तुलना में अधिक कार्य-कुशल या क्षमी माना जायगा। 'श्रम की क्षमता' एक सापेक्षिक शब्द है और तुलनात्मक अर्थ में ही इसका प्रयोग होता है। दो श्रमजीवियों की क्षमता की तुलना के लिए यह आवश्यक है कि उन दोनों के पास एक-सा सामान, एक-से यंत्र और एक-सी व्यवस्था हो। अन्य बातें समान होने पर, श्रमजीवियों की कार्य-क्षमता की जाँच उस अन्तर से की जा सकती है जो एक निश्चित समय के भीतर उनके उत्पादन के परिमाणों और गुणों में पाया जाता है।

यह तो सभी जानते हैं कि सब श्रमिकों की कार्य-क्षमता एक-सी नहीं होती; किसी में कम होती है और किसी में अधिक। एक ही काम तथा

एक-सी दशा में काम करने वालों में से प्रत्येक का उत्पादन भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसका कारण यह है कि श्रमिकों की उत्पादन की क्षमता अलग-अलग होती है। किसी भी देश के उत्पादन के परिमाण पर वहां के श्रमिकों की कार्य-क्षमता का बहुत प्रभाव पड़ता है। श्रमिक जितने अधिक कार्य-कुशल होंगे, देश का कुल उत्पादन उतना ही अधिक और अच्छा होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन बातों पर कार्य-क्षमता निर्भर करती है, उनकी जांच की जाय।

क्षमता पर प्रभाव
(Influence on Efficiency)

वैसे तो जिन बातों का श्रमजीवियों की कार्य-क्षमता पर प्रभाव पड़ता है, वे विभिन्न प्रकार की है, किन्तु हम उन्हें सुविधा के लिए दो विशेष भागों में बांट सकते हैं—(१) श्रमजीवी की कार्यशक्ति और उसकी इच्छानुकूलता या रुचि, और (२) कार्य-व्यवस्था और श्रम का संगठन।

(१) कार्यशक्ति और कार्य के प्रति इच्छानुकूलता—श्रमजीवी की कार्य-क्षमता उसके कार्य करने की योग्यता और कार्य के प्रति रुचि पर बहुत-कुछ निर्भर करती है। कार्य-क्षमता उस समय अधिक होगी जब शरीर और मन की शक्तियां सुचारु रूप से विकसित हो चुकी हों। किन्तु केवल शारीरिक और मानसिक शक्तियां ही पर्याप्त नहीं हैं। कार्य के प्रति श्रमिक की इच्छानुकूलता भी अवश्य होनी चाहिए। इच्छा अथवा रुचि का कार्य-सम्पादन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि श्रमिक की क्षमता उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति पर निर्भर होती है। किसी श्रमिक का शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य तथा शक्ति मुख्यतः निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है :—

(क) जातीय तथा पूर्वजों के गुण—श्रमिक अपने मां-बाप और

अपनी जाति के कुछ गुणो तथा विशेषताओ को विरासत मे पाता है। इन गुणो का उसकी कार्य-क्षमता पर बहुत प्रभाव पडता है। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगो की अपेक्षा, अपनी जातिगत विशेषताओं व गुणो के कारण, अधिक तगडे, मेहनती और कार्य-कुशल होते है । उदाहरण के लिए, हमारे देश में एक सिक्ख अथवा एक जाट का शारीरिक स्वास्थ्य अन्य भाग के निवासियो की अपेक्षा साधारणतः श्रेष्ठतर होता है । इसी प्रकार एक इटली निवासी श्रमिक की अपेक्षा एक अग्रेज श्रमिक अधिक स्वस्थ और कुशल होता है। कार्य-क्षमता पर जाति-गत गुणो का प्रभाव थोडा-बहुत पडता तो अवश्य है, फिर भी प्रत्येक जाति प्रयत्न करने पर कुशल हो सकती है। जापानी इस बात के सबूत है।

(ख) प्राकृतिक दशाएं तथा जलवायु—कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार देश की प्राकृतिक दशाओं और जलवायु का श्रमिक की कार्य-क्षमता तथा उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है । उनके अनुसार समशीतोष्ण जलवायु में लोग अधिक मानसिक और शारीरिक परिश्रम कर सकते हैं। अतः वे दूसरो से अधिक कार्य-कुशल होते हैं। जहा बहुत गर्मी व सर्दी पडती है, वहा के लोग अधिक समय तक मेहनत के साथ काम नही कर सकते और इस कारण उनकी कार्य-कुशलता घट जाती है। इसमें कोई सन्देह नही कि कार्य-क्षमता जलवायु स प्रभावित होती है, किन्तु इस पर अधिक बल देना ठीक नही है। यह बात बहुत-कुछ अभ्यास और परिस्थिति पर निर्भर करती है। गर्म देश के एक लोहार को ले लीजिए। वह अभ्यास और परिस्थिति के कारण आग की भट्टी के सामने गर्मी के दिनो मे घण्टो लगातार काम करता रहता है । अभ्यास न होने पर समशीतोष्ण देश का रहने वाला उसी भट्टी के सामने एक घटा भी नही ठहर सकता। अस्तु, जलवायु से कही अधिक प्रभाव अभ्यास, परिस्थिति, स्वभाव, आदि बातो का पडता है।

(ग) रहन-सहन का दर्जा—यह उन बातों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिन पर श्रम की कार्य-क्षमता निर्भर करती है। प्रत्येक श्रमजीवी को ठीक तरह से काम करने के लिए पर्याप्त और स्वास्थ्यप्रद भोजन, उचित वस्त्र, हवादार और स्वच्छ मकान, दवा और विश्राम-सम्बन्धी सुविधाओं की आवश्यकता होती है। जिनको ये सब चीजें उचित मात्रा में उपलब्ध होती है, उनकी कार्य-क्षमता अधिक होती है। इन वस्तुओं के अभाव में, रहन-सहन का दर्जा गिर जायेगा। उस दशा में रोग, चिन्ता, कमजोरी, आदि बातें मनुष्यों को सदा घेरे रहेंगी जिनके कारण वह ठीक से काम करने योग्य न रह जायेगा। चिन्ता मनुष्य और उसकी कार्य-क्षमता के लिए काल-स्वरूप है।

(घ) नैतिक गुण—ईमानदारी, सचाई, निर्भयता, धैर्य, उत्तरदायित्व, इच्छाशक्ति, आदि नैतिक गुणों का श्रमिक की कार्य-क्षमता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। ये सब गुण 'चरित्र' शब्द में समावेशित हैं। मनुष्य के चरित्र का मुख्य आधार शिक्षा होता है। घर, समाज और धर्म आदि बातों का भी चरित्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है। यदि किसी श्रमिक का चरित्र अच्छा है, तो निसंदेह उसकी कार्यक्षमता अधिक होगी वह अधिक कर्त्तव्यपरायण और उत्तरदायित्व समझने वाला होगा। चरित्रहीन मनुष्य में कार्य-कुशलता बहुत कम होती है।

(ङ) साधारण और वैज्ञानिक शिक्षा—कार्य-क्षमता के लिए शारीरिक शक्ति की ही नहीं, बल्कि बौद्धिक शक्ति की भी आवश्यकता होती है। शिक्षा से लोगों की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। उनकी मानसिक और नैतिक दृष्टियों की संकीर्णताएं दूर हो जाती है और उनमें उत्तरदायित्व, युक्ति, धैर्य, निर्णय, आदि के गुण आ जाते हैं।

साधारण शिक्षा के अतिरिक्त, कार्य-क्षमता के लिए थोड़ी-बहुत वैज्ञानिक व टेक्नीकल शिक्षा भी आवश्यक है। ऐसी शिक्षा से व्यावहारिक रूप में किसी काम का ऐसा ज्ञान हो जाता है जिससे उसे ठीक

तरह से कम-से-कम समय और लागत में किया जा सकता है। टेक्नीकल शिक्षा द्वारा श्रमजीवी कार्य विशेष में दक्षता प्राप्त कर लेता है जिससे उसकी कार्य-क्षमता बहुत बढ़ जाती है।

(च) स्वतन्त्रता और उन्नति की आशा—इसके पहले कि श्रमिक अपना काम कुशलतापूर्वक करे तथा उस कार्य में दक्षता प्राप्त कर सके, उसके जीवन में स्वतन्त्रता, नवीनता और उन्नति की आशा का समावेश होना आवश्यक है। स्वतन्त्र और आशापूर्ण श्रमिक में कार्य-क्षमता बहुत होती है। अधिक कार्य-क्षमता के लिए श्रमिक को इस बात का आश्वासन मिलना चाहिए कि यदि उसका काम अच्छा हुआ तो उसे भविष्य में आगे बढ़ने व उन्नति करने का मौका मिलेगा। गुलाम न तो स्वतन्त्र होते हैं और न ही उनके लिए कोई आशा होती है। फलस्वरूप उनकी कार्य-क्षमता बहुत कम होती है। इसके अलावा काम ऐसा होना चाहिए कि उसमें नीरसता न रहे। यदि कार्य की प्रकृति थोड़ी-बहुत बदलती रहे तो श्रमिक में नई स्फूर्ति, नई उत्पादन-शक्ति आ जाती है। अतः कुछ अंश तक श्रम की कार्य-क्षमता भविष्य की आशा, स्वतन्त्रता और परिवर्तन पर निर्भर करती है।

(छ) मजदूरी का स्तर—जो मजदूरी किसी श्रमिक को उसके काम के बदले में मिलती है, उसका उसकी कार्य-शक्ति और इच्छा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। एक सीमा तक जितनी अधिक मजदूरी किसी श्रमिक को मिलेगी, उतनी ही अधिक इच्छा-शक्ति और कार्य शक्ति उसमें होगी। पर्याप्त और उचित मजदूरी मिलने पर श्रमिक सन्तुष्ट रहेगा और उसका जीवन-स्तर भी ऊंचा हो सकेगा। स्वास्थ्यप्रद भोजन, पर्याप्त वस्त्र, हवादार मकान, आदि जरूरी चीजें उसे मिल सकेंगी। फलस्वरूप उसकी कार्य-क्षमता अधिक होगी। किन्तु यदि मजदूरी कम है, तो श्रमिक बराबर असन्तुष्ट रहेगा और वह जीवन तथा कार्य-क्षमता सम्बन्धी आव-

श्यकताओं को पूरा न कर सकेगा। ऐसी दशा में वह किसी भी प्रकार की उन्नति न कर सकेगा। फलस्वरूप उसकी कार्य-क्षमता कम होगी।

कार्य-क्षमता के लिए उचित मजदूरी के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मजदूरी ठीक ढंग से और नियत समय पर दी जाय। जब किसी श्रमिक को यह विश्वास होता है कि जो कार्य वह कर रहा है उसके बदले उसे शीघ्र और प्रत्यक्ष रूप में उचित मजदूरी मिलेगी, तो वह उस कार्य को ठीक और जल्दी से पूरा करने की अवश्य कोशिश करेगा।

(ज) काम करने के घंटे--श्रमिकों की कार्य-कुशलता इस बात पर भी बहुत-कुछ निर्भर करती है कि उन्हें कितने घंटे काम करना पड़ता है और काम के बीच में विश्राम के लिए पर्याप्त समय मिलता है या नहीं। अधिक घंटों तक काम करने से श्रमिक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उसे थकावट लगने लगती है, उसका ध्यान बँटने लगता है, और एक सीमा के बाद ठीक तरह से काम करना उसके लिए असम्भव-सा हो जाता है। अस्तु, काम करने का समय अधिक न होने पर श्रमिक की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। इसके अलावा काम के बीच में विश्राम के लिए समय देने से भी कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। इससे थकावट दूर हो जाती है और फिर से काम करने के लिए श्रमिक को नई स्फूर्ति और शक्ति मिल जाती है।

(झ) काम करने की सुविधाएं--अनुभव से यह भी देखा गया है कि जिस स्थान पर श्रमिक काम करता है, वहां के वातावरण का उसके स्वास्थ्य और नैतिक विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि कारखानों में हवा, सफाई, रोशनी, पानी, आदि अन्य स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों का उचित प्रबन्ध हो तो श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। यहां तक देखा गया है कि यदि कारखानों में कम शोरगुल होता है, अथवा दीवारों पर अच्छा रंग हो तो श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ जाती है।

(ञ) सामान की अच्छाई--कार्य-क्षमता कुछ अंश तक इस बात पर भी निर्भर है कि श्रमिक किस ढंग की मशीनों और कच्चे माल की सहा-

यता मे काम करता है। जितना ही अच्छा उसे काम करने के लिए सामान दिया जायगा, उतनी ही अधिक उसकी कार्य-क्षमता होगी। एक अग्रेज के काम में जो सफाई और तेजी दिखाई देती है, उसका बहुत बड़ा कारण यह है कि वह अच्छी मशीनो पर काम करता है और उसे बढ़िया किस्म का कच्चा माल दिया जाता है।

(२) श्रम की व्यवस्था और उसका सचालन—श्रमिक की कार्य-क्षमता इस पर भी बहुत-कुछ निर्भर है कि श्रम की व्यवस्था, उसका प्रबन्ध और सचालन किस ढग से किया जाता है। यदि मालिक व मैनेजर का व्यवहार और रुख अच्छा हो तथा कार्य का वैज्ञानिक रूप मे विभाजन किया जाय और प्रत्येक श्रमिक को वही काम दिया जाय जिसके वह योग्य हो, तो श्रम की कार्य-क्षमता अवश्य अधिक होगी। इसी प्रकार यदि श्रम का उपयोग व मिलान उत्पत्ति के अन्य साधनों के साथ ठीक ढग से हो और श्रमिक की भिन्न-भिन्न शक्तियो के समुचित विकास के लिए यथेष्ट साधन उपस्थित हो, तो श्रम की उत्पादन-शक्ति मे अवश्य वृद्धि होगी। श्रमिको के समुचित सगठन से भी उनकी कार्य-कुशलता बहुत बढ जाती है। यदि श्रमिक अच्छे और प्रभावपूर्ण ढग से मजदूर सघ के रूप मे सगठित है, तो कार्य-क्षमता अधिक होगी।

इस प्रकार हम देखते है कि श्रम की कार्य-कुशलता विभिन्न बातो पर निर्भर होती है। सक्षेप म, हम कह सकते है कि श्रमिको की कार्य-क्षमता कुछ अश तक उनके शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य पर निर्भर रहती है, कुछ मालिक की सगठन-शक्ति पर, कुछ काम करने के घटे, मजदूरी और मशीन व कच्चे माल पर तथा कुछ अश तक कारखानों के वातावरण, भविष्य की आशा और स्वतन्त्रता पर निर्भर करती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि कार्य-कुशलता के कम होने का दोष केवल श्रमिको पर ही नही थोपा जा सकता। इनमें से अनेक बातें ऐसी है जिनका सम्बन्ध श्रमिको से नही बल्कि कारखानों के वातावरण, काम करने की

दशाओं तथा अन्य बाहरी बातों से है।

कार्य-कुशल श्रम से सबको लाभ पहुचता है। अपनी कार्य-कुशलता से श्रमिकों को तो लाभ मिलता ही है। वे कार्य को जल्दी सीख लेते हैं और उन्हें अधिक मजदूरी भी मिलती है और फलस्वरूप वे अपने जीवन-स्तर को ऊपर उठा सकते हैं। मालिक को भी क्या लाभ नही पहुचता। कार्य-कुशल श्रमिक पर देखरेख की कम जरूरत पडती है। वे सामान को ठीक और किफायत से इस्तेमाल करते है और काम को दिये हुए समय म पूरा कर लेते है। उत्पादन अधिक और अच्छा होता है और प्रति इकाई लागत कम बैठती है। इससे मालिकों को ही नही बल्कि सारे देश को लाभ पहुचता है। ऐसा देश आर्थिक क्षेत्र म तेजी से प्रगति कर सकता है। भारत कुछ देशों से आर्थिक क्षेत्र में इस कारण भी पिछडा हुआ है कि यहा के श्रमिकों की कार्य-क्षमता अपेक्षाकृत कम है।

भारतीय श्रम की कार्य-क्षमता
(Efficiency of Indian Labour)

साधारण तौर पर यह कहा जाता है कि भारतीय श्रमिकों की कार्य-क्षमता बहुत कम है। इगलैण्ड और भारतवर्ष के श्रमिकों की कार्य-क्षमता की तुलना करने के कितने ही प्रयत्न किये गये हैं। कहा जाता है कि एक निश्चित समय मे एक अंग्रेज मजदूर हिन्दुस्तानी मजदूर की अपेक्षा चार गुना उत्पादन करता है। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि भारतीय श्रमिक की अपेक्षा एक अंग्रेज मजदूर की कार्य-क्षमता चार गुना अधिक है। यह तो सच है कि भारतीय श्रम की कार्य कुशलता कम है, किन्तु इस तरह की तुलना करना ठीक नही है। दोनो देशों मे मजदूरी, मशीन, कच्चा माल, श्रम-विभाजन, मनोरजन की सुविधाए, कारखानो के प्रबन्ध, आदि म इतना अन्तर है कि श्रम की कार्य-क्षमता की तुलना नही की जा सकती। तुलना तभी ठीक सिद्ध हो सकती है जबकि दोनो देशों में अन्य सब बातें एक समान हो। एक अंग्रेज मजदूर का उत्पादन अवश्य अधिक है, पर यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि उसे एक भारतीय

मजदूर की अपेक्षा कहीं अधिक मजदूरी मिलती है। काम करने के लिए उसे नई मशीनें और अच्छे किस्म का कच्चा माल दिया जाता है। उसे और बहुत-सी सुविधाएं मिलती हैं जो यहां के मजदूरों को नसीब नहीं हैं। इन सब कारणों से एक अंग्रेज मजदूर एक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक उत्पादन करता है। भारतीय श्रमिक की कार्य-क्षमता जन्म से ही कम नहीं है। कार्य-क्षमता की कमी बहुत-कुछ यहां की परिस्थितियों का फल है।

इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय श्रमिक बहुत कार्य-कुशल है। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि भारत-वर्ष में और देशों की अपेक्षा उसी मजदूरी पर अधिक परिमाण में उत्पादन होता है। यदि एक अंग्रेज मजदूर एक हिन्दुस्तानी मजदूर का चार गुना उत्पादन करता है, तो उसे चार गुना अधिक वेतन भी तो मिलता है। हिन्दुस्तान में मजदूरी इतनी कम है कि प्रति इकाई उत्पत्ति की लागत बहुत कम पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भारतीय श्रम में बहुत क्षमता है। किन्तु कार्य-क्षमता की इस प्रकार से जांच करना ठीक नहीं है। श्रम की कार्य-क्षमता को श्रम-सम्बन्धी व्यय से नहीं जांचना चाहिए। किसी श्रमिक की कार्य-क्षमता की जांच करने का एकमात्र साधन यह है कि जिस वस्तु का वह एक निश्चित समय में उत्पादन करता है, उसके परिमाण और गुणों की जांच की जाय। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय श्रमिक निस्सन्देह अपेक्षाकृत कम कार्य-कुशल है। यहां का एक श्रमिक दिये हुए समय में जो कुछ उत्पादन करता है वह निश्चय ही बहुत थोड़ा है। हां, यह अवश्य है कि इस बात के लिए उसे बहुत दोषी नहीं ठहराया जा सकता। विभिन्न कारण ऐसे हैं जिन पर उसका कोई वश नहीं। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह स्वयं अकुशल नहीं है, परिस्थितियों ने उसे ऐसा बना दिया है।

भारतीय श्रमिकों की अक्षमता अथवा कम कार्य-कुशल होने के अनेक कारण हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं —

(१) **गरीबी और नीचा जीवन-स्तर**—अधिकांश भारतीय मजदूरों को बहुत थोड़ी मजदूरी मिलती है। वे बहुत गरीब हैं और इस कारण उनका जीवन-स्तर अत्यन्त ही नीचा और असंतोषजनक है। गरीबी के कारण वे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं तक को भी पूरा नहीं कर पाते। उन्हें स्वास्थ्यप्रद भोजन उपयुक्त मात्रा में नहीं मिलता। वे अधपेट खाते हैं और भूखों मरते हैं। फलस्वरूप वे कमजोर और प्राय रोगग्रस्त होते हैं। *ऐसी दशा में भला किस प्रकार कार्य-क्षमता अधिक हो सकती है।* जब गरीबी के कारण भरपेट और अच्छा भोजन मिलना मुश्किल है तो दवा, मनोरंजन, आदि की सुविधाएं कैसे मिल सकती हैं। इन सब बातों का कार्य क्षमता पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(२) **मकानों की असंतोषजनक व्यवस्था**—जिस प्रकार श्रमिकों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार साफ और हवादार मकानों का भी प्रश्न उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश भारतीय श्रमिकों के रहने के लिए कोई ठीक प्रबन्ध नहीं है। वे गन्दी बस्तियों में छोटे-छोटे कमरों में रहते हैं जिनमें हवा, रोशनी, आदि का कोई भी प्रबन्ध नहीं होता। इसका उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उनको एक न एक रोग घेरे रहते हैं और साथ ही शराबखोरी, जुआबाजी आदि बुराइयां भी तेजी से फैलती हैं। इन सबसे उनके जीवन और कार्य-क्षमता को बहुत क्षति पहुंचती है।

इसके अलावा मकान का उचित प्रबन्ध न होने से श्रमिक अपने परिवार के साथ नहीं रह पाते। प्राय वे परिवार के अन्य लोगों को गांव में ही छोड़ आते हैं। इससे केवल पारिवारिक जीवन को ही धक्का नहीं लगता बल्कि कई अन्य समस्याएं पैदा होती हैं। श्रमिक स्थायी रूप से कार-खानों व काम के स्थानों पर नहीं बसते। वे बराबर घर लौट जाने के फिक्र में रहते हैं। इसलिए न तो वे दिल लगाकर काम कर पाते हैं और न ही उपयुक्त ट्रेनिंग पाने की कोशिश करते हैं। फलस्वरूप उनका औसत

उत्पादन कम बैठता है और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है इसी के आधार पर कार्य-क्षमता की माप की जाती है।

(३) **शिक्षा और ट्रेनिंग की कमी**—एक अन्य महत्वपूर्ण कारण जिसके फलस्वरूप कार्य-क्षमता कम है, वह है देश में शिक्षा और ट्रेनिंग का अभाव। यहां के अधिकांश श्रमिक अशिक्षित हैं और उन्हें काम करने के लिए ठीक प्रकार से ट्रेनिंग नहीं मिलती। फलस्वरूप कारीगरी और बौद्धिक विकास में बाधा पड़ती है। और यह तो सर्व-विदित है कि एक शिक्षित श्रमिक, अशिक्षित श्रमिक की अपेक्षा, अधिक और अच्छा उत्पादन करता है।

(४) **जलवायु और काम के अधिक घंटे**—कहा जाता है कि देश की उष्ण जलवायु का श्रमिक के स्वास्थ्य और उसकी कार्य-क्षमता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही उसे अधिक घंटों तक काम करना पड़ता है। इससे उसकी कार्य-क्षमता और भी कम हो जाती है। फैक्ट्री कानूनों के बन जाने से काम करने के घंटे कम हो गये हैं, फिर भी कुछ स्थानों पर श्रमिकों को अधिक घंटों तक काम करना पड़ता है।

(५) **दूषित वातावरण**—भारतीय मिलों और कारखानों में काम करने का जो वातावरण है वह भी बहुत दूषित और असंतोषजनक है। अनेक कारखाने गन्दी और घनी बस्तियों में स्थित है। उनमें न तो सफाई है और न ही हवा और रोशनी का अच्छा प्रबन्ध है। श्रमिकों के विश्राम और मनोरंजन के लिए सुविधाएं नहीं के बराबर हैं। ऐसी परिस्थितियों में श्रम की कार्य क्षमता अवश्य ही कम होगी।

(६) **घटिया सामान और त्रुटिपूर्ण व्यवस्था**—निस्सदेह भारतीय श्रमिकों की कम कार्य-क्षमता का प्रमुख कारण यह है कि उन्हें काम करने के लिए घटिया और पुराना सामान दिया जाता है और कारखानों की व्यवस्था भी ठीक नहीं होती। भारतीय मिलों में अच्छी और नवीनतम मशीनों का कम प्रयोग होता है। प्राय मशीनें पुरानी और घिसी हुई

होती है। श्रमिकों को जो कच्चा माल काम करने के लिए दिया जाता है, वह भी अच्छा नहीं होता। काफी समय उसके सुधारने और ठीक करने में निकल जाता है। इसके अलावा भारतीय कारखानों में वैज्ञानिक प्रबन्ध और व्यवस्था का भी अभाव रहता है। वैज्ञानिक श्रम-विभाजन और व्यवस्था से श्रमिक की शक्तियों को विकसित कर तथा उनको पूर्ण रूप से उपयोग में लाकर कार्य-क्षमता बढ़ाई जा सकती है। किन्तु हमारे अधिकांश कारखानों में इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। फिर यदि कार्य-क्षमता कम है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

इस तरह के अनेक कारणों से भारतीय श्रमिकों की कार्य-क्षमता कम है। इनके विश्लेषण और अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिकों में कोई निजी दोष व कमी नहीं है जिसके कारण वे अपने काम में कुशल नहीं है। जिन परिस्थितियों और वातावरण में वे रहते और काम करते है, वे इतने खराब है कि कार्य-क्षमता कम हुए बिना नहीं रह सकती। इनमें सुधार लाकर भारतीय श्रमिकों की कार्य-क्षमता काफी बढ़ाई जा सकती है।

श्रम की गतिशीलता

(Mobility of Labour)

कार्य-क्षमता पर श्रम की गतिशीलता का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। श्रम के स्थान अथवा व्यवसाय-परिवर्तन को श्रम की गतिशीलता (mobility of labour) कहते है। श्रम की गतिशीलता से यह अभिप्राय है कि श्रमजीवी अधिक वेतन मिलने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर या एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में आसानी से आ-जा सकते है। यदि यथेष्ठ रूप से श्रमिक के लिए स्थान व व्यवसाय-परिवर्तन सम्भव हो तो उसकी कार्य-क्षमता में अवश्य वृद्धि होगी और साथ ही धन-वितरण की असमानता भी काफी हद तक दूर हो जायगी। इतना ही नहीं,

फिर तो देश की अर्थ-व्यवस्था में आवश्यकतानुसार और आसानी से परिवर्तन लाया जा सकता है। अर्थ-व्यवस्था में लोच का गुण होने पर अनेक कठिनाइयो और समस्याओ को सुगमता से दूर किया जा सकता है। वैसे तो श्रम में उत्पत्ति के अन्य साधनो की अपेक्षा कही अधिक गतिशीलता है। भूमि एक दम स्थिर है और कुछ हद तक पूजी भी स्थिर होती है। फिर भी श्रम की गतिशीलता मे, चाहे वह स्थान-परिवर्तन हो या व्यवसाय-परिवर्तन, अनेक रुकावटे होती है। सर्वप्रथम परिवार,मित्र, आदि का मोह लोगो के घर छोटने मे बाधक होता है। दूसरे, भिन्न-भिन्न स्थानो का रहन-सहन, जलवायु, बोल-चाल, रीति-रिवाज, आदि अलग-अलग होते है। ये सब बातें मनुष्य को अपरिचित स्थानो में जाने से रोकती हैं। कभी-कभी अधिक वेतन मिलने पर भी लोग यह सोचकर दूसरे स्थानो पर जाते हुए हिचकते हैं कि पता नही उन स्थानो पर किस प्रकार का भोजन मिलेगा, वहा के लोग कैसे होगे, उनकी भाषा समझ मे आयेगी या नही। इसके अतिरिक्त स्थान-परिवर्तन मे कुछ खर्च भी लगता है। कई तो खर्च के कारण ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही आ-जा पाते। अज्ञानता भी श्रम की भौगोलिक गतिशीलता मे रुकावट डालती है। कुछ लोगो को यह ज्ञान नही होता कि किन स्थानो मे अधिक वेतन मिल सकता है, और वहा कैसे और कब जाया जाय।

भारतवर्ष के श्रमिको मे गतिशीलता विशेष रूप से कम है। इसके कई कारण है। देश में अज्ञानता और निर्धनता का साम्राज्य है। अधिकतर लोग गृहप्रिय और भाग्यवादी है। वे यह सोचते है कि जो भाग्य में लिखा है, वह तो होकर ही रहेगा। उसे मिटाया नही जा सकता। फिर इधर-उधर घूमने-फिरने से क्या लाभ। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में कई ऐसी सामाजिक तथा धार्मिक रीतिया है जिनमे श्रम की गतिशीलता में काफी रुकावट पडती है। किन्तु जीवन-संग्राम के बढने से उपर्युक्त बाधाए धीरे-धीरे दूर होती जा रही है। यातायात के साधनो मे उन्नति होने से

इस ओर काफी सहायता मिली है । अब शहर के कारखानों में बहुत दूर-दूर के लोग काम करते दिखाई पडते है ।

आर्थिक गतिशीलता अथवा व्यवसाय-परिवर्तन में भी अनेक बाधाए होती है । एक धन्धे को छोड कर दूसरे धन्धे को अपनाने के पहले उस धन्धे की जानकारी आवश्यक है । यदि उस धन्धे के सीखने में अधिक समय, शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता पडती है, तो श्रम की गतिशीलता अवश्य कम होगी । जिन धन्धों मे किसी विशेष प्रकार की योग्यता अथवा निपुणता की आवश्यकता नही होती, वहा गतिशीलता अधिक होती है । उदाहरण के लिए मान लो एक रेलवे कुली ईंट ढोने का काम करना चाहता है, क्योकि उस काम में अधिक मजदूरी मिलने की आशा है । वह जब चाहे इस तरह का परिवर्तन कर सकता है । उसे इसके लिए किसी प्रकार की तैयारी करने की आवश्यकता नही है । अतएव साधारण कार्यों में श्रम की गतिशीलता अधिक होती है । किन्तु यदि कोई डाक्टरी का काम करना चाहे, तो यह आसानी से सम्भव नही है। इसके लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा और ट्रेनिंग की आवश्यकता पडेगी । उस ढग की शिक्षा प्राप्त करने में काफी समय और धन लगेगा । इसलिए कुशल कार्यों में साधारण कार्यों की अपेक्षा गतिशीलता कम होती है ।

QUESTIONS

1. What do you mean by efficiency of labour? In what ways can it be measured?
2. What are the main factors on which efficiency of labour depends? Explain them fully
3. Is Indian labour inefficient? If so, why?
4. What is mobility of labour? Examine main hindrances which obstruct the movement of labour from place to place and occupation to occupation.

अध्याय २०

श्रम-विभाजन

(Division of Labour)

श्रम-विभाजन वर्तमान अर्थ व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है और श्रम की कार्य-क्षमता पर इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अत इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह जान लेना उचित होगा कि श्रम विभाजन का अर्थ क्या है। किसी एक काम के कई भाग और उप-विभाग करना और उन्हे भिन्न-भिन्न श्रमिकों के बीच उनकी शक्ति और योग्यतानुसार बाटना, अर्थशास्त्र म, श्रम-विभाजन (division of labour) कहलाता है। श्रम-विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को किसी काम का साधारणत केवल वही भाग दिया जाता है जिसमें उसकी विशेष रुचि होती है। वह उसी को बराबर करता है जिससे आसानी से वह उस काम में *विशिष्ट या विशेषज्ञ हो जाता है। श्रम-विभाजन में सब व्यक्ति अलग-अलग* भागो पर एक साथ मिलकर काम करते है और सबके सहयोग से काम पूरा होता है। अस्तु, व्यक्तिगत दृष्टि से श्रम विभाजन को 'विशिष्टीकरण' (specialisation) कह सकते है और समाज की दृष्टि से उसे 'सहकारिता' (co-operation) कहा जा सकता है।

मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे, जब आवश्यकताए बहुत थोडी और सरल थी, प्रत्येक मनुष्य अपनी छोटी-बडी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वय ही अपने-आप प्रत्येक वस्तु को जुटाता था। जिस वस्तु की उसको आवश्यकता होती थी, वह अपने आप ही उसे प्राप्त

करने का प्रयत्न करता था। धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएं बढती गईं, और उसे अपनी बनाई हुई चीजो से अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति करने मे असुविधा होने लगी। ज्ञान और अनुभव से वह इस बात पर पहुचा कि यदि लोग मिल-जुलकर काम करे और भिन्न-भिन्न कार्यो को आपस मे बाट ले, तो बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति यथेष्ठ रूप मे सम्भव हो सकती है। फलत धीरे-धीरे लोग अपनी-अपनी शक्ति, क्षमता, रुचि, सुविधा और परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग काम व पेशो मे लग गये। कुछ व्यक्तियो ने एक काम ले लिया, और कुछ ने दूसरा। कोई किसान बन बैठा, कोई जुलाहा और इस तरह हर एक व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यतानुसार पृथक्-पृथक् काम करने लगा। अपने बनाये हुए पदार्थ अन्य व्यक्तियो को देकर उनसे उनकी बनाई हुई वस्तुए लेकर आवश्यकताए तृप्त की जाने लगी। इससे आवश्यकताओ की तृप्ति मे बहुत सुविधा हुई। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ आगे चलकर प्रत्येक कार्य के बहुत से विभाग और उपविभाग होते गए और प्रत्येक विभाग या उपविभाग का कार्य एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह करने लगा। उदाहरणार्थ पिन बनाने का काम ले लो। यह छोटा-सा काम अब कई सूक्ष्म भागो मे विभाजित है। कोई तार को खीचता है, कोई उसे पतला करता है, कोई उसे छोटे-छोटे टुकडो मे काटता है, कोई उसको नुकीला करता है, कोई उस पर घुण्डी लगाता है, कोई पालिश करता है, इत्यादि। इस तरह हम देखते है कि समय के साथ-साथ श्रम-विभाजन के क्षेत्र मे बहुत उन्नति हुई है। वर्तमान समय मे श्रम विभाजन बहुत विकसित अवस्था मे है। अब यह पहले से बहुत अधिक बारीक और जटिल हो गया है।

श्रम-विभाजन आधुनिक जगत का आधार है। बिना इसके आर्थिक जीवन सुचारु रूप से नही चल सकता। मनुष्य ने जो कुछ उन्नति आज तक की है उसमे श्रम-विभाजन का बहुत बडा हाथ रहा है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनो की कार्य-क्षमता की वृद्धि का मुख्य कारण श्रम-विभाजन

है। यदि श्रम-विभाजन की सुविधा न हो, तो वर्तमान जन-संख्या के एक छोटे से भाग का भी निर्वाह होना कठिन हो जायगा। उस समय मनुष्य की अनेक आवश्यकताएं अतृप्त ही रह जायगी, और उसका जीवन-स्तर बहुत ही नीचे गिर जायगा।

श्रम-विभाजन के रूप
(Forms of Division of Labour)

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रम-विभाजन आधुनिक आर्थिक संसार का आधार स्वरूप है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि श्रम-विभाजन आधुनिक काल की देन है और यह पहले नहीं था। वास्तव में बहुत पूर्व-काल से ही श्रम-विभाजन चलता आया है। हां, यह बात अवश्य है कि पहले इसका रूप बहुत सीधा-सादा और साधारण था। शुरू-शुरू में सुविधा का ख्याल करके पुरुष और नारी के बीच काम का बटवारा किया गया। पुरुष ने शिकार आदि का काम अपने ऊपर ले लिया और स्त्री बाल-बच्चों और घर का काम संभालने लगी। कुछ समय बाद भिन्न-भिन्न काम पेशे के अनुसार बट गये और लोग अलग-अलग पेशों म लग कर काम करने लगे। धीरे-धीरे उन्नति और सभ्यता में वृद्धि के साथ एक ही पेशे का काम विभिन्न उपविभागों में बट गया और फल-स्वरूप श्रम-विभाजन पहले से अधिक प्रभावपूर्ण और जटिल हो गया। आगे चलकर अब यह स्थिति आ पहुची है कि उपविभागों के भी अनेक उपविभाग कर दिये गये हैं और श्रमिक इन्ही अपूर्ण उपविभागों को करते हैं। यही नहीं, वर्तमान समय मे भिन्न-भिन्न स्थान, सुविधा और परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग कार्यों को अपना रहे हैं। अस्तु, श्रम-विभाजन अनेक स्थितियों से गुजरा है और इसके रूप और विस्तार में बहुत परिवर्तन हुए हैं। संक्षेप में, मोटे तौर पर श्रम-विभाजन के तीन रूप व स्थितियां है —

(१) साधारण श्रम-विभाजन (Simple Division of Labour)—श्रम-विभाजन के इस रूप या स्थिति में एक व्यक्ति

सब प्रकार का काम करने के बजाय अपनी योग्यतानुसार किसी एक विशेष व्यवसाय अथवा पेशे में लग जाता है। उस पेशे को वह आदि से अन्त तक करता है। उदाहरणार्थ कोई कृषि कार्य करता है, कोई कपड़ा तैयार करता है, कोई बढ़ई का काम करता है और कोई लोहार का। स्पष्ट शब्दों में, साधारण श्रम-विभाजन में भिन्न-भिन्न पेशों को अलग-अलग कर दिया जाता है और प्रत्येक श्रमिक अपनी कुल शक्ति को एक ही पेशे में लगाता है। विनिमय द्वारा वह अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

(२) जटिल व मिश्रित श्रम-विभाजन (Comlex Division of Labour)—विभाजन के इस रूप में एक ही पेशे अथवा कार्य के कई भाग कर दिये जाते हैं, और एक व्यक्ति कार्य का केवल एक ही भाग करता है। उदाहरण के लिए कपड़े के व्यवसाय को कई भागों में बाट दिया जाता है। कोई व्यक्ति कपास पैदा करता है, कोई उसे ओटता है, कोई सूत कातता है, कोई कपड़ा बुनता है, इत्यादि। इस तरह एक ही कार्य के अनेक हिस्से कर दिये जाते हैं जिसे अलग-अलग व्यक्ति या व्यक्ति-समूह करते हैं। हर काम का प्रत्येक भाग स्वत पूर्ण होता है और उसके परिणामस्वरूप तैयार होने वाली वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए कच्चे माल का काम देती है जिससे वह उसमें आगे की क्रिया करने लग जाता है।

श्रम-विभाजन का विकास-क्रम और आगे बढता है। एक काम के कई सूक्ष्म उपविभाग कर दिये जाते है। प्रत्येक उपविभाग अपूर्ण होता है और बहुत से उपविभागों का काम समाप्त होने पर ही अभीष्ट वस्तु तैयार होती है। आधुनिक कल-कारखानों में, जहा उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होती है, इस तरह के श्रम-विभाजन का अनुकरण किया जाता है।

(३) प्रादेशिक व भौगोलिक श्रम-विभाजन (Geographical Division of Labour)—इसको उद्योग-धधों का स्थानीयकरण

भी पहुते है। जिस प्रकार प्रत्येक श्रमिक को उसकी शक्ति और रुचि के अनुसार एक विशेष काम सौंप दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार एक स्थान पर वहा की प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाओं के अनुसार एक विशेष धन्धा किया जाने लगता है। वह स्थान उस धन्धे के लिए धीरे-धीरे केन्द्र बन जाता है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर अलग-अलग उद्योग-धन्धो के केन्द्रित होने को अर्थशास्त्र में प्रादेशिक श्रम-विभाजन अथवा उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण (Localisation of Industries) कहते है। उदाहरण के लिए भारत मे जूट के कारखाने बगाल मे, कपडे की मिले बम्बई और अहमदाबाद मे तथा चूडी का व्यवसाय फिरोजाबाद मे केन्द्रित है। श्रम-विभाजन के इस पहलू या रूप का अध्ययन एक अगले अध्याय मे किया जायगा।

श्रम-विभाजन से लाभ

(Advantages of Division of Labour)

श्रम-विभाजन से मानव-जाति को बहुत लाभ पहुचा है। आर्थिक, सामाजिक, आदि अन्य क्षेत्रो मे जो आज तक इतनी उन्नति व प्रगति हो पाई है, उसका बहुत-कुछ श्रेय श्रम-विभाजन को है। इसके द्वारा व्यक्ति और राष्ट्र की शक्तियो का पूरा-पूरा उपयोग सम्भव हो जाता है। इससे उत्पादन-शक्ति बहुत बढ जाती है और साथ ही उत्पादन के प्रकार मे भी बहुत उन्नति होती है। आज हम अपने दैनिक जीवन मे अनेक प्रकार की, देश-विदेश की बनी हुई वस्तुओ का सेवन करते है जिससे हमारी सुख-समृद्धि मे बहुत वृद्धि हुई है। यह श्रम-विभाजन के कारण ही सम्भव हो पाया है। इसकी अनुपस्थिति मे हर व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु स्वय ही तैयार करनी पडेगी। निस्सदेह वह आज तक जितनी वस्तुओ का उपभोग करता है, उसका एक सूक्ष्म भाग भी तैयार न कर सकेगा। अस्तु, सभ्य जीवन के लिए, उन्नति और प्रगति के लिए, श्रम-विभाजन अनिवार्य है। इसके मुख्य लाभों का वर्णन नीचे किया जाता है।

(१) **कार्य-क्षमता में वृद्धि**—किसी एक काम को लगातार करते रहने से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियां उस विशेष काम के लिए ऐसी बढ जाती हैं कि उसके करने मे उसे कुछ जोर नहीं लगाना पड़ता, मानो वह अपने आप हो जाता है। अभ्यास से उसकी कार्य-क्षमता बहुत बढ जाती है। वह अपने काम मे विशेषज्ञ हो जाता है, अच्छी तरह मज जाता है। इससे उसकी निपुणता और कार्य-कुशलता म बहुत वृद्धि होती है।

(२) **समय की बचत**—जब मनुष्य को भिन्न-भिन्न काम करन पडते हैं, तो उसका बहुत-सा समय काम के अदल-बदल और भिन्न-भिन्न औजारो को उठाने धरने म नष्ट हो जाता है। श्रम-विभाजन मे मनुष्य को केवल एक ही क्रिया करनी पड़ती है। इसलिए जो समय भिन्न-भिन्न काम तथा औजारो के अदलने-बदलने मे व्यर्थ नष्ट होता है, वह श्रम-विभाजन से बच जाता है।

(३) **औजार तथा कच्चे माल में बचत**—जब एक आदमी दो-तीन काम साथ करता है, तो उसे प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग औजार रखने पडते है। परन्तु इन सबको वह एक साथ प्रयोग नही कर सकता। अत जब वह एक औजार स काम लेता है, तो दूसरे सब औजार बेकार व फालतू पडे रहते है। सब औजारो में खर्च भी ज्यादा होता है, साथ ही वह उतनी सावधानी से उन्हे रख भी नही सकता। श्रम-विभाजन मे प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही क्रिया करनी होती है, इसलिए उसे उसी काम के औजारो की आवश्यकता होती है और उन्हे वह बराबर प्रयोग करता रहता है। इस तरह श्रम-विभाजन द्वारा औजारो म बहुत बचत होती है। औजार कम लगते हैं, उन पर खर्च कम होता है और उनका बराबर उपयोग भी होता रहता है। इसके अतिरिक्त कम औजारो क होने पर प्रत्येक श्रमिक उनकी अच्छी तरह स देख-भाल भी कर सकता है। इसस औजारो की जीवन-अवधि बढ जाती है, वे ज्यादा दिन तक चल सकते है।

श्रम-विभाजन में कच्चे माल के प्रयोग में भी काफी बचत होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम में निपुण होने के कारण माल का उचित ढंग से प्रयोग कर सकता है। अभ्यास से उसे कच्चे माल के प्रयोग करने का सर्वोत्तम ढंग मालूम हो जाता है। अस्तु वह कच्चे माल को उतना खराब न करेगा और जो चीज बचेगी उसका भी उचित उपयोग सम्भव हो सकेगा।

(४) *काम सीखने के समय में कमी*—श्रम विभाजन में एक काम के कई उपविभाग कर दिये जाते हैं और एक व्यक्ति को केवल एक ही उपविभाग सौंपा जाता है जो आसानी से और थोड़े ही समय में सीखा जा सकता है। फलतः काम सीखने में समय, परिश्रम और धन कम लगता है।

(५) **मशीनों के उपयोग तथा आविष्कार में उन्नति**—एक कार्य को बहुत से उपविभागों में विभक्त कर देने से प्रत्येक उपविभाग में की जाने वाली क्रिया बहुत सरल हो जाती है। ऐसा होने से मशीनों का उपयोग सरल हो जाता है। इससे कार्य बहुत जल्दी तथा कम श्रम से सपादित होता है, उत्पादन कार्य की क्षमता बढ़ जाती है और समय की भी बचत होती है।

श्रम विभाजन से आविष्कार की भी उन्नति होती है। जब मनुष्य लगातार एक ही काम में लगा रहता है तो उसे यह सोचने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है कि उस काम के करने की विधि में किस प्रकार और अधिक उन्नति की जा सकती है। इस तरह उस कार्य से सम्बन्ध रखने वाले आविष्कार करना आसान हो जाता है।

(६) *श्रम शक्ति का समुचित उपयोग*—श्रमिकों की कार्य शक्ति भिन्न भिन्न होती है। किसी में शारीरिक शक्ति अधिक होती है और किसी में मानसिक। किसी की कोई कर्मेन्द्रिय तेज होती है किसी की कोई। सबकी शक्तियों को उचित ढंग से काम में लाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति और योग्यता के अनुसार

काम दिया जाय । तभी श्रमिकों की कार्य शक्ति या कुशलता का पूरा पूरा लाभ उठाया जा सकता है। श्रम विभाजन में ऐसा ही होता है। जो जिस काम के लिए उपयुक्त होता है, उसको वही काम दिया जाता है। जहा पर अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है वहा बलवान मनुष्य रक्खे जाते है और जहा अन्य शक्तियो की जरूरत होती है वहा दूसरी श्रेणी के श्रमिक लगाये जाते है। इस तरह श्रम विभाजन द्वारा सबकी शक्तियो को यथेष्ठ रूप मे प्रयोग मे लाया जा सकता है। श्रम विभाजन के न होने पर एक ही व्यक्ति को उत्पादन कार्य को आदि से अन्त तक सभी काम निबाहना पडेगा। ऐसा होने पर बहुत से व्यक्तियों का उपयोग न हो सकेगा और कुशल श्रमिक को बहुत सा साधारण काम भी करना पडेगा जिससे उसकी कुशलता का पूरा लाभ न उठाया जा सकेगा। फलस्वरूप राष्ट्र की बहुत-सी शक्ति व्यर्थ जायगी। श्रम विभाजन से यह अडचन दूर हो जाती है। इसके द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्तियो का अधिक से अधिक उपयोग सम्भव हो जाता है।

(७) **उत्पादन में वृद्धि और लागत खर्च में कमी**—जब मनुष्य किसी काम को करते करते उसमे निपुण हो जाता है तो उसके काम करने की रफ्तार बहुत तेज हो जाती है। वह थोडे ही समय मे अधिक उत्पादन कर लेता है। इसमे उत्पादन का परिमाण बढ जाता है और लागत-खर्च कम हो जाता है। लागत खर्च इस कारण कम हो जाता है कि श्रम-विभाजन से समय की बचत होती है औजारो के उपयोग तथा कच्चे माल आदि में बहुत मितव्ययिता होती है।

(८) **उत्पादन की श्रेष्ठता**—श्रम विभाजन से श्रमिक अपने काम मे निपुण हो जाता है। निपुण होने के कारण जो चीज वह तैयार करता है वह अच्छी और श्रेष्ठतर होती है। उसमे सफाई और सुन्दरता होती है।

(९) **उद्योग धधो में वृद्धि**—आविष्कार और नई नई मशीनो के उपयोग से उद्योग धधो मे वृद्धि होती है, जिससे स्त्री वस्त्र, अन्न,

जूले, लगड़े बहरे आदि सभी प्रकार के लोगों को काम करने का मौका मिल जाता है।

(१०) सहयोग और सगठन की उन्नति—श्रम-विभाजन के कारण बड़े-बड़े कारखाने खुल जाते है, जहा पर बहुत-से श्रमिक एक साथ काम करते है। एक साथ काम करने और रहने से श्रमिको मे सगठन, सहयोग और एकता का भाव जागृत हो जाता है। सगठित होकर वे अपनी दशा को काफी सुधार सकते है।

श्रम-विभाजन से हानिया

(Disadvantages of Division of Labour)

श्रम-विभाजन से होने वाले लाभो पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। किन्तु श्रम-विभाजन से केवल लाभ ही नही होते, इससे कई प्रकार की हानिया भी होती है। उनमे से मुख्य ये है —

(१) नीरसता और मनहूसियत—श्रम-विभाजन के कारण प्रत्येक मनुष्य को सदैव एक ही काम मे लगा रहना पड़ता है। दिन पर दिन उसी काम को करते रहने से मनहूसियत आ जाती है। काम नीरस बन जाता है, जिसके करने मे मनुष्य का मन नही लगता। वह उस काम से ऊब जाता है। फल यह होता है कि शीघ्र ही वह थक जाता है, उसकी बुद्धि मद पड जाती है और साथ ही दृष्टि सकुचित हो जाती है। इसलिए यह कहा जाता है कि श्रम-विभाजन से सबसे बड़ी हानि यह है कि इससे नीरसता और मनहूसियत पैदा होती है जिससे मनुष्य के चरित्र, बुद्धि और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है।

इस बात मे थोड़ी सचाई अवश्य है कि श्रम विभाजन के कारण काम में कुछ विभिन्नता न होने से काम नीरस बन जाता है। लेकिन साथ ही हमे यह नही भूलना चाहिए कि श्रम-विभाजन द्वारा अधिक और विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन सम्भव हो जाता है जिनके उपभोग मे जीवन में एक ही ढग मे डूबे रहना नही पडता। जीवन म नीरसता नहीं

जान पाती; जीवन सुखमय बन जाता है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन की नीरसता काम की नीरसता से अधिक भयानक है।

(२) **उन्नति में रुकावट**—काम के एक सूक्ष्म भाग के करने में मनुष्य की विभिन्न शक्तियों को समुचित रूप से बढ़ने व विकास के लिए पूरा-पूरा मौका नहीं मिल पाता। मनुष्य बराबर एक ही काम में लगा रहता है। इसलिए उस काम से सम्बन्धित शक्तियों का ही उपयोग हो पाता है। उन्हीं में ही वृद्धि होती है। शेष शक्तियों के विकास के लिए अवसर नहीं मिलता। वे अविकसित ही पड़ी रहती हैं। फलस्वरूप मनुष्य पूर्णरूप से उन्नति नहीं कर सकता।

लेकिन इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रम-विभाजन द्वारा काम के समय में काफी बचत होती है। इस बचे हुए समय को ठीक ढंग से उपयोग करके मनुष्य अपनी तरह-तरह की उन्नति कर सकता है। वास्तव में श्रम-विभाजन से उन्नति में सुविधा मिलती है, रुकावट नहीं पड़ती।

(३) **बेकारी का खतरा**—श्रम-विभाजन के कारण प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध काम के केवल एक ही भाग से होता है। उसी को वह सीखता और जानता है और उसी में वह लगा रहता है। अन्य कार्यों की उसे कोई जानकारी नहीं होती। यदि किसी कारण से उसके काम की माग न रहे या घट जाय तो उसे बेकारी का सामना करना पड़ेगा। अन्य कामों की जानकारी न होने के कारण उसे और कहीं काम न मिल सकेगा। वह बेकार हो जायगा। इसलिए यह कहा जाता है कि अत्यधिक श्रम-विभाजन से बेकारी का खतरा बहुत बढ़ जाता है।

लेकिन यह आक्षेप पूर्णतः सत्य नहीं है। श्रम विभाजन के कारण प्रत्येक उपविभाग का काम सरल हो जाता है। उसे आसानी से, कम समय और थोड़े खर्च में सीखा जा सकता है। अस्तु, बेकार मनुष्य जल्दी दूसरे काम को सीख कर उसमें लग सकते हैं।

(४) **कुशलता और जिम्मेदारी में कमी**—श्रम-विभाजन के कारण काम बहुत सरल हो जाता है, जिसके करने से किसी विशेष योग्यता अथवा कुशलता की आवश्यकता नहीं पड़ती। श्रमिक केवल मशीन चलाने वाला रह जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि श्रम-विभाजन से कुशलता कम हो जाती है। कुशल श्रम का कार्य-क्षेत्र घट जाता है। निपुण या कुशल श्रम की कम आवश्यकता पड़ती है। लेकिन यह बात बहुत हद तक ठीक नहीं है। श्रम-विभाजन से काम बट जाता है, काम के कई उपविभाग कर दिये जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक उप-विभाग का काम सरल हो जाता है। कुछ उपविभागों में विशेष योग्यता और निपुणता की आवश्यकता पड़ती है। उन उपविभागों का कार्य केवल कुशल श्रमिक ही कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त नित्य नये पदार्थों और मशीनों की उत्पत्ति के कारण निपुणता और कुशलता की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में श्रम-विभाजन के कारण देश के हर प्रकार के लोगों को उनकी योग्यता, शिक्षा, सामर्थ्य के अनुसार काम में लगाया जा सकता है। इस कारण शक्ति का ह्रास नहीं होने पाता।

श्रम-विभाजन से एक दूसरी हानि यह बताई जाती है कि इसमें जिम्मेदारी कम हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पूर्ण-रूप से बनाता हो, तो उस काम की अच्छाई-बुराई की पूरी जिम्मेदारी उसी पर होगी। किन्तु यदि उस काम की जिम्मेदारी हजारों लोगों में बटी हुई हो, तो वास्तव में वह किसी की जिम्मेदारी नहीं होती। सभी एक-दूसरे पर उस जिम्मेदारी को टालने की कोशिश करते हैं। कोई भी अपने ऊपर जिम्मेदारी नहीं लेता। ऐसा होने से काम कम सावधानी से किया जाता है।

(५) **स्त्रियों और बच्चों का शोषण**—श्रम-विभाजन के कारण काम बहुत सरल और परिमित हो जाता है, जिसे स्त्रियां और बच्चे भी कर सकते हैं। मिल-मालिक पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों और बच्चों को रख

लेते हैं, क्योंकि उनको अपेक्षाकृत कम मजदूरी देनी पडती है। इसमे कुछ पुरुषों को बेकारी का सामना ही नही करना पडता बल्कि स्त्रियो और बच्चो के स्वास्थ्य, चरित्र और भावी जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। समाज के लिए यह निश्चय ही विचारणीय बात है। कमजोर स्त्रिया कमजोर बच्चो को जन्म देगी। बच्चे कमजोर होने के कारण वे आगे चलकर जीवन का भार उठाने मे असमर्थ होंगे। ऐसी दशा मे भविष्य में किसी प्रकार की उन्नति सभव न होगी।

लेकिन यह दोष श्रम-विभाजन पर नही थोपा जा सकता। श्रम-विभाजन से काम बट जाता है। प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति को उसकी शिक्षा और शक्ति के अनुसार काम मे लगाना सम्भव हो जाता है। इसमें सभी की शक्तियो का उचित उपयोग हो सकता है। स्त्रियो और बच्चों का शोषण पूजीपतियो के निजी लाभ के कारण होता है, श्रम-विभाजन के कारण नही। सभी सभ्य देशों में इस ओर सुधार हो रहा है।

(६) कारखाना-प्रणाली की बुराइयाँ—श्रम-विभाजन के कारण कारखानो की प्रथा का बहुत बोलबाला हो गया है। इसलिए कारखाना-प्रणाली की बुराइयों को श्रम-विभाजन की हानियो की सूची म शामिल किया जा सकता है। कारखाने की प्रथा से जो अनेक बुराइया उत्पन्न होती है, उनसे हम भली-भाति परिचित है। कारखाने की प्रथा में श्रमिको की स्वतन्त्रता चली गई है। उनके और मिल-मालिको के बीच व्यक्तिगत-सम्बन्ध नहीं रहा। इसके कारण हडताल आदि अनेक समस्याए उत्पन्न होती है। कारखानो मे सैकडो व हजारो व्यक्तियो को कई घण्टो तक अस्वास्थ्यकर वातावरण मे काम करना पडता है। उन्हे अस्वास्थ्यकर बस्तियो मे रहना पडता है। इन सबका उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है, और साथ ही दूषित अनैतिकता भी शीघ्र फैलने लगती है।

श्रम-विभाजन से इस तरह की हानिया होती है। लेकिन श्रम-विभा-

जन मे जो लाभ होते है, वे इन हानियो से कही अधिक है। श्रम-विभाजन से मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ जाती है। गन्दे, भारी और अरुचिकर कामो से मनुष्य को छुटकारा मिल जाता है। ये काम मशीनो से किये जाते है जो श्रम-विभाजन की प्रमुख देन है। कार्य करने का समय घट जाता है जिसके उपयोग से श्रमिक अपनी आत्मोन्नति कर सकता है। श्रम-विभाजन से नये-नये आविष्कार होते है, ज्ञान और सभ्यता की वृद्धि होती है। इससे उत्पादन अधिक से अधिक होता है और उत्पादन की लागत मे भारी कमी होती है। श्रम-विभाजन से जो कुछ हानिया है, वे बहुत-कुछ दूर की जा सकती है। वे श्रम-विभाजन के आवश्यक अग नहीं है। अधिकतर वे श्रम-विभाजन के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न होती है। अस्तु, उनको उचित व्यवस्था के द्वारा दूर किया जा सकता है। वर्तमान समय मे उनका तेजी से प्रतिकार किया जा रहा है।

श्रम-विभाजन की सीमा

(Limits to Division of Labour)

हम ऊपर देख चुके है कि श्रम-विभाजन मे अनेक प्रकार के लाभ होते है। लेकिन इसका यह आशय नही कि श्रम-विभाजन को जब और जितना चाहे, उतना बढाया जा सकता है। श्रम-विभाजन कुछ विशेष दशाओ मे ही सम्भव और लाभदायक हो सकता है, और वहा भी एक खास सीमा तक ही। अनेक बातो से श्रम-विभाजन के विस्तार की सीमा निर्धारित होती है। इनमे से कुछ मुख्य निम्नलिखित है —

(१) **व्यवसाय अथवा काम की प्रकृति व स्वरूप**—श्रम-विभाजन के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन-कार्य कई भागो और उपविभागो में विभक्त हो सके और उत्पादन-कार्य लगातार होता रहे। इन दोनो मे से किसी एक बात के न होने पर श्रम-विभाजन सम्भव न होगा। कुछ ऐसे उत्पादन-कार्य है जो विभक्त नही हो सकते या उनको विभक्त करने पर सब भागो पर एक साथ काम नही चल सकता। कृषि का ही उदा-

हरण ले लो। कृषि-कार्य को कई भागों में बाटा तो अवश्य जा सकता है लेकिन सब भागों का काम एक साथ नहीं चल सकता। यह सम्भव नहीं है कि एक ही समय खेत में कोई हल चलाता रहे, कोई खाद और पानी देता रहे, तो कोई फसल काटता जाय। ऐसा सम्भव न होने पर कैसे प्रत्येक श्रमिक अपने एक खास क्रम-विभाग को कायम रख सकेगा। यही कारण है कि अन्य उद्योग-धन्धों की अपेक्षा कृषि में श्रम-विभाजन की बहुत कम गुंजायश होती है। अस्तु, श्रम-विभाजन व्यवसाय अथवा काम की प्रकृति पर निर्भर है। जितने अधिक विभाग और उपविभाग किसी काम के हो सकेंगे और उत्पादन-कार्य लगातार चल सकेगा, श्रम-विभाजन उतना ही आगे उस काम में बढ सकेगा।

(२) मडी का विस्तार—श्रम-विभाजन मडी के विस्तार अथवा माग की मात्रा से सीमित होता है। किसी वस्तु के उत्पादन म श्रम-विभाजन तभी सभव और लाभप्रद होगा जबकि उस वस्तु की मडी बडी हो, अर्थात् उस वस्तु की बाजार में अधिक माग हो। यदि उस वस्तु की माग कम है, तो श्रम-विभाजन सम्भव न होगा, और यदि होगा भी तो बहुत आगे न बढ सकेगा। कारण यह है कि श्रम-विभाजन से उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है। जब किसी वस्तु के उत्पादन-कार्य को विभिन्न भागों में बाटा जायगा और भिन्न-भिन्न व्यक्ति उन भागों पर एक साथ लगातार काम करेंगे तो निश्चय ही उत्पादन बडे पैमाने पर होगा। लेकिन यह तभी लाभप्रद होगा जबकि उस वस्तु की मडी बडी हो। यदि मडी बडी नहीं है तो बडे पैमाने पर उत्पादन करने से हानि होगी। और जब तक बडे पैमाने पर उत्पादन करने की आवश्यकता न होगी तब तक श्रम-विभाजन आगे न बढ सकेगा। उदाहरण के लिए मान लो, गाव में कोई मोची जूता बनाने का काम करता है और वहा पर प्रति सप्ताह केवल दो जोडी जूतों की माग है। ऐसी दशा में श्रम-विभाजन से उसे लाभ न होगा। यदि वह श्रम-विभाजन करता है, अर्थात् जूते बनाने के काम को भिन्न-

भिन्न भागों में बाटकर अलग-अलग व्यक्तियों को सौंपता है, तो जूते अधिक मात्रा में तैयार होंगे। लेकिन माग कम होने के कारण वे बिक न सकेंगे। फलस्वरूप उसे हानि होगी और इस कारण वह श्रम-विभाजन न करेगा। मडी बड़ी हो जाने पर उसके लिए श्रम-विभाजन का सहारा लेना सम्भव हो जायगा और जैसे-जैसे मडी बड़ी होती जायगी, वैसे-वैसे श्रम-विभाजन बढ़ सकेगा। इसलिए यह कहा जाता है कि श्रम-विभाजन मडी के विस्तार द्वारा सीमित होता है। जितना कम या अधिक किसी वस्तु की मडी का विस्तार होगा उतना ही कम या अधिक उस वस्तु के उत्पादन में श्रम-विभाजन सभव हो सकेगा।

(३) उत्पत्ति के साधनों की मात्रा—श्रम-विभाजन उत्पत्ति के साधनों की प्राप्य मात्रा से भी सीमित होता है। श्रम-विभाजन से उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए अधिक श्रम और पूजी की आवश्यकता पड़ेगी। यदि ये साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, तो श्रम-विभाजन का कार्य आगे न बढ़ सकेगा। पिछड़े हुए देशों में उत्पत्ति के साधनों की, विशेष रूप से पूजी और प्रबन्ध की, बहुत कमी होती है। इस कारण इन देशों में श्रम-विभाजन के कार्य में बहुत उन्नति नहीं हो सकती। उन्नत और प्रगतिशील देशों में उत्पत्ति के साधन अधिक मात्रा में होते हैं। वहा के लोगों की आवश्यकताए भी बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और लोग मिल-जुल कर काम करने को तैयार भी रहते हैं। यही कारण है कि ऐसे देशों में श्रम-विभाजन की बड़ी आवश्यकता होती है और इसके लिए वहा पर क्षेत्र भी बहुत बड़ा होता है।

QUESTIONS

1. What is division of labour? Describe its various forms
2. What are the main advantages and disadvantages of division of labour? Explain them fully.
3. Explain the main forms of division of labour and

show how division of labour increases productive efficiency

4 "Division of labour is limited by the extent of market" Discuss

5 Explain what is meant by division of labour What are the main factors that limit division of labour?

अध्याय २१

पूँजी

(Capital)

उत्पत्ति के दो प्रमुख साधनो, भूमि और श्रम, का पिछले अध्यायो में अध्ययन किया जा चुका है। अब हम उत्पत्ति के एक अन्य साधन, पूजी, का विवेचन करेगे। आधुनिक उत्पत्ति-प्रणाली मे पूजी का स्थान बहुत ऊचा और महत्वपूर्ण है। सच तो यह है कि आज तो इसके सामने अन्य सब साधन बहुत-कुछ फीके पड गये है। इसके पहले कि हम इसके कार्य व महत्व पर विचार करे, यह समझ लेना जरूरी है कि अर्थशास्त्र मे "पूजी" शब्द किस अर्थ मे प्रयोग किया जाता है।

पूंजी का अर्थ और विशेषता

(Meaning and Features of Capital)

पूजी क्या है और इसमे कौन-कौन सी वस्तुए शामिल है, इन पर अर्थशास्त्री एकमत नही है। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने पूजी की भिन्न-भिन्न रूप मे परिभाषा की है। कुछ के अनुसार पूजी और सम्पत्ति दोनो एक है। कुछ उत्पत्ति के उन सब साधनो को पूजी मानते है जो स्थायी नही है, और कुछ अर्थशास्त्री पूजी की यह परिभाषा देते है कि *यह उत्पत्ति का उत्पन्न किया गया साधन है।* इन विभिन्न परिभाषाओ की छान-बीन करने के बजाय यह अधिक अच्छा होगा कि हम पूजी के उस अर्थ को समझ ले जो साधारणत अर्थशास्त्र मे अधिक मान्य है और जिससे पूजी की मुख्य विशेषताए स्पष्ट हो जाती है।

भूमि के अतिरिक्त, उन सब प्रकार की सम्पत्तियो को पूजी कहा जाता है जो उत्पादन में सहायक होती है। मोटे तौर से उत्पादन मे सहायता

देने वाली वस्तुओं के दो भाग किये जा सकते हैं—भूमि और पूंजी। इनमें से जो वस्तुएं प्रकृति की मुफ्त देन है, वे भूमि में शामिल की जाती हैं। शेष सब वस्तुएं, जो उत्पत्ति में सहायक होती हैं, पूंजी कहलाती हैं। इस प्रकार की वस्तुओं में वे मकान व स्थान शामिल हैं जहां पर उत्पादन का कार्य होता है, वे मशीन और औजार जो वहां इस्तेमाल होते हैं, वे कच्चे माल जो विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के बनाने में काम आते हैं और साथ ही वह सब सामान जो उत्पादन करने के दौरान में श्रमिकों के भरण-पोषण के लिए आवश्यक है। अस्तु, संक्षेप में, पूंजी का आशय, भूमि और श्रम को छोड़कर, उन सब वस्तुओं से है जो उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

इस परिभाषा से पूंजी की मुख्य विशेषता स्पष्ट है। वह यह है कि यह एक उत्पन्न किया हुआ साधन है। भूमि और श्रम उत्पत्ति के दो मूल व मौलिक साधन हैं। इनके परस्पर सहयोग से सम्पत्ति का उत्पादन होता है। इस सम्पत्ति का एक भाग बचाकर और अधिक उत्पादन में लगाया जाता है। सम्पत्ति के इसी भाग को पूंजी का नाम दिया जाता है। अस्तु, पूंजी एक स्वतन्त्र साधन नहीं है। यह भूमि और मनुष्य के विगत श्रम का फल है। इस विशेषता को लेकर पूंजी की इस प्रकार परिभाषा की जाती है कि यह उत्पत्ति का उत्पन्न किया गया साधन (produced means of production) है।

पूंजी तथा सम्पत्ति, भूमि व मुद्रा में क्या कितना अन्तर है, इसको समझ लेने पर पूंजी का अर्थ और स्पष्ट हो जायगा। अतएव, संक्षेप में, हम इस पर विचार करेंगे।

पूंजी और सम्पत्ति—ऊपर दी हुई परिभाषा के अनुसार उन तमाम उत्पादित वस्तुओं को पूंजी कहते हैं जो उत्पादन-कार्य में इस्तेमाल होती हैं जैसे कच्चा माल, औजार, मशीन आदि। अर्थशास्त्र में इन वस्तुओं की गिनती सम्पत्ति में की जाती है। सम्पत्ति कहलाने की सब शर्तें ये पूरा करती हैं। ये सीमित हैं, विनिमयसाध्य हैं और इनमें उपयोगिता भी है।

दूसरे शब्दों में इनमें मूल्य है, और मूल्य रखने वाली वस्तुएं सम्पत्ति कहलाती हैं। तो क्या पूंजी और सम्पत्ति दोनों एक ही हैं ? नहीं, दोनों आवश्यक रूप से एक नहीं हैं। सम्पत्ति का उपयोग दो तरह से हो सकता है। एक तो वर्तमान आवश्यकताओं की तत्काल पूर्ति के लिए उसका प्रत्यक्ष प्रयोग हो सकता है और दूसरे उसे और अधिक सम्पत्ति उत्पादन करने के काम में लगाया जा सकता है। जब सम्पत्ति पहले रूप में इस्तेमाल होती है, तब वह तृप्ति का एक साधन होती है और वह सिर्फ सम्पत्ति है। जब सम्पत्ति दूसरे प्रकार से प्रयोग की जाती है, तब वह उत्पादन का एक साधन बन जाती है और तब वह पूंजी कहलाती है। अस्तु, सब पूंजी धन है किन्तु सब धन पूंजी नहीं है। अमुक वस्तु पूंजी है या नहीं, यह उसके उपयोग के आधार पर तय किया जा सकता है। उपयोग के कारण वही वस्तु पूंजी भी हो सकती है और पूंजी नहीं भी हो सकती है। जैसे, जिस मकान में तुम रहते हो, वह केवल धन है। किन्तु यदि उसी मकान में कोई कारखाना खुल जाय अथवा उत्पादन-कार्य होने लगे तो वह पूंजी हो जायगा। जो कोयला भोजन बनाने के लिए रसोईघर में जलाया जाता है वह पूंजी नहीं है, लेकिन जो कोयला कारखाने की भट्टियों में और अधिक उत्पादन के लिए जलाया जाता है वह पूंजी है। इसी तरह जब गेहूं भोजन के लिए इस्तेमाल होता है तब केवल धन है, परन्तु जब बीज के काम में लिया जाता है तब वह पूंजी बन जाता है। अस्तु, उपयोग के उद्देश्य से ही यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक वस्तु केवल धन है या पूंजी। दोनों में कोई भौतिक अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि वही धन जो आगे चलकर और अधिक धनोत्पादन के काम में आता है पूंजी माना जाता है।

पूंजी और भूमि—बहुत पुराने समय से पूंजी और भूमि को अलग-अलग श्रेणी में रखा जाता है। भूमि को पूंजी में शामिल न करके इसे उत्पादन का एक स्वतन्त्र साधन माना जाता है। इसके कई कारण बतलाये जाते हैं। एक तो भूमि प्रकृति की मुफ्त देन है। दूसरे, भूमि अमर है;

यह नष्ट नहीं होती। तीसरे, भूमि की मात्रा निश्चित है, इसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। इसके विपरीत पूंजी श्रम का फल है। यह नष्ट हो जाती है और इसकी मात्रा घट-बढ़ सकती है। अतः दोनों में काफी भेद व अन्तर है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्री पूंजी और भूमि को अलग-अलग नहीं रखते। वे भूमि को पूंजी में शामिल कर लेते हैं। ऊपर जो भेद बतलाये गये हैं, उनको वे नहीं मानते। उनके हिसाब में ये भेद निराधार और गलत हैं। वे कहते हैं कि उत्पादन में जो भूमि इस्तेमाल होती है, उस पर मनुष्य का श्रम लगा होता है। वह उसी प्रकार श्रम का फल है जैसे कि मशीन, औजार आदि हैं। इस दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। इसके अलावा वे यह भी कहते हैं कि न तो भूमि वास्तविक रूप में अमर है और न ही इसकी मात्रा बिलकुल निश्चित है। बराबर खाद न देते रहने से अच्छी से अच्छी भूमि कुछ वर्षों के बाद बेकार हो सकती है। उसकी उपजाऊपन सदा एक-सा नहीं बना रहता। उसमें वृद्धि और कमी हो सकती है। अतएव पूंजी और भूमि में कोई स्पष्ट और निश्चित भेद नहीं है। भूमि एक प्रकार की पूंजी ही है।

इस बात में बहुत-कुछ सत्यता है। दोनों में अनेक समानताएं हैं। फिर भी इन दोनों को अलग-अलग रखना ही अधिक उपयुक्त है। भूमि और पूंजी में एक-दो महत्त्वपूर्ण भेद हैं। भूमि की कमी एक स्थायी बात है। कीमत में चाहे जो परिवर्तन हो, भूमि की पूर्ति में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। अर्थात् भूमि की पूर्ति लोचरहित है। लेकिन पूंजी के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। समय मिलने पर पूंजी की मात्रा में कमी-बेशी लाई जा सकती है। इसके अलावा उन्नति के साथ-साथ दूसरी चीजें सस्ती होती जाती हैं, किन्तु भूमि का मूल्य बढ़ता जाता है।

पूंजी और मुद्रा—आम तौर से पूंजी और मुद्रा दोनों एक वस्तु मानी जाती हैं। एक व्यक्ति अपनी मुद्रा को पूंजी मानता है। वह मुद्रा के रूप में पूंजी जमा करता है और उसे काम में लाकर आमदनी प्राप्त करता है। लेकिन वास्तव में मुद्रा पूंजी नहीं है। यह ठीक है कि वर्तमान समय में

संचय और मूल्यांकन मुद्रा के रूप में होता है और मुद्रा के द्वारा विभिन्न प्रकार के पूंजी-पदार्थों को खरीदा जा सकता है। फिर भी मुद्रा स्वयं पूंजी नहीं है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से पूंजी की मात्रा में अपने आप अथवा आवश्यक रूप से वृद्धि नहीं होती। यदि ऐसा होता तो सरकार मुद्रा की मात्रा बढ़ाकर पूंजी की पूर्ति मनचाही बढ़ा लेती। फिर तो पूंजी की कभी कोई अड़चन की बात ही न होती। वास्तव में पूंजी का आशय उन उत्पन्न किये गये साधनों से है जो उत्पादन में सहायक होते हैं। मुद्रा में केवल इन साधनों का मूल्य आंका जाता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक दूकान व कारखाने में दस लाख रुपये की पूंजी है तो वास्तव में हमारा मतलब यह होता है कि वहां पर जो विभिन्न प्रकार का सामान है, जैसे कच्चा माल, मशीन, औजार, इमारत आदि, वह दस लाख रुपये के बराबर है। अतः मुद्रा स्वतः पूंजी नहीं है। यह पूंजी के मूल्य के मापने का एक सुविधाजनक साधन है। पूंजी के संचय और क्रय-विक्रय में इससे बहुत सुविधा मिलती है। लेकिन उसका यह मतलब नहीं कि दोनों एक ही हैं।

पूंजी के रूप
(Forms of Capital)

पूंजी कई रूप धारण कर सकती है और इसको कई दृष्टियों से विभाजित किया जा सकता है। इसके दो महत्वपूर्ण रूप ये हैं —(१) चल पूंजी (circulating capital) और (२) अचल पूंजी (fixed capital)। चल या अस्थायी पूंजी उसे कहते हैं जो उत्पादन कार्य में केवल एक ही बार के उपयोग में खर्च हो जाती है और दुबारा काम में लाए जाने के लिए नहीं रह जाती, जैसे कच्चा माल, कोयला, कपास इत्यादि। जब कपास का सूत बन जाता है तब वह कपास नहीं रह जाता, वह खत्म हो जाता है। इसी प्रकार कोयला भी एक बार के प्रयोग से खत्म हो जाता है। अचल अथवा स्थायी पूंजी का आशय उन वस्तुओं से है जो दिकाऊ होती हैं और जिनका प्रयोग उत्पादन के लिए बार बार

किया जा सकता है। कारखाने की इमारतें, मशीनें, रेल, मोटर, इत्यादि इस प्रकार की पूंजी के उदाहरण हैं। ये वस्तुएं एक बार के ही प्रयोग में खत्म नहीं हो जाती, बल्कि बहुत समय तक इनका इस्तेमाल चलता रहता है। आधुनिक काल में अचल पूंजी का विशेष महत्व है। लेकिन दोनों में कोई निश्चित और स्पष्ट अन्तर नहीं है। स्थिति-भेद के कारण वही पूंजी एक कार्य के लिए चल पूंजी और दूसरे के लिए अचल पूंजी हो सकती है। उदाहरणार्थ किसान के लिए मवेशी अचल पूंजी है लेकिन कसाई व व्यापारी के लिए वे चल पूंजी है।

पूंजी के कई और भेद किये जाते हैं जैसे उत्पत्ति और उपभोग-पूंजी, वेतन और सहायक-पूंजी, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय पूंजी। जिन वस्तुओं से अन्य वस्तुओं की प्रत्यक्ष रूप में उत्पत्ति होती है, उन्हें 'उत्पत्ति-पूंजी' (production-capital) कहते हैं, जैसे कच्चा माल, मशीन आदि। इसके विपरीत जो वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक की आवश्यकताओं की तृप्ति करके उत्पादन में सहायक होती हैं, उन्हें 'उपभोग-पूंजी' (consumer-capital) कहते हैं जैसे श्रमिकों का भोजन, वस्त्र आदि।

'वेतन-पूंजी' (wage-capital) का अभिप्राय व्यवसाय की उस पूंजी से है जो श्रमिकों के वेतन देने के लिए उपयोग होती है। व्यवसाय में लगी हुई अन्य पूंजी को 'सहायक-पूंजी' (auxiliary capital) कहते हैं।

जिस पूंजी पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का अधिकार होता है, उसे 'व्यक्तिगत या निजी पूंजी' (individual or private capital) कहते हैं। राष्ट्र के सब व्यक्तियों की व्यक्तिगत और सार्वजनिक पूंजी के जोड़ को 'राष्ट्रीय पूंजी' (national capital) कहते हैं।

पूंजी का महत्त्व और उसके कार्य

(Importance and Functions of Capital)

पूजी धनोत्पत्ति का एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। प्रारम्भिक-काल से ही मनुष्य किसी न किसी रूप में पूजी की सहायता लेता आया है। जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति मे विकास होता रहा, वैसे ही वैसे पूजी का महत्त्व बढता गया। आधुनिक समय में पूजी का महत्त्व इतना बढ गया है कि आधुनिक काल पूजी-युग माना जाता है। पूजी के सम्मुख और सब साधन फीके पड गये है।

यह तो माना जा सकता है कि पूजी के न होने पर भी मनुष्य कुछ न कुछ कर ही लेगा। लेकिन इसकी सहायता बिना मनुष्य बहुत आगे नही बढ सकता। एक उनउदाहरण जगल मे अपने हाथो से ही लकडी तोडकर ला सकता है पर कुल्हाडी अर्थात् पूजी की सहायता से वह कहीं अधिक लकडी काट सकेगा। इसी प्रकार एक किसान हल-बैल के जरिये अधिक शीघ्रता और आसानी से खेत को जोत कर अन्न पैदा कर सकता है। कहने का साराश यह है कि पूजी की सहायता से धनोत्पत्ति की मात्रा और श्रम की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ जाती है।

पूजी के अभाव म कोई भी काम, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यो न हो, ठीक ढग से नही किया जा सकता। इसके अभाव में भूमि और श्रम बेकार पडे रहेग। उत्पादन बहुत ही कम होगा और फलस्वरूप लोगों का जीवन-स्तर भी उतना ही नीचा होगा। यही कारण है कि जिन देशों मे पूजी की विशेष कमी होती है, वे आर्थिक क्षेत्र मे आगे नही बढ पाते। वे न तो बडे पैमाने पर उत्पत्ति कर सकते हैं और न ही दूसरो की प्रतियोगिता मे ठहर सकते हैं। यही बात व्यक्तियो के लिए भी कही जा सकती है। जितनी अधिक पूजी जिस व्यक्ति के पास होगी, उतनी ही अधिक उसकी उत्पादन-शक्ति होगी, प्रतियोगिता म ठहरने की उतनी ही अधिक शक्ति उसमे होगी। पूजी का क्या-कितना महत्त्व है, वह इस बात से स्पष्ट हो

सकता है कि उत्पादन-क्षेत्र मे पूंजी क्या-क्या कार्य करती है। धनोत्पत्ति से पूंजी द्वारा जो काम होते हैं, उनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं ---

(१) पूंजी द्वारा काम करने के लिए तरह-तरह का कच्चा माल प्राप्त होता है जिसके बिना उत्पादन-कार्य नही चल सकता। इसमे केवल वही वस्तुए शामिल नही हैं जो मनुष्य को सीधी प्रकृति से मिलती हैं, बल्कि वे वस्तुए भी सम्मिलित हैं जो श्रम द्वारा इस तरह बनाई हुई होती हैं कि तैयार व पक्के माल के बनाने मे उनका उपयोग हो सके।

(२) पूंजी से धनोत्पादन के लिए स्थान, मशीन, औजार, चालक-शक्ति आदि अनेक आवश्यक चीजों की प्राप्ति होती है। इनकी सहायता के बिना उत्पादन ठीक और अच्छे ढग का नही हो सकता।

(३) वर्तमान समय में उत्पादन मंडी मे क्रय-विक्रय के लिए किया जाता है। इसलिए तैयार माल को भिन्न-भिन्न मडियो म ले जाना पड़ता है और उसके बेचने का प्रबन्ध करना पड़ता है। यह काम पूंजी की ही सहायता से होता है।

(४) उत्पादन म काफी समय लगता है। किसी वस्तु के पूरी तरह से तैयार होने मे खासा समय लग जाता है। तैयार होने के बाद उसका क्रय-विक्रय होता है। तब कहीं जाकर उत्पादकों को तैयार माल की कीमत मिल पाती है। उस समय तक जीवन-निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र आदि पर जो खर्च होता है, वह पूंजी के सहारे ही होता है। अर्थात् उत्पादन और बिक्री के दौरान मे पूंजी के द्वारा ही उत्पादकों की आवश्यकताओ की तृप्ति होती है। आवश्यकताओ की तृप्ति उस समय तक रोकी नही जा सकती। अस्तु पूंजी श्रम और उपभोग का मिलान कर देती है।

इससे पूंजी का महत्त्व स्पष्ट है। उत्पादन-क्षेत्र मे आदि से अन्त तक पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान समय मे पूंजी के बिना धनोत्पत्ति का कोई काम न तो शुरू किया जा सकता है, और न चलाया ही जा सकता है। छोटे-बड़े हर काम मे पूंजी की विशेष आवश्यकता पड़ती है।

इससे कुल उत्पादन की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और उत्पादन का खर्च कम हो जाता है। पूंजी के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि हम उन बातो को जान ले जिन पर पूजी की वृद्धि निर्भर करती है।

पूंजी की वृद्धि
(Growth of Capital)

बचत से पूजी का सचय और निर्माण शुरू होता है। बचत द्वारा धन का पूजी का रूप दिया जाता है। पूंजी के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि लोग अपनी आय का कुल हिस्सा खर्च न करके उसका कुछ भाग बचाए। जितनी ज्यादा बचत की जायगी, साधारणत उतनी ही अधिक पूजी का निर्माण होगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि पूजी की वृद्धि बचत की मात्रा पर निर्भर करती है।

बचत अथवा पूजी की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है —(अ) सचय-शक्ति (power to save) और (आ) सचय करने की इच्छा (will to save)।

(अ) सचय-शक्ति—सचय करने की शक्ति उपभोग की अपेक्षा उत्पादन के अधिक होने पर निर्भर है। उत्पादन के परिमाण में वृद्धि होने से सचय-शक्ति म वृद्धि होगी। यदि किसी देश में उत्पादन का परिमाण अधिक है और उपभोग कम है, तो उस देश के लोगो में बचत करने की शक्ति अधिक होगी। व्यक्तिगत दृष्टि से भी बचत तभी सभव है जबकि व्यय की अपेक्षा आय अधिक हो। यदि किसी की आय इतनी कम है कि जीवन की दैनिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति नही हो सकती, तो उसम बचत करने की शक्ति बिलकुल नही होगी। अस्तु, आय और व्यय के स्तर पर बचत की शक्ति निर्भर होती है।

(आ) सचय करने की इच्छा—केवल सचय करने की शक्ति से ही पूजी का निर्माण नही होता। इसके लिए लोगो में सचय करने की इच्छा का होना भी आवश्यक है। सचय की इच्छा न होने पर पूजी मे वृद्धि न हो सकेगी। पूजी की वृद्धि के लिए सचय की इच्छा उतनी ही आवश्यक

है जितनी कि सचय करने की शक्ति। सचय करने की इच्छा पर विभिन्न प्रकार की बातो का प्रभाव पडता है। इनको दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है (१) निजी बातें और (२) बाहरी बातें। इन बातो का पृथक्-पृथक् अध्ययन नीचे किया जाता है।

(१) निजी या व्यक्तिगत बातें—इस विभाग में उन शक्तियो, इच्छाओ और बातो को रखा जाता है जो मनुष्य को अन्दर से धन-सचय करने के लिए प्रेरित करती है। ये मुख्यत चार भागो मे विभक्त की जा सकती है —

(क) दूरदर्शिता—दूरदर्शिता के कारण लोग भविष्य की अनेक आपत्तियो से बचने के लिए अपनी आय का कुछ अश बचाने का बराबर प्रयत्न करते है। ये आपत्तिया बीमारी, बेकारी, आकस्मिक दुर्घटनाओ आदि के कारण हो सकती है। इन बुरे दिनो के डर से मनुष्य कुछ धन बचा-कर रखने की सोचता है। फिर वृद्ध हो जाने पर काम करने की शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसलिए उस समय व अवस्था मे काम म लाने के लिए लोग धन-सचय करते हैं।

(ख) पारिवारिक स्नेह—यह स्नेह धन-सचय के लिए सबसे अधिक प्रेरक शक्ति रखती है। प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि अपनी सन्तान की शिक्षा, भरण-पोषण, विवाह आदि के लिए कुछ धन इकट्ठा करे और जो लोग उस पर निर्भर है उनके लिए कुछ छोड जाये। अनेक कठिनाइयो को सहकर भी बहुत से लोग इस कारण बचत करते हैं कि उनके बाल-बच्चे सुख और सम्मान से रह सकें।

(ग) सम्मानादि की आकांक्षा—सभी चाहते है कि उनका समाज मे प्रभाव और प्रभुत्व बढे, उन्हे सामाजिक, राजनैतिक शक्ति प्राप्त हो। वर्तमान समाज मे यह सब काम धन के बिना असम्भव-से है। धन द्वारा समाज मे आदर, मान-प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि प्राप्त करना बहुत सरल हो जाता है। बहुत-से लोग इसी आकाक्षा से धन-सचय करते है।

(घ) आर्थिक प्रेरणाएं—आर्थिक क्षेत्र में आगे बढने व रहन-सहन का दर्जा ऊंचा करने की प्रेरणा भी धन के सचय मे विशेष सहायक होती है। आजकल प्रतियोगिता का जमाना है। जिसके पास अधिक पूजी होती है, साधारणत उसी को व्यापार, व्यवसाय आदि क्षेत्रो में सफलता मिलती है। पूजी के सहारे मनुष्य तेजी से आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर सकता है और अपने जीवन-स्तर को ऊपर उठा सकता है। इस कारण भी लोग बचाने का प्रयत्न करते हैं।

(२) *बाहिरी बातें*—*इस तरह हम देखते है कि सचय करने की* इच्छा को प्रेरित करने वाली विभिन्न बात है। पर इन प्रेरणाओ की शक्ति देश की कुछ विशेष दशाओ और परिस्थितियो पर निर्भर होती है। जब ये दशाए अनुकूल होती है, तभी लोग सचय करने को तैयार होते है। ये दशाए अथवा परिस्थितिया मुख्यत निम्नलिखित है। —

(क) जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा—जब तक किसी देश में जीवन और धन की सुरक्षा के साधन विद्यमान न होंगे, तब तक वहा के लोगो मे पूजी सचय करने की इच्छा उत्पन्न न होगी। यदि लोगो को यह डर है कि उनकी पूजी सुरक्षित न रहेगी, उसे चोर-डाकू उठा ले जायेंगे, या सरकार अनुचित टैक्स लगाकर ले लेगी, तो वे बचत करने के लिए कष्ट उठाने को तैयार न होगे। जिस देश मे शान्ति नहीं होती, जहा बराबर लडाई-झगडे होते रहते है, वहा के लोग अपनी आय का कुछ भाग बचाने की अपेक्षा उसे वर्तमान आवश्यकताओं *की ही पूर्ति मे व्यय करना अच्छा समझते है, क्योकि उन्हे यह आशा नही रहती कि जो कुछ उनके पास है,* यह भविष्य मे भी उनके पास रह सकेगा। अत धन-सचय तभी सभव है जबकि देश में शान्ति और सुव्यवस्था हो। पूजी की वृद्धि के लिए, माल तथा जीवन-रक्षा के साधनो का होना आवश्यक है।

(ख) मुद्रा का चलन—मुद्रा के व्यवहार अथवा चलन से धन-सचय मे बहुत सुविधा होती है। मुद्रा मूल्य का भडार है। इसमें स्थायित्व

का गुण होता है। इसकी माग बराबर बनी रहती है। यह शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है, और न इसके मूल्य में बहुत उतार-चढाव ही होता है। अन्य वस्तुओ के सचय करने मे अनेक असुविधाए होती है। एक तो उनके सचय करने में अधिक स्थान लगता है। दूसरे, उनको गुप्त रूप से छिपाकर रखना कठिन है। और तीसरे, यह भी डर रहता है कि कही वे खराब न हो जाय, या उनकी कीमत बहुत गिर न जाय। ये सब कठिनाइया मुद्रा के व्यवहार से बहुत-कुछ दूर हो जाती है। मुद्रा से अन्य सभी वस्तुए प्राप्त हो सकती है। अस्तु, जिस स्थान मे मुद्रा का अधिक चलन होता है, और ठीक ढग से उसकी व्यवस्था की जाती है, वहा पर धन-सचय की अधिक सुविधा होती है।

(ग) पूजी के उपयोग की सुविधा—सचय करने की इच्छा तभी तेज होगी, जबकि पूजी के जमा और उपयोग करने के सुरक्षित तथा लाभदायक साधन और सुविधाए हो। यदि पूजी जमा करने के सुरक्षित साधन नहीं है, अथवा उनके उपयोग के लिए लाभप्रद क्षेत्र नहीं है, तो लोग सचय करने के लिए अधिक उत्साहित न होगे। बैंक, बीमा-कम्पनी आदि सस्थाओ से पूजी के जमा करने मे बडी सुविधा होती है। सचित धन को अपने पास रखने मे बहुत असुविधा होती है। चिन्ता के अतिरिक्त उसकी सुरक्षा मे खर्च भी होता है। बैंको के होने से यह सब दूर हो जाता है। अस्तु, बैंक आदि के द्वारा सचय की प्रवृत्ति बढ जाती है। साथ ही, यदि उस स्थान पर पूजी लगाने के लाभप्रद क्षेत्र भी है, तो धन-सचय की प्रवृत्ति और भी अधिक बढेगी। औद्योगिक उन्नति और विकास के साथ-साथ पूजी के उपयोग करने का क्षेत्र भी बढता जाता है।

(घ) ब्याज-दर का प्रभाव—ब्याज-दर का भी बचत की इच्छा पर थोडा-बहुत असर पडता है। साधारणत अन्य सब बातो के समान रहने पर, ब्याज-दर जितनी ऊची होगी अर्थात् बचत पर जितना अधिक लाभ होगा, धन-सचय उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत ब्याज-दर के कम होने पर बचत की इच्छा कमजोर होगी।

भारत में पूँजी का सचय

(Accumulation of Capital in India)

भारतवर्ष मे पूजी की बहुत कमी है। इसके सचय व निर्माण की दर अन्य देशो की अपेक्षा बहुत कम है। इससे देश की आर्थिक उन्नति मे विशेष बाधा पड रही है। पूजी की इस कमी से न तो प्राकृतिक पदार्थो का और न मनुष्यकृत साधनो का ही ठीक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। उन बातो पर ऊपर विचार किया जा चुका है, जिनसे पूजी की वृद्धि मे सहायता मिलती है। इसलिए इस देश मे पूजी की कमी के कारणो को समझने मे कोई कठिनाई न होगी। नीचे वे मुख्य कारण दिये गये है जो देश मे पूजी के निर्माण व वृद्धि मे बाधक है।

इस देश के साधारणत सभी लोगो मे वे निजी कारण मौजूद है जो पूजी की वृद्धि के लिए आवश्यक है। हममे पारिवारिक स्नेह है और अपने लिए तथा अपने घनिष्ठ सम्बन्धियो के लिए कुछ न कुछ बचत करने की इच्छा भी है। किन्तु धनवानो को छोडकर सर्वसाधारण लोगो मे न तो सामाजिक सम्मान की प्राप्ति की इच्छा है और न उनमे पर्याप्त दूरदर्शिता ही है। फिर उनमे इसके लिए बचत की भावना कैसे हो? इसका मुख्य कारण वह भाग्यवाद और अज्ञानता है जिसमे वे सदियो की निर्धनता और दमन के कारण जकड़े हुए है।

किन्तु मुख्य कारण जिससे लोग पूजी-सचय नही कर पाते, वह है उनकी भीषण निर्धनता। अधिकाश जनता में पूजी-सचय करने की कोई भी शक्ति नही है। उनकी आमदनी इतनी कम है कि जीवन की मुख्य आवश्यकताओ से भी वे बहुधा वचित रहते है। ऐसे लोग क्या-कितनी बचत कर सकते है, यह आसानी से सोचा जा सकता है। और फिर जिन लोगो में बचाने की कुछ शक्ति है भी, उनमे खर्चीली कुरीतिया घर किये हुए है। यह अशिक्षा, अन्ध-विश्वास, और बुरे सामाजिक रीति-रिवाजो का दुष्परिणाम है।

पूजी की कमी का एक कारण यह भी है कि देश मे पूजी जमा करने

और लगाने के सुरक्षित और लाभकारी क्षेत्रों की अभी तक बहुत कमी रही है। नये व्यापारिक क्षेत्रों और उद्योग-धधों का अब विकास हो रहा है, बडी-बडी व्यावसायिक कम्पनिया भी बढ रही है। फिर भी दूसरे अनेक देशो के मुकाबले मे यह देश इस दिशा मे अभी बहुत पिछडा हुआ है। *बैंकों, बीमा-कम्पनियो आदि जैसी सस्थाओ की भी देश मे काफी कमी है* और इनका प्रबन्ध भी ठीक प्रकार से नही होता। अक्सर ऐसी सस्थाए टूटती रहती हैं जिससे पूजी-सचय को बहुत धक्का लगता है। इधर कुछ समय से उद्योग-धधो के राष्ट्रीयकरण के डर से तथा मुद्रा-स्फीति और करो मे वृद्धि से भी पूजी-सचय मे थोडी बहुत बाधा पड रही है।

इसके अलावा कुछ लोगो मे धन गाडने की भी बुरी आदत है। जो कुछ वे बचत करते है, उसे जोडकर जमीन मे गाड देते है। इस प्रकार से जोडे व गडे हुए धन से पूजी की वृद्धि नही होती। काफी धन गहनो आदि मे फसा दिया जाता है। अत बचत का कुछ भाग पूजी के रूप मे उत्पादन-कार्य के लिए नही मिल पाता। लोग अपनी बचत को उत्पादन-कार्य मे लगाते हुए हिचकते है। किन्तु यदि उन्हे लाभ और सुरक्षा का विश्वास दिलाया जाय तो उनकी हिचक जाती रहेगी। लाभ के अवसरो की कमी से और सुरक्षा मे अविश्वास के कारण देश की काफी बचत यों ही पडी रह जाती है।

QUESTIONS

1. Define and explain capital How does it differ from wealth and money ?
2. Is land capital ? Explain the grounds on which land is generally distinguished from capital ?
3. What is capital ? Distinguish between fixed and circulating capital
4. Describe the importance and functions of capital in production
5. Explain briefly the main factors on which the growth of capital depends
6. Account for the slow growth of capital in India.

अध्याय २२

मशीन का उपयोग

(Use of Machinery)

आजकल मशीन का उपयोग बहुत जोर-शोर से बढ रहा है। छोटे-बडे सभी कार्यों में अब मशीन से काम लिया जाने लगा है। आधुनिक उत्पत्ति-व्यवस्था मे मशीनो का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मशीनो के प्रयोग से उत्पादन-क्षेत्र मे एक क्रान्ति सी आ गई है। उत्पादन का सारा ढाचा ही बदल गया है। इसके परिणामस्वरूप समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था में भी बहुत परिवर्तन हुए है। श्रम की कार्य-क्षमता और उत्पत्ति की मात्रा पर मशीन का विशेष प्रभाव पडा है। वास्तव में शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र होगा जहा पर मशीनो का कुछ न कुछ प्रभाव न पडा हो। अस्तु, यदि आधुनिक युग को 'मशीन या कल-युग' माना जाय तो अनुचित न होगा।

मशीन से लाभ

(Advantages of Machinery)

मशीन से अनेक और विभिन्न प्रकार के लाभ है और यही कारण है कि सभी दिशाओं मे मशीन का उपयोग बढ रहा है। सक्षेप मे, मशीन से मुख्य लाभ निम्नलिखित है —

(१) मशीन की सहायता से मनुष्य ने प्रकृति पर काफी विजय प्राप्त कर ली है। जो कार्य पहले मनुष्य की शक्ति से परे थे, वे अब सुगमता से मशीन द्वारा किये जाने लगे है। अनेक प्राकृतिक शक्तियो का, जिनका पहले उपयोग नही हो पाता था, अब आसानी से प्रयोग किया

जा रहा है, जैसे जलशक्ति, वायुशक्ति आदि। इनसे उत्पादन की मात्रा में बहुत वृद्धि हुई है।

(२) बहुत-से काम ऐसे हैं जो केवल भारी ही नहीं होते, बल्कि साथ-साथ गंदे, अरुचिकर और नीरस भी होते हैं। इन कार्यों के करने में श्रमिक की शक्ति बहुत क्षीण हो जाती है और उसके चरित्र पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। उसकी आयु भी कम हो जाती है। अब भारी और नीरस काम मशीनें करने लगी हैं जिससे मनुष्य का यह कष्ट दूर हो गया है। उसकी शारीरिक शक्ति का पहले जैसा ह्रास नहीं होता। उसके जीवन की नीरसता और गन्दगी बहुत-कुछ दूर हो गई है। अस्तु, भारी, नीरस और गन्दे कामों को करके मशीन मनुष्य के शारीरिक और मानसिक कष्टों को कम करती है और साथ ही सुख तथा उन्नति के साधनों को बढ़ाती है।

(३) मशीनों के चलाने के ढंग करीब-करीब एक-से होते हैं। इस लिए धंधों के परिवर्तन में श्रमिकों को बहुत आसानी होती है। वे अब आसानी से और कम समय में एक उद्योग-धन्धे से उसी तरह के दूसरे उद्योग-धन्धे में आ-जा सकते हैं। मशीन-युग के पहले ऐसा सम्भव नहीं था। तब उद्योग-धन्धों में बहुत भिन्नता थी। वे एक दूसरे से बहुत पृथक्-पृथक् थे। इसलिए प्रत्येक उद्योग-धंधे के काम को सीखने में बहुत समय लगता था। पर मशीन के कारण अब उद्योग-धंधों की भिन्नता बहुत-कुछ दूर हो गई है। अस्तु, मशीन से श्रम की गतिशीलता बहुत बढ़ गई है, और फलस्वरूप कार्यक्षमता भी।

(४) मशीन द्वारा उत्पत्ति की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और माल सस्ता और सुलभ हो जाता है। इससे उपभोक्ता को बहुत लाभ होता है। जो वस्तुएं पहले धनी पुरुषों को भी ठीक तरह से नसीब नहीं थीं, वे आज सर्व-साधारण के दैनिक उपभोग की वस्तुएं हो गई हैं। आजकल घर-घर में साइकिल, घड़ी आदि वस्तुएं दिखाई पड़ती हैं जो पहले मुश्किल से

कुछ धनी लोगों ही के पास होती थी। इन वस्तुओं के उपभोग से जीवन स्तर ऊंचा हो गया है, जीवन सुखमय बन गया है। अस्तु, मशीन से सम्यता, सुख-समृद्धि में बहुत वृद्धि होती है।

(५) मशीन की सहायता से समय और दूरी की समस्याएं बहुत-कुछ हल हो गई हैं। अब माल बहुत ही कम समय और खर्च में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। घर बैठे हम दूर-दूर के समाचार और बातें सुन सकते हैं। इससे व्यापार-क्षेत्र में बहुत सुविधा और उन्नति हुई है।

(६) मशीन के काम करने की रफ्तार बहुत तेज होती है और वह बराबर एक-सी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त मशीन बारीक से बारीक काम कर सकती है जिसे हाथों द्वारा करना असम्भव है, या बहुत कठिन।

(७) मशीन द्वारा एक ही नाप, नमूने, आकार-प्रकार की वस्तुएं लाखों की संख्या में तैयार की जा सकती हैं। साधारणतया मनुष्य एक ही बनावट और माप की वस्तु बार-बार नहीं बना सकता। उसमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। आजकल वस्तुओं के अलग-अलग भाग भी मशीन द्वारा तैयार किये जाते हैं। वे एक ही सांचे के होते हैं। जब भी हम किसी वस्तु के विशेष भाग या पुर्जे की आवश्यकता होती है, हम ठीक वही पुर्जा आसानी से और कम दाम में खरीद सकते हैं। इससे उपभोक्ता को बहुत सुविधा मिलती है और साथ ही उत्पादन की शक्ति और भी बढ़ जाती है।

(८) मशीन से एक यह भी लाभ है कि इसके प्रयोग से अनेक प्रकार के नये-नये उद्योग-धंधे खुलते हैं जिनमें श्रमिकों को अधिकाधिक काम मिल सकता है। मशीन का माल सस्ता होता है। सस्ता होने के कारण लोग माल को अधिक मात्रा में खरीदते हैं। इससे उत्पादन, व्यापार और व्यवसाय को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। इनमें उन्नति होती है और फलस्वरूप नियोजन की मात्रा में वृद्धि होती है।

(९) मशीन पर काम करने से श्रमिक अधिक विचारशील और कुशल बन जाता है। उसकी निरीक्षण तथा निर्णय-शक्ति बढ जाती है। वह एकाग्रचित्त होकर काम करना सीख लेता है। श्रम की उत्पादन-शक्ति में विशेष रूप से वृद्धि होती है। मशीन की सहायता से वह नियत काम को कम समय मे ही पूरा कर लेता है जिससे उसको अपनी उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। उसका जीवन-स्तर ऊचा हो जाता है और साथ ही उसकी मजदूरी भी बढ जाती है।

इस तरह हम देखते है कि मशीन के उपयोग से व्यवस्थापक, उपभोक्ता और श्रमिक सभी को लाभ पहुचता है। उत्पादन की लागत घट जाने से व्यवस्थापक को अधिक लाभ मिलता है। उपभोक्ता को अनेक प्रकार की वस्तुए कम मूल्य मे मिलने लगती है। श्रमिक की उत्पादन-शक्ति मे उन्नति होती है जिससे मजदूरी बढ जाती है। मशीन की सहायता से काम करने का समय भी कम हो जाता है क्योकि मशीन से काम जल्दी पूरा हो जाता है। अस्तु, मशीन के उपयोग से समाज के सभी व्यक्तियो को किसी न किसी रूप मे थोडा-बहुत लाभ अवश्य होता है।

मशीन से हानियाँ

(Disadvantages of Machinery)

मशीन से केवल लाभ ही लाभ नही है, इससे कुछ हानिया भी होती है। कहा जाता है कि मशीन के कारण अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक बुराइया उत्पन्न होती है जिनके कारण समाज म बहुत असतोष फैलता है। कुछ लोग तो यहा तक कहते है कि मशीन मानव-सकटो का मूल कारण है। इससे बेकारी फैलती है, बुद्धि-विकास मे रुकावट पडती है, स्वास्थ्य बिगडता है और चरित्र गिर जाता है। मशीन-युग से पहल मजदूर केवल अपना श्रम ही बेचता था, पर अब उसे अपने बीवी-बच्चे भी बेचने पडते है, अर्थात् श्रम का शोषण बढ गया है। सक्षेप मे, हम यहा पर मशीन की मुख्य-मुख्य हानियो पर विचार करेगे।

(१) सबसे बड़ी हानि यह बताई जाती है कि मशीनों के प्रयोग से बेकारी फैलती है। पहले जिस काम के लिए दस श्रमिकों की आवश्यकता होती थी, उसे केवल अब एक-दो मजदूर मशीन की सहायता से पूरा कर लेते हैं। इस तरह मशीन के कारण बहुत-से लोग बेकार हो जाते हैं। और यह तो सभी मानते हैं कि बेकारी सबसे बुरा रोग है।

यह निस्सदेह सच है कि मशीन के प्रयोग का तत्कालीन परिणाम बेकारी फैलाना है। किन्तु, आगे चलकर, लोगों को काम मिलने में असुविधा नहीं होती। मशीन की बनी हुई चीजें सस्ती होती हैं। इस कारण उनकी माग बढेगी। माग के बढने पर उत्पत्ति की मात्रा बढ़ाई जायगी। इसके लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होगी। इस तरह कुछ बेकार मजदूरों को काम मिल जायगा। इसके अतिरिक्त जब वस्तुएं अधिक मात्रा में तैयार की जाने लगेगी, तो और अधिक कच्चे माल और मशीनों की आवश्यकता होगी। फलस्वरूप कुछ मजदूरों को कच्चे माल के उत्पादन तथा मशीनों के बनाने और सुधारने में काम मिल जायगा। अस्तु, मशीन के प्रयोग से केवल कुछ ही समय के लिए बेकारी फैलती है, हमेशा के लिए नहीं।

(२) कुछ लोग यह कहते हैं कि मशीनों से कला-कारीगरी को बड़ा धक्का पहुचता है। मशीन की बनी हुई वस्तुए हाथ की बनी हुई चीजों की अपेक्षा बहुत सस्ती होती हैं। इस कारण सर्वसाधारण मशीन की ही बनी चीजें खरीदते हैं। इससे स्वतन्त्र तथा कुशल कारीगरों का निर्वाह नहीं हो पाता। फलस्वरूप उन्हें अपनी कारीगरी को छोड़कर मशीन की शरण लेनी पड़ती है। इस तरह मशीन के कारण कला-कौशल को भारी धक्का लगता है।

ऊपर के आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि वास्तव में मशीन-युग में कला-कौशल की हानि नहीं होती। कुशल कारीगर मशीन के बनाने तथा चलाने के काम में लग सकते हैं। इस काम में कौशल और बुद्धि की बड़ी जरूरत पड़ती है। नई-नई डिजाइनों के सोचने और बनाने

में भी कारीगरी, कला-कौशल की माग होगी। अस्तु, मशीन के कारण कला-कौशल का ह्रास नहीं होता।

(३) मशीन की बनी हुई चीजे केवल सस्ती और दिखावटी होती है। उनमें वास्तविक सुन्दरता नहीं होती, और न वे स्थायी ही होती है। हाथ की बनी हुई चीजे अधिक टिकाऊ होती है।

यह तो ठीक है कि मशीन का बना हुआ माल बहुत सुन्दर नहीं होता। मशीन से ढाका की मलमल जैसी सुन्दर वस्तु तैयार नहीं की जा सकती। लेकिन प्रश्न यह है कि ये वस्तुए कितनो को सुलभ हो सकती है। साधारणत इन वस्तुओ का बहुत मूल्य होता है। इसलिए दो-चार धनी व्यक्ति ही इन्हें खरीद सकते हैं। लेकिन मशीन के कारण वस्तुए सस्ती और बहुत सुलभ हो गई है। इससे जन-साधारण को बहुत लाभ पहुचा है।

(४) मशीन पर काम करने के लिए कोई विशेष शारीरिक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इस कारण कारखानो में स्त्री-बच्चे बहुत सख्या मे काम पर लगा दिये जाते हैं। इससे उनके श्रम का बहुत अनुचित शोषण होता हैं जिससे केवल उन्हे ही नही बल्कि सारे समाज की भारी हानि होती है। इससे व्यक्ति और समाज दोनो की उन्नति रुक जाती है।

किन्तु यह दोष मशीन का नही है। यह दोष तो मशीन के मालिको और समाज पर थोपा जा सकता है, जो ऐसा करते है या होने देते है। सभ्य समाजो मे स्त्री और बच्चो के श्रम के उपयोग पर काफी रोक-टोक होती है।

(५) मशीन से मजदूरो की स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। मशीनो का मूल्य अधिक होने के कारण साधारण श्रमिक उन्हे नही खरीद पाते। फलत उन्हे बडे-बडे कारखानो में जाकर नौकरी करनी पडती है। काम करने के लिए अब वे पूर्ण रूप से मालिक पर ही निर्भर रहते है। इससे काफी अनिश्चितता पैदा होती है।

यह अवश्य मानना पडेगा कि मशीन से श्रमिक की स्वतन्त्रता काफी कम हो गई है। *लेकिन यह बुराई भी गृह-उद्योग-धन्धों के समुचित विकास* से दूर की जा सकती है। अब छोटी और सस्ती मशीने भी बनने लगी है।

(६) मशीन से माल जल्दी और अधिक परिमाण में तैयार होता है। लेकिन तैयार माल की खपत उतनी जल्दी और ठीक से नही हो पाती। इसके कारण *व्यापारिक तेजी-मन्दी की समस्या उत्पन्न होती है* जिसमे फिर बेकारी आदि की कठिनाइया आ खडी होती है। यही नही, तैयार माल की खपत बढाने के लिए दूर-दूर की मडियो पर कब्जा पाने के लिए उत्पादकगण उचित-अनुचित उपायो का प्रयोग करते है। इससे ससार मे अशान्ति फैलती है। युद्ध की प्रवृत्ति भी इस कारण जोर पकडती है।

किन्तु इसका मुख्य कारण कुव्यवस्था का अभाव और परस्पर का *वैर-विरोध है। उचित वितरण न होने से भी उपर्युक्त समस्याए उत्पन्न* होती है।

(७) मशीन से एक दूसरी हानि यह है कि श्रमिक के स्वास्थ्य और चरित्र पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडता है। मशीन के कारण बड़े-बडे कारखाने खोले जाते है जहा पर पुरुष, स्त्री और बच्चे हजारो की सख्या मे एक साथ काम करते है। इससे उनके आचार पर बुरा प्रभाव पडता है। फिर, मशीनो के काम करने की रफ्तार इतनी तेज होती है कि *श्रमिको को बराबर भय लगा रहता है। इससे उनके स्वास्थ्य को बहुत* धक्का लगता है और उनकी आयु भी कम हो जाती है।

(८) इसके अलावा प्राय कारखानो का वातावरण स्वास्थ्य के लिए हितकर नही होता। घनी आबादी होने के कारण मजदूरो के रहने-सहने का उचित प्रबन्ध नही हो पाता। स्वच्छ जल और हवा की भी काफी कमी रहती है। कारखानो के शोर और धुए मे लोगो के जीवन पर बुरा असर पडता है। उनकी कार्यक्षमता गिर जाती है और अनेक प्रकार की *बीमारिया उन्हे पकड लेती है।*

(९) मशीनों के अधिक प्रयोग से श्रमिकों और पूंजीपतियों में संघर्ष, वैर-विरोध बढ़ जाता है। इससे हड़ताल और तालाबन्दी की भीषण परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं। इन बातों से आर्थिक और सामाजिक जीवन को बहुत धक्का पहुँचता है, जीवन अनिश्चित हो जाता है।

किन्तु इन दोषों को मशीन पर नहीं थोपा जा सकता। यदि स्त्री-पुरुष के साथ-साथ काम करने से नैतिक आधार टूट जाता है, सदाचार का ह्रास होता है, तो यह बात केवल कारखानों के लिए ही, जहाँ मशीनों का प्रयोग होता है, नहीं कही जा सकती। खेतों में भी स्त्री-पुरुष साथ-साथ काम करते हैं। मन्दिर, सिनेमा आदि स्थानों में भी तो वे साथ-साथ आते-जाते हैं। फिर तो वहाँ भी सदाचार के बिगड़ने का भय अवश्य होगा। और यह कहना कि मशीन बड़ी तेज रफ्तार से चलती है, इसलिए श्रमिक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उसकी आयु कम हो जाती है अथवा वह समय से पहले ही मर जाता है, ठीक नहीं है। वास्तव में, इसमें मशीन का क्या दोष ? दोष तो उसके मालिक का है जो श्रमिक को इस बात के लिए मजबूर करता है कि वह मशीन को भयानक रफ्तार से चलाए। श्रम और पूंजी के संघर्ष को, कारखानों के आस-पास की गंदगी को, सहयोग और सुव्यवस्था द्वारा दूर किया जा सकता है।

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं मशीन के द्वारा मनुष्य की उत्पादन और उपभोग-शक्ति बहुत बढ़ गई है। उसका जीवन-स्तर ऊँचा हो गया है। साथ ही सभ्यता में वृद्धि हुई है। मशीन के कारण जो कुछ हानियाँ होती हैं, वे अधिकतर मशीन के कारण उत्पन्न नहीं होतीं, वे पूंजीपतियों के स्वार्थ और मशीन के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न होती हैं। इन्हें सहयोग, सुव्यवस्था और सरकारी कानूनों द्वारा दूर किया जा सकता है। मशीन के उचित प्रयोग से व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ पहुँचता है।

QUESTIONS

1 Discuss the advantages and disadvantages of the use of machinery in production

2 Examine the effects of machinery on labour

3 Do you think that the progress of mechanical invention is injurious to labouring classes? Give reasons

अध्याय २३

प्रबन्ध और साहस

(Organisation and Enterprise)

भूमि, श्रम और पूंजी की विशेषताओं तथा उनके कार्यों पर विचार किया जा चुका है। इन तीनों साधनों का अपना-अपना महत्त्व है और हर प्रकार के उत्पादन के कार्य में इनकी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि जब तक इन तीनों साधनों को एक साथ जुटाया या मिलाया न जायगा, तब तक इनसे उत्पादन का कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। भूमि, श्रम या पूंजी का पृथक्-पृथक् कोई महत्त्व नहीं है। इनका महत्त्व तथा इनकी कार्यक्षमता पारस्परिक मिलाव और सहयोग पर निर्भर है। ठीक प्रकार की उत्पत्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इन तीनों में उचित सहयोग हो, इनका उचित ढंग से संगठन हो।

इन सबको एक साथ जुटाकर इनका सम्मिलित, सामूहिक रूप से संचालन करना उत्पत्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। इस कार्य को अर्थशास्त्र में 'संगठन', 'प्रबन्ध' या 'व्यवस्था' कहते हैं। संगठन अथवा प्रबन्ध का अर्थ भूमि, श्रम और पूंजी को अच्छे ढंग से मिलाकर उन तीनों के बीच उचित व्यवस्था करना है। जब तक उत्पत्ति के इन तीनों साधनों को उचित रूप से प्रयोग में न लाया जायगा, तब तक किसी भी धन्धे अथवा व्यवसाय में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। जो व्यक्ति संगठन करने का भार अपने ऊपर लेता है, वह संगठनकर्त्ता, व्यवस्थापक या प्रबन्धक कहलाता है।

उत्पादन का चाहे जो रूप या ढग हो अथवा उसकी कोई भी प्रणाली हो, सगठन आवश्यक है। प्रारम्भिक अवस्था म भी कुछ हद तक सगठन और प्रबन्ध की आवश्यकता पडती है। एक छोटे से खेतिहर को भी अपनी सगठन-शक्ति का उपयोग करना पडता है। उसे यह निर्णय करना पडता है कि भूमि का कितना भाग जोते, कौन-सा अन्न बोए, उत्पत्ति के अन्य साधनो को किस अनुपात मे मिलाये जिससे उत्पादन अधिक से अधिक हो। समाज की प्रगति के साथ-साथ सगठन की उपयोगिता और उसका महत्त्व बहुत बढ गया है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था मे सगठन अनिवार्य बन गया है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के स्वामी अलग-अलग होते हैं। अतएव एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इन साधनो को उत्पादन-कार्य के लिए इकट्ठा करे। उत्पत्ति की वृद्धि के साथ मशीनो का प्रयोग, मडियो का विकास, श्रम विभाजन आदि के कारण आधुनिक व्यवसाय का प्रबन्ध बहुत ही जटिल और जोखिम का बन गया है। जो लोग प्रबन्ध-कार्य मे निपुण तथा विशेषज्ञ होते है, वे ही इस काम को भली प्रकार कर सकते हैं। अस्तु, आजकल की उत्पत्ति मे सगठनकर्ता, प्रबन्धक और साहसी-व्यवसायी का विशेष स्थान है।

सगठनकर्त्ता के कार्य

(Functions of an Organiser)

आधुनिक उत्पादन म सगठनकर्त्ता कई प्रकार के लाभदायक और महत्त्वपूर्ण कार्यों की व्यवस्था करता है। व्यवसाय का सम्पूर्ण भाग्य उसी पर निर्भर होता है। उसकी रीति-नीति और उसके कार्यों का उत्पत्ति के अन्य साधनो की उत्पादन-शक्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। एक चतुर सेनापति की भाति उसको आन्तरिक तथा बाह्य अनुशासन रखना आवश्यक होता है। वह उत्पत्ति-कार्य मे लगे हुए सब साधनो का [illegible]न्त्रण करता है, उन्हे सचालित करता है और निर्देश देता है। उसके [illegible]ार्यों का, सक्षेप मे, नीचे विचार किया जाता है।

सर्वप्रथम वह पूरे कार्य की, आदि से अन्त तक, एक सुव्यवस्थित योजना बनाता है। वह यह निर्णय करता है कि किन वस्तुओं की उत्पत्ति की जाय ? उत्पत्ति का परिमाण क्या हो ? उत्पादन के लिए कौन-कौन से तरीके काम मे लाये जाय ? व्यवसाय का मुख्य स्थान कहा हो ? इन बातो का निर्णय करके वह उत्पत्ति के आवश्यक साधनो को खरीदता व जुटाता है और उनके बीच उचित ढग से सगठन करता है। यह एक महत्वपूर्ण और जटिल कार्य है। फिर कई भागो म वह कार्य को विभक्त करता है। सगठनकर्त्ता का यह काम होता है कि उत्पादन इस ढग से करे जिससे उत्पत्ति अधिक से अधिक हो और व्यय कम से कम। इसलिए वह सदैव उत्पादन के श्रेष्ठतर उपायो की खोज करता रहता है। उसे यह देखना होता है कि प्रत्येक साधन वह कार्य कर रहा है या नही जो उसे करने के लिए दिया गया है, अथवा कोई शक्ति बेकार तो नही जा रही है। वह उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर नियत्रण रखता है।

जब उत्पत्ति पूरी हो जाती है अर्थात् माल तैयार हो जाता है, तब उसकी बिक्री के लिए उसे प्रबन्ध करना पडता है। बिक्री की व्यवस्था करना सगठनकर्त्ता का एक दूसरा मुख्य कार्य है। उसे यह विचार करना होता है कि उसके माल की कहा-कहा खपत हो सकेगी, उस माल का किस तरह विज्ञापन किया जाय जिससे माग म वृद्धि हो, तथा तैयार माल को किन उपायो द्वारा मडियों म पहुचाया जाय। किसी भी व्यवसाय की सफलता काफी अश तक इन्ही बातो पर निर्भर करती है।

सगठनकर्त्ता को उत्पत्ति के अन्य साधनो के लिए पारिश्रमिक देने का भी प्रबन्ध करना पडता है जैसे श्रम के लिए मजदूरी, पूजी के लिए ब्याज व भूमि के लिए लगान। जो साधन तरह-तरह से उसके काम में सहायक होते है, उन सबको उनके काम के बदले में कुछ न कुछ देना होता है। व्यवसाय मे चाहे हानि हो या लाभ, उन साधनो को एक पूर्व निर्धारित रकम देनी ही पडती है।

ऊपर के कार्यों से एक और काम निकलता है जो इन सबसे बढ़कर है। वह है साहस अथवा जोखिम उठाने का काम। उत्पत्ति में जितना हानि-लाभ का जोखिम होता है, उसकी कुल जिम्मेदारी उसके ऊपर होती है। *आधुनिक उत्पत्ति भावी माग के आधार पर ही की जाती है।* सगठन-कर्त्ता इस बात का अनुमान लगाता है कि भविष्य मे उसकी वस्तु की कितनी माग होगी। उस अनुमान पर वह उत्पादन की योजना तैयार करता है। बाजार में तैयार सामान के आने के पहले काफी समय लग जाता है। सम्भव है उस बीच माग मे परिवर्तन हो जाय। यदि उसका अनुमान ठीक उतरा तो उसे लाभ होगा, अन्यथा हानि। इस जोखिम का भार वह स्वय उठाता है। जब तक कोई व्यक्ति इस काम को करने के लिए आगे न आयेगा, तब तक वर्तमान उत्पत्ति असभव है। हर एक प्रकार की उत्पत्ति में कुछ न कुछ जोखिम का अश होता है। अन्य साधनो को एक निश्चित रकम देनी पडती है। उत्पत्ति होने के पहले ही यह तय हो जाता है कि धनोत्पादन में योग देने वाले श्रम, पूजी, भूमि और प्रबन्ध को कितना और किस हिसाब में प्रतिफल दिया जायगा। व्यवसाय में होने वाले हानि-लाभ में उनका कुछ मतलब नही होता। वे तो अपना प्रतिफल लेगे ही, चाहे व्यवसाय मे हानि हो या लाभ। उनका प्रतिफल पहले से ही निश्चित होता है। जोखिम उठाने वाले को क्या मिलेगा, यह निश्चय नही किया जा सकता। यह तो धनोत्पादन के बाद जब तैयार माल बिक जाता है, तब कही जाकर यह मालूम पडता है कि उसे कितना लाभ या हानि हुई।

कभी-कभी सगठनकर्त्ता और जोखिम उठाने वाले अलग-अलग व्यक्ति होते है और कभी एक ही व्यक्ति दोनो काम अपने ऊपर ले लेता है। यह आवश्यक नही कि जो सगठन का काम करता है, वह जोखिम या हानि-लाभ का भी भार अपने ऊपर ले। आधुनिक काल मे अधिकतर प्रबन्ध और साहस का कार्य अलग-अलग व्यक्ति करते है। इसलिए सगठन और साहस उत्पत्ति के दो अलग-अलग साधन माने जाते है।

...कर्त्ता उत्पत्ति की व्यवस्था करता है और इस सम्बन्ध मे अनेक

निर्णय-कार्य करता है । साहसी-व्यवसायी का काम मुख्यत जोखिम का भार अपने ऊपर लेना है ।

ऊपर के वर्णन से पता चलता है कि सगठनकर्त्ता और साहसी-व्यवसायी के कार्य कितने महत्वपूर्ण है । आधुनिक आर्थिक ससार के वे एक प्रकार से सेनानायक है । उन्ही पर उत्पत्ति का सारा दारोमदार है । अस्तु, जिस देश मे जितने ही अधिक योग्य, दूरदर्शी और क्षमताशील सगठनकर्त्ता और साहसी व्यवसायी होगे, वह देश उतनी ही अधिक और तेजी से आर्थिक उन्नति कर सकेगा ।

ऊपर कहा जा चुका है कि आर्थिक क्षेत्र मे सगठनकर्त्ता और साहसी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करते है । व्यवसाय की सफलता व उन्नति बहुत-कुछ इन्ही की योग्यता और क्षमता पर निर्भर करती है । लेकिन इसके पहले कि वे अपने विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक कर सके, उनमे कई गुणो का होना आवश्यक है । विश्लेषण द्वारा पता चलता है कि ये गुण न तो साधारण है और न सब जगहो पर एक से ही गुण आवश्यक होते है । भिन्न-भिन्न उद्योगो और परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न गुणो की आवश्यकता होती है । फिर भी मोटे तौर से एक सफल साहसी और सगठनकर्त्ता के लिए निम्नलिखित गुण आवश्यक है ।

सबसे आवश्यक गुण यह है कि उनम मनुष्यो और चीजो की पूरी परख होनी चाहिए । उनमे उत्पत्ति के अच्छे और सस्ते साधनो को जुटाकर उचित ढग से काम मे ला सकने की योग्यता होनी चाहिए । व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है कि कम व्यय म अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा उत्पादन हो । यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रतिस्थापन सिद्धान्त के अनुसार वे महगे साधनो के स्थान पर सस्ते साधनो को उपयोग मे ला सके, और उनको उन्ही कामो मे लगाये जिनके लिए वे उपयुक्त हो । निश्चय ही इसके लिए यह आवश्यक है कि उनमे अपने उद्योग की पूरी जानकारी हो और अच्छे तथा सस्ते साधनो की

पूरी परख हो। उन्हें यह ज्ञान और अनुभव होना चाहिए कि कब, कहां, कैसे और कितने में साधनों को खरीद या प्राप्त कर उत्पादन किया जाय और किन स्थानों पर तथा किस तरह माल को बचने के लिए ले जाया जाय। दूसरे शब्दों में, उन्हें बाजार की स्थिति, माग, पूर्ति, देश, काल, सामाजिक मनोविज्ञान आदि बातों का पूरा-पूरा ज्ञान और अनुभव होना चाहिए। साथ ही उनमे ठीक और जल्दी से जल्दी विचार और निर्णय करने की भी शक्ति होनी चाहिए ताकि वे हर परिस्थिति में ठीक समय पर उचित निर्णय कर सके। इन सबके अतिरिक्त उनमे दूरदर्शिता, धैर्य, उत्साह, गम्भीरता आदि गुणो का होना बहुत आवश्यक है जिससे वे दूसरों से ठीक-ठीक काम ले सके और यदि हानि हो तो हिम्मत न हार बैठें।

ये सब गुण बहुत-कुछ स्वाभाविक होते है। पर कुछ हद तक उपयुक्त शिक्षा के द्वारा भी इनकी प्राप्ति हो सकती है।

QUESTIONS

1 What is organisation? Should enterprise be distinguished from organisation? Give reasons
2 State the importance and functions of organiser in production
3 What are the qualities of a good organiser? Why is he called 'captain of industry'?
4 Why is enterprise indispensable in the present system of production?

अध्याय २४

व्यवसाय-व्यवस्था के रूप
(Forms of Business Organisation)

उत्पादन-कार्य शुरू करने के पहले व्यवस्थापक को यह निश्चय करना पड़ता है कि व्यवसाय के संगठन का क्या रूप हो ? उस काम के जोखिम उठाने की व्यवस्था किस ढंग या प्रकार से की जाय ? क्या वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से उस काम के जोखिम उठाने का भार अपने ऊपर ले, या दो-चार और व्यक्तियों को मिलाकर साझेदारी की व्यवस्था करे अथवा मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी स्थापित करके जोखिम का भार कम्पनी के विभिन्न हिस्सेदारों के बीच बांटे ? यदि हम मंडी में जाकर देखें तो व्यवसाय-व्यवस्था व संगठन के इस तरह के अनेक रूप या भेद दिखलाई पड़ेंगे। मुख्यतः व्यवसाय-व्यवस्था के निम्नलिखित भेद हैं— (१) वैयक्तिक या एकाकी साहस-प्रणाली (single proprietorship) (२) साझेदारी (partnership), (३) मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी (joint-stock company), (४) सहकारी व्यवस्था (co-operative organisation) और (५) सरकारी उद्योग (state enterprise)। संक्षिप्त रूप में हम इनका अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

वैयक्तिक साहस-प्रणाली
(Single Proprietorship)

व्यवसाय-व्यवस्था के इस रूप में जोखिम और प्रबन्ध का कुल भार एक ही व्यक्ति पर होता है। वह अपने काम का स्वयं ही व्यवस्थापक

होता है। काम को सभालना, सगठन करना, जोखिम उठाना आदि सब बातों की जिम्मेदारी उसी पर होती है। आवश्यकता होने पर वह दूसरों से पूजी उधार लेता है और बाहरी मजदूरों और प्रबन्धकों को रखता है। फिर भी वह अकेला ही व्यवसाय की सफलता व असफलता के लिए जिम्मेदार होता है।

जो कुछ उस धन्धे में लाभ होता है, वह सब उसी का होता है और यदि उसमें नुकसान हुआ तो भी उसे स्वय ही सहन करना पडता है।

वैयक्तिक साहस-प्रणाली व्यवसाय-व्यवस्था का सबसे पुराना और सरल रूप है। आज भी उत्पादन के कई क्षेत्रों में व्यवस्था का यह रूप दिखाई पड़ता है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहा उत्पादन छोटे परिमाण में होता है अथवा जहा उत्पत्तिकर्ता को उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रत्यक्ष रूप से सेवाए करनी पडती है, जैसे डाक्टरी, वकालत आदि। लेकिन इस प्रथा का महत्व और क्षेत्र अब धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

वैयक्तिक साहस-प्रणाली अथवा व्यक्तिगत उद्योग-व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। एक तो यह कि इस तरह के काम शुरु करने में व्यवस्थापक को बहुत आसानी होती है। दूसरे, व्यवस्थापक को अधिक श्रम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि उसके परिश्रम का प्रतिफल सीधा उसी को मिलता है। इस अपनेपन के भाव के कारण वह खूब जी लगाकर काम करता है जिससे काम ज्यादा और अधिक अच्छा होता है। ग्राहकों की आवश्यकताओं पर वह स्वय ध्यान दे सकता है जिससे उसके व्यवसाय की ख्याति में वृद्धि होती है। उसे साझेदारों के द्वारा व्यवसाय के गुप्त भेदों के प्रकट होने का डर नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वह जैसे चाहे वैसे अपने व्यवसाय का प्रबन्ध कर सकता है। उसे इस सम्बन्ध में किसी से सलाह लेनी अनिवार्य नहीं होती। फलस्वरूप मडी का रुख देखकर वह शीघ्र से शीघ्र अपने व्यवसाय में उसके अनुसार परिवर्तन ला सकता है।

किसी बात के निर्णय करने में उसे देरी नहीं लगती। व्यावसायिक उन्नति के लिए यह परमावश्यक है।

वैयक्तिक साहस-प्रणाली में अनेक कठिनाइयां और दोष भी हैं। साधारणतया एक व्यक्ति के पास पूंजी की मात्रा परिमित होती है और व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने की शक्ति भी कम होती है। ठीक यही बात उसकी व्यावसायिक योग्यता और कुशलता के सम्बन्ध में लागू है जिसके कारण किसी बड़े व्यवसाय के सब विभागों का उचित निरीक्षण तथा सचालन करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। फलस्वरूप विशिष्टीकरण और बड़े परिमाण पर उत्पादन करने के जो अनेक लाभ हैं, वे उसे प्राप्त नहीं हो सकते। लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसमें व्यवस्थापक की देनदारी अपरिमित होती है। जरूरत पड़ने पर उसकी सारी निजी सम्पत्ति कानूनन ली जा सकती है। इस भय के कारण न तो वह उतने उत्साह और दृढ़ता से काम कर सकता है, और न नये-नये तरीकों के उपयोग करने का साहस कर सकता है। इन सब कारणों से एकाकी उत्पादन-प्रणाली का महत्त्व घटता जा रहा है। यह केवल उन्हीं कारोबारों के लिए उपयुक्त है, जिनमें कम पूंजी, परिमित योग्यता और साधारण कुशलता की आवश्यकता पड़ती हो जैसे खेती, फुटकर बिक्री।

साझेदारी

(Partnership)

जब दो या अधिक व्यक्ति व्यवसाय को अपने हाथ में लेते हैं, तो उसे साझेदारी कहते हैं। साझेदार अपने साधनों को मिलाकर व्यवसाय चलाते हैं और सारे कार-बार के लिए अलग-अलग और साथ ही सम्मिलित रूप से भी जिम्मेदार होते हैं। साधारणतः प्रत्येक साझेदार की देनदारी अपरिमित होती है। यदि उस कार्य में दूसरों से रुपया लेकर लगाया गया है, तो ऋणदाता को कानूनी तौर से अपनी तमाम रकम एक ही साझेदार से प्राप्त करने का अधिकार होता है, अर्थात् साझेदारी व्यवस्था में प्रत्येक

साझेदार व्यवसाय की हर बात का व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में जिम्मेदार होता है।

वैयक्तिक साहस प्रणाली की बहुत-सी असुविधाएं साझेदारी की व्यवस्था से दूर हो जाती हैं। सीमित व्यावसायिक योग्यता और पूंजी के अभाव के कारण प्राय: जो रुकावटें उद्योग धंधों की उन्नति में आती हैं, वह काफी हद तक साझेदारी द्वारा दूर हो जाती है। प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य का यथोचित विभाजन करके भिन्न भिन्न साझेदारों के बीच उनकी विशेष योग्यतानुसार बांटा जा सकता है, जैसे एक व्यक्ति खरीद का काम अपने हाथ में ले सकता है और दूसरा बिक्री का। इससे कार्य क्षमता में वृद्धि होती है और व्यवसाय की उन्नति में पर्याप्त सहायता मिलती है। अपरिमित दायित्व के कारण प्रत्येक साझेदार एक दूसरे पर पूरा पूरा ध्यान रखता है जिसके फलस्वरूप कार्य ठीक ढंग से चलता रहता है। व्यक्तिगत उद्योग से साझेदारी व्यवसाय की साख अधिक होती है इसलिए कर्ज और पूंजी के मिलने में सहूलियत होती है। और फिर चूंकि काम कई लोगों की सलाह से होता है इसलिए उसमें गलती की सम्भावना कम रहती है। इसके अलावा परिस्थितियों के अनुसार साझेदारी व्यवसाय में परिवर्तन लाना कोई कठिन काम नहीं। साझेदारों की संख्या कम होने के कारण किसी बात के निर्णय करने में देर नहीं लगती और आपस में काम बंट होने से प्रबन्ध आदि पर कोई विशेष खर्चा भी नहीं होता।

साझेदारी प्रथा की जो अच्छाइयां ऊपर बताई गई हैं वे ठीक तो अवश्य हैं किन्तु वे उसी समय होती हैं जबकि सब साझेदार मिल जुल कर अच्छी तरह से काम करते हैं। बहुधा यह देखने में आता है कि साझेदारों में किसी न किसी बात पर मतभेद हो जाने से विश्वास उठ जाता है और आपस के वैर विरोध में उनकी सारी शक्ति लग जाती है और कारबार बन्द हो जाता है, इसके अतिरिक्त किसी भी साझेदार की मृत्यु होने पर अथवा दिवालिया हो जाने पर व्यवसाय टूट जाता है। इन सब कारणों से साझेदारी बहुत दिन तक नहीं चल पाती। साझेदारी की एक मुख्य

हानि यह भी है कि इसमे प्रत्येक साझेदार का उत्तरदायित्व अपरिमित होता है। किसी एक साझेदार की त्रुटि से दूसरे साझेदार को अपनी कुल जायदाद से हाथ धोना पड सकता है। इस भय से धनी लोग साझेदारी पसन्द नही करते। फलस्वरूप बहुत जोखिम वाले व्यवसाय नही किये जा सकते। इन सब हानियो से छुटकारा पाने के लिए एक नयी प्रकार की व्यवस्था का अब प्रादुर्भाव हुआ है जिसका नाम है 'मिश्रित पूजी वाली कम्पनी'।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी
(Joint-Stock Company)

आधुनिक व्यावसायिक ससार मे मिश्रित पूजी वाली कम्पनियो का विशेष महत्त्व है। यद्यपि अभी खेती-बाडी मे इसका प्रभाव कम है, फिर भी इसका चलन औद्योगिक, खानो तथा यातायात के क्षेत्रो मे दिन प्रति-दिन बढता जा रहा है। मिश्रित पूजी वाली कम्पनी कतिपय व्यक्तियो का सघ है। ये लोग हिस्सेदार कहे जाते है। हिस्सेदार पूजी लगाते है और कारोबार का जोखिम अपने ऊपर लेते है। पूजी को भिन्न-भिन्न मूल्य के हिस्सो (shares) मे बाट दिया जाता है। जो व्यक्ति उन हिस्सो को खरीदता है, वह उस कम्पनी का हिस्सेदार बन जाता है, या यो कहिए कि वह कम्पनी के अनेक मालिको मे से एक मालिक हो जाता है। हिस्से-दारो की सख्या प्राय बहुत अधिक होती है। फलस्वरूप वे प्रत्यक्ष रूप में कम्पनी के प्रबन्ध-कार्य मे हाथ नही बँटाते। वे वोट द्वारा अपने मे से कम्पनी को चलाने तथा उसकी नीति आदि निर्धारित करने के लिए एक छोटी कार्यकारिणी समिति चुनते है जिसे आम तौर से 'सचालक समिति' (Board of Directors) कहते है। यह समिति कम्पनी के प्रतिदिन के साधारण कार्यो से सम्बन्ध नही रखती। ये सब काम तो वेतन पाने वाले मैनेजर और अन्य कर्मचारियो द्वारा किये जाते है। अत इस प्रकार की व्यवस्था मे स्वामित्व और प्रबन्ध एक दूसरे से पृथक् होते है।

कम्पनी के मालिक हिस्सेदार होते हैं, परन्तु वे उसके प्रबन्ध-कार्य में कोई भाग नहीं लेते।

इसके पहिले कि कम्पनी के लाभ और हानि पर विचार किया जाय, कम्पनी की उन विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है जिससे इसके और साझेदारी के बीच जो अन्तर है वह मालूम हो सके। सर्वप्रथम, कम्पनी की पूंजी सम्मिलित होती है और मालिकों की संख्या बहुत होती है। दूसरे, कम्पनी के हिस्सों का अदल-बदल हो सकता है। अर्थात् एक हिस्सेदार जब चाहे अपने हिस्सों को दूसरों के हाथ बेच सकता है। हिस्सेदारों के बदलने से कम्पनी टूटती नहीं। तीसरे, प्रत्येक हिस्सेदार की देनदारी उसके हिस्सों के मूल्य तक ही सीमित होती है। अधिक से अधिक रकम जो किसी हिस्सेदार को चुकानी पड़ सकती है या हानि हो सकती है, वह केवल उसके खरीदे हुए हिस्सों की रकम तक ही सीमित है। उसकी बाकी सब सम्पत्ति सुरक्षित रहती है। उसे कोई छू नहीं सकता।

कम्पनी-व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। इसके द्वारा बड़े से बड़े कारोबार के खोलने के लिए आसानी से पूंजी इकट्ठा करना सम्भव हो जाता है। पूंजी इकट्ठी करने तथा उसके उपयोग करने व लगाने में इससे काफी प्रोत्साहन मिलता है और साथ ही यह काम बहुत सुविधाजनक और सरल हो जाता है। व्यक्तिगत तौर से बचत की छोटी-छोटी रकमों को लाभप्रद कारोबार में लगाना सम्भव नहीं होता, लेकिन यदि उनको एक में मिला लिया जाय, तो उनका उपयोग लाभप्रद ढंग से आसानी से हो सकता है। कम्पनी-व्यवस्था द्वारा बिखरी हुई छोटी रकमों को इकट्ठा किया जा सकता है और फिर उनको कारोबार में आसानी से लगाया जा सकता है। कम मूल्य वाले हिस्सों को खरीदकर साधारण व्यक्ति भी अपनी थोड़ी-सी बचत से फायदा उठा सकते हैं। परिमित देनदारी होने से उन्हें थोड़ी ही जोखिम उठानी पड़ती है। धनी लोगों को भी कम्पनी-व्यवस्था से बहुत लाभ होते हैं। इसके द्वारा वे अपनी पूंजी को भिन्न-भिन्न कारोबार

में लगा सकते हैं। पूजी के इस प्रकार बंट जाने से जोखिम का खतरा उनके लिए कम हो जाता है। चूकि हिस्सों का क्रय-विक्रय हो सकता है, इसलिए कोई भी हिस्सेदार अर्थात् पूजीदाता बिना कारोबार को तोड़े ही अपनी पूजी निकाल सकता है। समाज के भिन्न-भिन्न श्रेणी के व्यक्ति कम्पनी के हिस्सेदार होते हैं। इस कारण जोखिम बहुसंख्यक हिस्सेदारों में बट जाती है। फलस्वरूप जोखिम का भार एक या दो व्यक्तियों पर ही नही पड़ता।

कम्पनी द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव तथा सुगम हो जाता है जिसके लाभो से हम भली-भाति परिचित है। उत्पादन के अनेक कार्य ऐसे हैं जिनको छोटे पैमाने पर चलाने में लाभ नही हो सकता, जैसे रेल, जहाज आदि। कम्पनियो के पास पर्याप्त साधन होते हैं, इसलिए कुशल तथा योग्य श्रमिको और अनुभवी व्यवसायियो की सेवाए प्राप्त हो सकती है। फलस्वरूप उच्च कोटि का श्रम विभाजन सम्भव हो जाता है। इससे किसी की पूजी और किसी की योग्यता को जुटाकर काम लेना सम्भव हो जाता है जिससे केवल व्यक्ति विशेष को ही नहीं, बल्कि पूरे समाज को लाभ होता है। हममे से कुछ के पास पूजी होती है लेकिन योग्यता नही होती, और यदि योग्यता होती है तो प्राय पास मे पूजी नही होती। यदि इन दोनो को एक साथ मिलाया न जाय, तो यह एक बहुत बड़ी सामाजिक हानि होगी। मिश्रित पूजी वाली कम्पनी स्वामित्व और प्रबन्ध को अलग करके यह कमी या कठिनाई आसानी से दूर कर देती है।

व्यवस्था के इस रूप मे एक और लाभ है। वह यह कि कम्पनिया अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती हैं। वे बहुत दिन तक चल सकती है। किसी एक हिस्सेदार के मर जाने या बदल जाने से कम्पनी की व्यवस्था में कोई फर्क नही पड़ता। इस कारण ऐसी कम्पनिया दीर्घकालीन तथा विस्तृत दृष्टिकोण वाली नीति आसानी से अपना सकती है। कम्पनी-व्यवस्था उन उद्योग-धन्धो के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है जिनमे बहुत पूजी की आवश्यकता होती है और साथ ही जिनमें जोखिम का अश बहुत

होता है। कोई व्यक्ति न तो इतनी पूंजी जमा कर सकता है और न इतना जोखिम ही उठा सकता है। रेल, जहाज आदि ऐसे व्यवसाय कम्पनी द्वारा ही ठीक तरह से चलाये जा सकते हैं।

संक्षेप में, कम्पनी-व्यवस्था से उन सभी लाभों की प्राप्ति हो सकती है जो श्रम-विभाजन, मशीन के प्रयोग तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति से होते हैं।

कम्पनी-व्यवस्था के अनेक दोष भी हैं। एक मुख्य दोष यह है कि हिस्सों के आसानी से खरीदे-बेचे जा सकने के कारण व्यवसाय का प्रबन्ध और स्वामित्व अयोग्य और बेईमान लोगों के हाथों में चले जाने का डर रहता है। प्रायः सीधे-सादे हिस्सेदारों को बहुत नुकसान उठाना पड़ता है। कभी-कभी तो केवल उनको ठगने के लिए झूठ-मूठ की कम्पनियां खड़ी कर दी जाती हैं। संचालक, प्रबन्धकर्त्ता तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कर्मचारी हिस्सों को खरीद-बेचकर उनके दाम ऊंचे-नीचे करके नाजायज फायदा उठाने का प्रयत्न करते हैं। कारोबार बिगड़ने पर अन्य हिस्सेदारों को बिना बतलाए, वे अपने-अपने हिस्से बेचकर अलग हो जाते हैं जिससे व्यवसाय का सारा नुकसान सीधे-सादे हिस्सेदारों को ही सहना पड़ता है। अथवा जब वे यह देखते हैं कि कम्पनी के हिस्सों पर अधिक लाभ मिलने वाला है तो एक साथ वे बहुत से हिस्से खरीद लेते हैं और बाद में उन्हें ऊंचे दामों में बेच देते हैं। इस प्रकार अनेक चालों से वे धन पैदा करने का प्रयत्न करते हैं और सीधे-सादे हिस्सेदारों को ठगते और हानि पहुंचाते हैं।

दूसरे, हिस्सेदारों में आपस की भलाई के लिए संगठन, सहयोग अथवा एकता की भावना बहुत कम रह जाती है। इसका एक कारण तो यह है कि हिस्सेदार इतने अधिक होते हैं कि एक-दूसरे को अच्छी तरह जानना-पहचानना असम्भव-सा हो जाता है। दूसरे, हिस्सों के हस्तान्तरकरण से हिस्सेदार जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं। इसलिए उनमें पारस्परिक सम्बन्ध नहीं रह पाता। साझेदारी में जो आपस में

भाईचारा होता है, वह कम्पनी के हिस्सेदारों के बीच नहीं पाया जाता। वे तो केवल अपने-अपने निजी लाभ की चिन्ता करते हैं। अस्तु, जिस प्रारम्भिक उद्देश्य से कम्पनी की स्थापना होती है कि हानि और लाभ सब मिलकर बाटेंगे उसे लोग भूल जाते हैं। वास्तव मे यदि देखा जाय तो साधारण हिस्सेदारो का, जो कम्पनी के मालिक होते है, कम्पनी की पूजी के उपयोग पर कोई प्रत्यक्ष रूप मे नियन्त्रण नही रहता। इससे बेखबर पूजीवाद का जन्म होता है जिसके कारण विभिन्न प्रकार के दोष उत्पन्न होते है।

एक अन्य दोष यह है कि व्यवस्था के इस रूप मे प्रयत्न और प्रतिफल के बीच सीधा सम्बन्ध नही रह जाता। हिस्सेदार कम्पनी के मालिक होते है किन्तु कम्पनी के प्रबन्ध आदि म उनका हाथ नही होता। प्रबन्ध का कार्य तो मैनेजर और सचालको के द्वारा होता है जिनका प्रत्यक्ष रूप मे कम्पनी की सफलता से कोई विशेष लगाव नही होता। उनको तो अपने प्रबन्ध के कार्य के बदले मे एक निश्चित वेतन मिलता है। अधिक परिश्रम करने के लिए उन्हे कोई प्रोत्साहन नही मिलता। इस कारण काम-काज मे ढिलाई आ जाती है। साथ ही काम हिस्सेदारो, सचालको और वेतन-भोगी मैनेजरो अथवा प्रबन्धको के बीच बटा होने के कारण जिम्मेदारी मे कमी आ जाती है। कोई भी अपने उत्तरदायित्व का ठीक से विचार नही करता। एक तरफ तो वेतन-भोगी प्रबन्धक सचालको की नीति को दोषपूर्ण बताकर अपने सिर से खराब काम की जिम्मेदारी टाल देते है, और दूसरी तरफ सचालकगण प्रबन्धको और हिस्सेदारो को दोषी ठहराने का प्रयत्न करते है। इस तरह कोई भी जिम्मेदारी महसूस नही करता। वास्तव म जब जिम्मेदारी बट जाती है तो वह किसी की भी नही होती। इससे कारोबार को बड़ा धक्का लगता है। कार्य-क्षमता गिर जाती है और फिजूलखर्ची मे वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त कम्पनी-व्यवस्था मे बदलती हुई परिस्थितियो के

अनुसार परिवर्तन लाने मे बहुत देर लगती है क्योंकि विभिन्न विभागों और पक्षों से सलाह-मशविरा लेना अनिवार्य होता है। इस दृष्टि से मिश्रित पूजी वाली कम्पनी एक धीमी चलने वाली मशीन के समान है।

साथ ही व्यवसाय-व्यवस्था के इस रूप में श्रम और पूजी का संघर्ष बढ़ता है। कम्पनी के हिस्सेदारों (मालिकों) और मजदूरों में कोई निजी सम्पर्क नही होता। हिस्सेदारों को अपने लाभ से मतलब होता है। मजदूरों की शिकायतों और आराम-तकलीफ का उन्हें कोई ख्याल नही होता। फलस्वरूप श्रम और पूजी का विरोध बढ़ जाता है।

एक अन्य दोष यह है कि अपनी बडी पूजी के बल पर मिश्रित पूजी वाली कम्पनी अपने प्रतियोगियो को मडी से उचित-अनुचित उपायो द्वारा हटाकर एकाधिकार प्राप्त कर लेती है। इससे एकाधिकार की अनेक बुराइयां पैदा होती है जिसके कारण उपभोक्ता, मजदूर और समाज को बहुत भारी क्षति पहुचती है। यही नहीं, बहुधा बडी कम्पनियां सरकारी अफसरो को मिलाकर अपने निजी लाभ के लिए अनेक अनुचित काम और कानून पास करा लेती है। इससे जनहित को बहुत धक्का लगता है, नैतिक आधार टूट जाता है तथा राजनीतिक क्षेत्र मे तरह-तरह की जटिल समस्याएं आ खडी होती है।

किन्तु सब बातों को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रथा में दोषो की अपेक्षा लाभ कही अधिक है। इस व्यवस्था मे इतने लाभ है कि ऊपर की हानियों के होते हुए भी आधुनिक आर्थिक जगत इसे छोड नही सकता। इसके बिना बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। इस पद्धति की श्रेष्ठता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि आधुनिक उत्पादन के सब क्षेत्रों में अन्य प्रथाओं की अपेक्षा व्यवसाय-सगठन का यह तरीका अधिक प्रचलित हो रहा है। अस्तु, सरकारी कानून और सामाजिक नियन्त्रण द्वारा इस प्रथा की त्रुटियों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जिससे व्यक्ति और समाज के हितो की रक्षा हो सके और उसमें वृद्धि हो।

सहकारी उद्योग
(Co-operative Enterprise)

सहकारिता व्यवसाय-व्यवस्था का एक विशेष रूप है जिसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका उद्देश्य पूँजीवादजनित दोषों को निर्मूल करना है। व्यवसाय की पूँजीवादी व्यवस्था के द्वारा श्रमिकों, छोटे उत्पादकों और उपभोक्ताओं पर अनेक प्रकार से अन्याय किया जाता है। उनके हितों को बुरी तरह कुचला जाता है। इन गरीब और पीड़ित वर्गों के हितों की रक्षा के लिए सहकारिता का प्रादुर्भाव हुआ है। सहकारिता व्यवसाय-व्यवस्था का वह रूप है जिसमें सामान्यता के आधार पर लोग स्वेच्छा से अपने आर्थिक तथा सामाजिक हितों की वृद्धि के लिए संघ स्थापित करते हैं। सहकारिता के दो मुख्य आधार हैं स्वेच्छा और जनतन्त्रवाद। जो लोग सहकारी संघ या समिति के सदस्य बनते हैं, उन पर कोई बाह्य-बन्धन या दबाव नहीं होता। वे अपनी स्वेच्छा से सदस्य बनते हैं। साथ ही सहकारी समिति का सब काम जनतन्त्रवाद के आधार पर होता है। समिति के सब सदस्य बराबर होते हैं, उनमें कोई फर्क नहीं होता। सबको एक से अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्येक सदस्य का केवल एक ही वोट होता है। इसमें जनतन्त्रवाद की छाप साफ-साफ प्रकट हो जाती है।

इन सब बातों से कम्पनी-व्यवस्था और सहकारिता का भेद स्पष्ट है। कम्पनी-व्यवस्था पूँजी के आधार पर बनती है। कम्पनी के हिस्सेदार एक बराबर नहीं होते। जिसके पास कम्पनी के जितने हिस्से होते हैं, उतने ही वोट उसे मिलते हैं। अस्तु, हिस्सेदारों में समानता नहीं होती। हिस्सों के आधार पर उनकी शक्ति, उनके अधिकार निर्भर होते हैं। यही नहीं, हिस्सेदारों को केवल अपने लाभ से सरोकार होता है, और किसी बात से नहीं। वे एक दूसरे को अच्छी तरह जानते भी नहीं। इसके विपरीत सहकारिता श्रम का संगठन है। यह मनुष्यत्व की संस्था है, पूँजीपतियों और मुनाफाखोरों का अखाड़ा नहीं। इसके सदस्य एकता के

पूजी म वध कर सगठित होकर काम करत ह । पारस्परिक सहयोग क द्वारा सहकारी व्यवस्था सामूहिक लाभ सुख समृद्धि को प्राप्त करना चाहती ह । इसक सदस्यो क बीच कोइ अन्तर नहा होता । वे समानता क आधार पर अपन ही नहीं बल्कि सबक लाभ क लिए काम करत ह ।

सहकारी व्यवस्था स अनक लाभ होत ह । इसम श्रम और पूजी का विरोध व सघष दूर हो जाता ह । इसक द्वारा बाच क उन मुनाफाखोरो का भी अत हो जाता ह जो दूसरो क शोषण स धनवान बनत ह । सहकारिता क आधार पर ही कमजोर और गरीब लोग अपनी विभिन्न शक्तियो का पूरा-पूरा उपयोग करक अपनी उन्नति कर सकत ह । इसम अच्छा उनक लिए और कोई रास्ता नहा । सहकारिता लोगो म पारस्परिक सहयोग सगठन एकता और आत्माभिमान जाग्रत करता ह जो हर प्रकार को उन्नति क लिए परमावश्यक है । इस प्रथा क अपनान स समाज को भी अनक कष्ट और समस्याओं स छुटकारा मिल जाता ह । यही कारण ह कि आज ससार क सभी सभ्य देशो म सहकारिता क सिद्धान्तो और उनस होन वाल लाभो का अधिकाधिक प्रचार हो रहा ह ।

वस तो सहकारिता क सिद्धान्तो को अनक कार्यो म उपयोग म लाया गया ह पर मुख्यत सहकारी व्यवस्था क दो भद ह एक तो सहकारी उत्पादन और दूसरा सहकारी वितरण । जब कुछ श्रमिक मिलकर उत्पादन का काय करत ह और लाभ को आपस म बाट लत ह तो उस सहकारी उत्पादन कहत ह । इसम श्रमिक ही सगठन और व्यवस्था का काय करत ह और जोखिम उठा त ह । वे स्वय पूजी एकत्रित करत ह व्यवसाय का प्रबन्ध करत ह और उसस जो हानि लाभ होता ह उस आपस म बाट लत ह । इस प्रकार व स्वय मालिक और नौकर दोनो ही होत ह । आवश्यकता पडन पर व सूद पर दूसरो स पूजी लेत ह और प्रबन्धक भी नियुक्त करत है । लेकिन हर हालत म व स्वय ही व्यवसाय का रीति-नीति निर्धारित करत ह और हानि लाभ की जोखिम उठात ह ।

सहकारी उत्पादन पद्धति स अनक लाभ ह । स्वय मालिक होन स

श्रमिक बड़ी सावधानी और कड़ी मेहनत से काम करते हैं। वे सदा इस बात का ध्यान रखते है कि सभी काम ईमानदारी और ठीक ढग से हो। इसमे निरीक्षण कम करना पडता है और कार्यक्षमता की वृद्धि होती है। वे मशीनो, ओजारो आदि को सभाल कर रखते और काम मे लाते है। कच्चे माल के उपयोग मे वे हर तरह से बचत करने का प्रयत्न करते हैं जिससे कोई भाग व्यर्थ न हो। इन सब बातो से उत्पादन अधिक, सस्ता और ठीक होता है। वर्ग-सघर्ष दूर हो जाने के कारण हडताल आदि की नौबत नही आती और इस कारण उत्पादन मे कोई रुकावट नही पडती। इसके अलावा सहकारी उत्पादन मे लाभ किसी एक व्यक्ति या समूह के पास नही जाता बल्कि श्रमिको के बीच बट जाता है। इससे समाज मे धन-वितरण मे उचित समानता आ जाती है।

कई क्षेत्रों मे सहकारी उत्पादन-पद्धति को अपनाया गया है। कृषि और छोटे उद्योगो मे इस प्रथा से काफी सफलता मिली है। लेकिन अन्य क्षेत्रो में बहुत कम सफलता मिल सकी है। इसका एक कारण तो यह है कि इसमे साहसी-उद्योगपति के लिए कोई स्थान नही होता और सहकारी प्रबन्धक साधारण योग्यता के व्यक्ति होते है। श्रमिक-मालिक प्रबन्धक की कार्यक्षमता के महत्त्व को पूर्ण रूप से नही समझते। वे उन्हे उचित वेतन देने के लिए तैयार नही रहते। इसलिए उन्हे अच्छे प्रबन्धक कम मिलते हैं। यही नही, चूकि श्रमिक उद्योग के स्वय ही स्वामी होते हैं, इसलिए वे प्रबन्धकर्ता की आज्ञा और नियमो का समुचित आदर नही करते। उनके नियत्रणो को वे भग करते रहते है। इससे कार्य-क्षमता गिर जाती है और फिर उन्हे उपयुक्त मात्रा मे पूजी और बिक्री के लिए मडी प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है।

सहकारी-वितरण उपभोक्ताओ का सगठन होता है। यह सगठन वस्तुओ की थोक और फुटकर बिक्री के लिए बनाया जाता है। किसी मुहल्ले के लोग मिलकर एक दूकान या स्टोर खोल लेते है। इसका उद्देश्य सदस्यो

को आवश्यक वस्तुए देना होता है। स्टोर वस्तुओ को थोक भाव पर खरीदता है और फुटकर भाव से सदस्यों को बेचता है। जो लाभ होता है वह सदस्यों के बीच, उनकी खरीद के अनुसार, बाट दिया जाता है।

सहकारी उत्पादन की अपेक्षा सहकारी वितरण को बहुत सफलता मिली है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके ग्राहक बधे रहते है। ग्राहको की चिन्ता इसमे नही होती। इसलिए विज्ञापन आदि पर खर्च नही करना पडता और न ही ग्राहको को खोजने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाए प्रदान करने की व्यवस्था की आवश्यकता रहती है। इन सब बातो से बहुत बचत होती है। स्टोर का लाभ इस कारण बढ जाता है। साथ ही जो लाभ आमतौर से दलालो को जाता, वह भी स्टोर के पास रह जाता है। अस्तु, भिन्न-भिन्न प्रकार की बचतो से सहकारी वितरण को बहुत सफलता मिलती है। यही कारण है कि हर देश मे यह प्रथा जोर पकड रही है।

सरकारी उद्योग

(State Enterprise)

कुछ व्यवसायो का स्वामित्व और सगठन सरकार अथवा स्थानीय अधिकारियो के हाथ मे होता है। उन्हे सरकारी उद्योग कहते है। भारत मे रेल, तार, डाक, टेलीफोन सरकारी उद्योग है। पश्चिमी देशो मे बहुत-सी म्यूनिसिपल कमेटिया शहर मे स्वय पानी, बिजली आदि के कारखाने चलाती है।

सरकारी उद्योग के कुछ विशेष लाभ है जो अन्य प्रकार के व्यवसाय-व्यवस्थाओं को नही मिल पाते। उदाहरणार्थ, एक निजी व्यक्ति या कम्पनी की तुलना में सरकार में साख व उधार लेने की शक्ति कही अधिक होती है। इस कारण सरकार को औरो की अपेक्षा कम सूद पर और आसानी से कर्ज मिल सकता है। इसके अलावा सरकारी नौकरियो मे एक विशेष आकर्षण-शक्ति होती है जिसके कारण सरकार को अपने उद्योगो के चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के योग्य से योग्य और अनुभवी कर्मचारी

मिल सकते हैं। इसके अलावा साधारणतः सरकारी उद्योग एकाधिकार की स्थिति में होते हैं। इस कारण उन्हे एकाधिकार के सब लाभ उपलब्ध होते हैं।

किन्तु सरकारी उद्योग में कुछ कमजोरियां भी हैं। इसमें अपनापन नहीं होता। लोग सरकारी उद्योग में न तो उतने उत्साह और कड़ी मेहनत से काम करते हैं, और न ही उत्पादन की रीतियों में उन्नति लाने और लागत-खर्च कम करने म प्रयत्नशील रहते हैं। सरकारी घिस-घिस से किसी बात के निर्णय करने में बहुत देरी लगती है, और समय व्यर्थ नष्ट होता है। जिम्मेदारी में भी काफी कमी आ जाती है। राजनीतिक दबाव, पक्षपात और घूसखोरी भी बढ जाती है।

इन कमजोरियों और दोषों के बावजूद भी कुछ क्षेत्रों में सरकारी उद्योग लाभप्रद ही नहीं बल्कि आवश्यक है। वास्तव में सरकारी उद्योग के दोषों को अक्सर बढा-चढाकर रखा जाता है। इनमें से कुछ दोष तो वास्तविक नहीं हैं और कुछ उपाय द्वारा दूर किये जा सकते हैं। धीरे-धीरे यह अनुभव हो रहा है कि सार्वजनिक कल्याण और हितों की सुरक्षा तथा वृद्धि के लिए सरकारी उद्योग का क्षेत्र समय के साथ-साथ और आगे बढ़ेगा।

QUESTIONS

1. Describe briefly the main forms of business organisation
2. What are the advantages and disadvantages of single proprietorship?
3. Discuss briefly the merits and demerits of partnership
4. What is Joint-Stock Company? How does it differ from partnership?
5. Discuss clearly the main advantages and disadvantages of joint-stock company

6 What is a co operative enterprise? In what respects does it differ from joint stock company?

7 What are the advantages of co-operative enterprise? Show why distributive co-operation has achieved greater success than producers' co-operative?

8 Write a brief note on state enterprise

अध्याय २५

उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण

(Localisation of Industries)

जैसाकि पहले कहा जा चुका है उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण श्रम-विभाजन का एक विशेष रूप है। इसको प्रादेशिक अथवा भौगोलिक श्रम विभाजन भी कहते है। बहुधा यह देखने में आता है कि भिन्न भिन्न स्थानो पर कुछ खास-खास उद्योग-धन्धे जम जाते है। वे स्थान अलग-अलग उद्योग-धन्धो के केन्द्र बन जाते है। एक खास स्थान पर एक विशेष प्रकार के उद्योग के केन्द्रित होने को, जमकर चलने को अर्थशास्त्र में उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण (localisation of indutiies) कहते है। उदाहरणस्वरूप भारतवर्ष मे लोहे के कारखाने अधिकतर बिहार प्रान्त के जमशेदनगर मे केन्द्रित है। सूती कपडे का उद्योग बहुत-कुछ बम्बई और अहमदाबाद म केन्द्रित है और पटसन के कारखाने कलकत्ता के आस-पास के स्थानो मे पाये जाते है। इसी प्रकार इगलैण्ड में लकाशायर और मैनचेस्टर कपडा उद्योग के प्रसिद्ध केन्द्र है।

अपने व्यवसाय के लिए स्थान चुनते समय व्यवस्थापक को अनेक बातो को ध्यान मे रखना पडता है। उसे यह देखना पडता है कि उस स्थान पर उत्पत्ति के आवश्यक साधन यथेष्ठ मात्रा में मिल सकते है या नहीं, वहा की जलवायु और स्थिति कैसी है, मडी का क्षेत्र कितना बडा है, यातायात के साधन किस ढग के है, आदि। वह उन बातो पर विशेष ध्यान देता जिनसे उत्पादन-व्यय कम से कम हो और माल की खपत में अधिक से अधिक वृद्धि हो सके। जिस स्थान पर यह उपर्युक्त बातो को

अपने अनुकूल पायेगा, वही अपना कारखाना स्थापित करेगा। उस व्यवसाय के अन्य व्यवस्थापक भी इन्ही बातो को ध्यान में रखते हुए उसी स्थान को चुनेंगे। फलस्वरूप वह स्थान धीरे-धीरे उस व्यवसाय के लिए केन्द्र बन जायगा।

स्थानीयकरण के कारण

(Causes of Localisation)

देश के विभिन्न भागो मे विभिन्न उद्योगो के स्थानीयकरण के अनेक कारण होते है। इन कारणो को हम प्राकृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विभागो मे बाट सकते है।

(१) **प्राकृतिक कारण**—प्राकृतिक या भौतिक बातो का स्थानीयकरण पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है। इनमे जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति, उस स्थान की खास वनस्पति, खनिज पदार्थ, सचालक-शक्ति आदि शामिल है। कुछ उद्योग-धधो के लिए एक विशेष प्रकार की जलवायु की आवश्यकता पडती है जो हर स्थान पर नही मिल सकती। इसलिए वे उस स्थान पर स्थापित होंगे जहा उस तरह की जलवायु होगी। बम्बई और लकाशायर की जलवायु कपडे के व्यवसाय के लिए विशेष रूप से अच्छी है क्योंकि इन स्थानो मे वायुमण्डल में नमी होने के कारण धागा मजबूत और मुलायम रहता है जिससे वह जल्दी नही टूटता। इस कारण कपडे के अनेक कारखाने इन स्थानों पर केन्द्रित है।

कच्चा माल पाने की सुविधा के कारण भी भिन्न-भिन्न उद्योग भिन्न-भिन्न स्थानो पर स्थापित हो जाते है। यदि कच्चा माल बहुत वजनी है और उपयोग करने से उसका वजन कम हो जाता है तो निश्चय ही व्यवसाय को उस स्थान के निकट स्थापित करने मे सुविधा होगी जहा वह कच्चा माल पैदा होता हो। ऐसा करने से माल की ढुलाई में अपेक्षाकृत कम खर्च होगा जिससे कुल लागत-खर्च घट जायगा। बिहार और बगाल मे लोहे और कोयले की खाने पास-पास है। इसलिए वहा लोहे के कई

कारखाने स्थापित हो गये हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में चीनी के अनेक कारखाने हैं क्योंकि यहां बहुत गन्ना पैदा होता है।

यदि पास में उत्पादन के लिए चालक-शक्ति प्राप्त हो तो वह भी स्थानीयकरण का एक कारण हो जाती है। कभी-कभी कारखाने चालक-शक्ति के स्थानों के पास स्थापित किये जाते हैं ताकि चालक-शक्ति आसानी से और कम दाम में प्राप्त हो सके। पहले जमाने में तेज बहने वाली नदियों के किनारे कारखाने खोले जाते थे। आजकल चालक-शक्ति अधिकतर कोयला या जल-प्रपात द्वारा पैदा की जाती है। इस-लिए आजकल कारखाने उन स्थानों पर केन्द्रित होते हैं जहां जल, विद्युत-शक्ति या कोयले की खदानें हों।

(२) आर्थिक कारण—आर्थिक कारण भी किसी एक स्थान को किसी विशेष उद्योग-धन्धे के लिए अधिक सुविधाजनक बना देते हैं। आर्थिक कारणों में मंडी का निकट होना सबसे महत्त्वपूर्ण है। किसी उद्योग को उस स्थान पर स्थापित करने में सुविधा होगी जहां उस उद्योग के लिए मंडी हो, जहां उसके ग्राहक अधिक संख्या में हों या जहां से माल जल्दी और कम खर्च से बाजारों में भेजा जा सके। अस्तु, आमतौर से बड़े-बड़े शहरों के आसपास कारखाने स्थापित किये जाते हैं जिससे माल के बिकने में आसानी हो। बहुत से उद्योग बड़े-बड़े रेल्वे जंक्शनों के निकट केन्द्रित हो जाते हैं क्योंकि वहां से माल को ले-आने ले-जाने में बहुत सुविधा होती है और खर्च भी कम पड़ता है। अस्तु, जो स्थान मंडी के निकट होगा अथवा जहां माल ले-आने ले-जाने के लिए अच्छे और सस्ते यातायात के साधन होंगे, वहां अन्य बातों के समान रहने पर अधिक स्थानीयकरण होगा।

स्थानीयकरण का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारण काफी मात्रा में श्रम और पूंजी मिलने की सुविधा है। अन्य बातों के समान रहने पर जहां मजदूर अधिक संख्या में, अधिक निपुण और सस्ते मिलेंगे, वहां

स्थानीयकरण की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक होगी। कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानो मे विभिन्न उद्योगो के स्थानीयकरण का एक कारण यह भी है कि वहा मजदूर काफी सख्या में मिलते रहते है। इसी प्रकार जहा अपेक्षाकृत पूजी प्राप्ति की अधिक सुविधा होगी, जहा बैक आदि वित्त सम्बन्धी सस्थाए होंगी, वहा भी स्थानीयकरण अधिक होगा। कारण, समय पर काफी मात्रा मे और उचित ब्याज की दर पर पूजी के मिलने से व्यापार में, उद्योग धधो के विकास मे बहुत सुविधा होती है। वास्तव मे इस तरह की व्यवस्था के बिना कोई उद्योग ठीक प्रकार से नही चलाया जा सकता। इसलिए जिन स्थानों पर पूजी मिलने की उचित व्यवस्था और सुविधा होगी, वहा उद्योग धन्धो का स्थानीयकरण होना स्वाभाविक है।

(३) राजनीतिक कारण—सरकारी सहायता, सरक्षण या प्रोत्साहन से भी उद्योगो के स्थानीयकरण म बहुत सहायता पहुचती है। यदि किसी स्थान पर सरकार या राजा की ओर स किसी विशेष प्रकार के उद्योग धधे को सहायता या प्रोत्साहन मिलता है, तो वहा उस उद्योग-धधे का स्थानीयकरण होना स्वाभाविक ही है। ऐसा करने से सरकारी सुविधाओ से लाभ उठाया जा सकता है। अपने इतिहास के देखने से पता चलता है कि ढाका मे मलमल का उद्योग और मुर्शिदाबाद मे रेशम का उद्योग वहा के हिन्दू और मुसलमान राजाओ की कृपा से उत्पन्न हुआ था।

(४) पहले प्रारम्भ होना—कभी-कभी किसी उद्योग का किसी स्थान मे केवल इसलिए स्थानीयकरण हो जाता है कि उस स्थान में कुछ व्यवसायी बस गये है और उस उद्योग को शुरू कर दिया है। धीरे-धीरे वह स्थान उस उद्योग के लिए प्रसिद्ध हो जाता है और आगे चलकर वहा अनेक प्रकार की सुविधाए प्राप्त होने लगती है। उनसे लाभ उठाने के लिए उस उद्योग के और नये-नये कारखाने वहा खुल जाते है। थोडे समय म वह स्थान उस उद्योग का केन्द्र बन जाता है। अस्तु, पहले किसी कारखाने का प्रारम्भ होना भी स्थानीयकरण का एक जबर्दस्त कारण हो जाता है।

उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि देश के विभिन्न भागों में विभिन्न उद्योगों का स्थानीयकरण किन कारणों से होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि स्थानीयकरण के लिए इन सब कारणों का एक साथ होना आवश्यक है। किसी उद्योग का स्थानीयकरण किसी कारण से हो सकता है और किसी का दूसरों से। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रत्येक उत्पादक अपने व्यवसाय को ऐसे स्थान पर स्थापित करने का प्रयत्न करेगा जहाँ उत्पादन का खर्च कम से कम हो सके।

स्थानीयकरण से लाभ

(Advantages of Localisation)

उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से जनता और उत्पादकों को अनेक लाभ होते हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) जब कोई उद्योग-धंधा किसी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाता है तो उसके लिए उस स्थान का नाम दूर-दूर तक फैल जाता है। वहाँ की बनी हुई चीज की धाक मंडी में जम जाती है। मशहूर हो जाने के कारण दूर-दूर के खरीदार उसे बिना किसी हिचक के खूब खरीदते हैं और उस वस्तु के दाम भी अच्छे मिलते हैं। इसमें उत्पादकों और व्यापारियों को बहुत लाभ होता है। उदाहरण के लिए काश्मीरी दुशाले, अलीगढ़ के ताले, मेरठ की कैंचियां स्विट्जरलैंड की बनी हुई घड़िया आदि बहुत प्रसिद्ध है। लोगों को उनके गुणों में विश्वास है और इस कारण ये खूब बिकती हैं।

(२) स्थानीयकरण से श्रम के विशिष्टीकरण में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। एक ही व्यवसाय में लगे रहने के कारण उसके विषय में मजदूरों को विशेष जानकारी हो जाती है। वे उस उद्योग में परम्परागत कुशलता पाते आते हैं। इस कारण वे इस काम में विशेषज्ञ हो जाते हैं। उनकी कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। साथ ही उनके बच्चों को उस व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करना बहुत सरल और सुविधाजनक हो जाता है। एक तरह से उस उद्योग की विशेषता उस स्थान के वातावरण में भर

जाती है और बच्चे उसे अपने आप सीख लेते हैं। इस कारण काम सीखने के समय और खर्च में बहुत बचत होती है।

(३) वह स्थान एक विशेष प्रकार के श्रम का केन्द्र व बाजार बन जाता है। उस प्रकार के श्रमिक वहा पर अपने आप पहुचते रहते हैं। इससे श्रमिको और मिल मालिको दोनो को बहुत सुविधा होती है। श्रमिको को आसानी से काम मिल जाता है और मिल मालिको को उस काम से सम्बन्ध रखने वाले श्रमिको को ढूढने के लिए मुसीबत नही उठानी पडती।

(४) स्थानीयकरण से कारखानो के मालिको प्रबन्धको तथा वैज्ञानिको में परस्पर मिलने और विचार विनिमय करने का काफी मौका मिलता है। नई नई उत्पादन प्रणालियो और मशीनो आदि के सम्बन्ध में उन्नति करने की बहुत सम्भावना रहती है। इस प्रकार जो उन्नति आविष्कार व सुधार एक कारखाने में होता है उसकी जानकारी आसानी से दूसरो को भी हो जाती है। अस्तु उन्नति का प्रभाव केवल एक या दो कारखानो तक ही सीमित नही रहता बल्कि सब कारखानो को उससे लाभ होता है।

(५) बहुत-से एक ही प्रकार के कारखानो के एक स्थान पर स्थापित हो जाने से अनेक अन्य पूरक और सहायक उद्योग धधे चल पडते हैं। ये प्रधान केन्द्रीय उद्योग की विभिन्न प्रकार से सहायता करते हैं। ये उसके लिए कच्चे माल मशीन आदि की व्यवस्था करते हैं और यातायात, बैकिंग तथा इस प्रकार की अन्य आवश्यक सुविधाए प्रदान करते हैं।

(६) उद्योग के स्थानीयकरण से पूजी मिलने में बडी सुविधा होती है। बैक और पूजी देने वाली अन्य संस्थाए उन स्थानो और उद्योगो पर विशेष रूप से अपनी दृष्टि रखती हैं। वहा की स्थिति से पूर्ण परिचित होने से वे पूजी लगाने के लिए अधिक आसानी से तैयार रहती हैं। अस्तु, उस उद्योग में लगे हुए अथवा लगने वाले लोगो को पूजी आसानी से मिल सकती है।

(७) किसी उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से उसके अवशिष्ट पदार्थों अथवा छीज को लाभप्रद ढंग से उपयोग में लाया जा सकता है। यदि उस वस्तु के कारखाने अलग-अलग क्षेत्रों में हों तो सम्भव है कि प्रत्येक कारखाने का अवशिष्ट पदार्थ इतना कम हो कि उसे काम में लाने के लिए एक स्वतन्त्र कारखाना खोलना लाभप्रद न हो सके। यदि अवशिष्ट पदार्थ की मात्रा काफी है, तो उसे काम में लाने के लिए उपाय सोचे जा सकते हैं। उसके लिए एक अलग कारखाना खोला जा सकता है। इससे सबको लाभ होगा और व्यर्थ का नुकसान बचाया जा सकता है।

स्थानीयकरण से हानियाँ
(Disadvantages of Localisation)

उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण से कुछ हानियाँ भी होती हैं। जब किसी उद्योग-धंधे में एक विशेष प्रकार के ही श्रम की आवश्यकता होती है, तो उससे बड़ी असुविधा और हानि होती है। क्योंकि कुछ लोग बेकार रह जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि वह व्यवसाय ऐसा है जिसमें काम करने के लिए अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है, तो उस स्थान के कमजोर मजदूरों को काम न मिल सकेगा। वे बेकार रहेंगे। इसलिए चाहे काम पर लगे हुए मजदूरों की मजदूरी अधिक हो, फिर भी एक मजदूर के परिवार की औसत आय कम ही होगी। उद्योगपतियों को अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी, फिर भी श्रमिकों को प्रति कुटुम्ब के विचार से औसत रूप से कम आमदनी होगी। इससे सभी को हानि होगी। इस दोष को दूर करने का उपाय यह है कि वहाँ पर सहायक तथा पूरक उद्योग-धंधों की स्थापना की जाय जिसमें दूसरे प्रकार के श्रमिकों की भी आवश्यकता पड़ती हो।

दूसरी मुख्य हानि यह है कि किसी भी स्थान की आर्थिक समृद्धि का एक ही धन्धे पर आश्रित होना बहुत ही असंतोषजनक और खतरे की बात है। यदि किसी कारण से, माँग के कम हो जाने से या कच्चा माल

ठीक समय पर न मिलने से अथवा अन्य किसी कारण से उस धन्धे पर कोई आपत्ति आ जाय तो समस्त क्षेत्र मे आर्थिक सकट छा जाता है। मजदूर बेकार हो जाते है, व्यापार मन्दा पड जाता है और फलस्वरूप उस स्थान मे रहने वालो को अनेक सकटो का सामना करना पडता है। अत स्थानीयकरण से वहा के लोगो मे बेकारी बढने और आर्थिक मन्दी तथा हलचल का बडा भय रहता है। इस आपत्ति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि उस स्थान पर दूसरे धन्धे भी हो जिसमे आर्थिक सकट के समय कुछ सहायता मिल सके।

विकेन्द्रीकरण

(De-localisation)

आजकल कई कारणो से विकेन्द्रीकरण जोर पकड रहा है। स्थानीयकरण के जगहो पर जन-सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इसमे जमीन की कीमते ऊपर चढती चली जाती है और रहन-सहन का खर्चा बहुत बढ जाता है। लोगो के रहने के लिए मकान और कारखानो के लिए खाली जमीन का मिलना कठिन हो जाता है। इन सब कारणो से रहन-सहन का खर्चा और उत्पादन-व्यय बहुत बढ जाता है। साथ ही, आबादी मे अत्यधिक वृद्धि होने के कारण अनेक सामाजिक और नैतिक बुराइया वहा तेजी से फैलने लगती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रित उद्योग राष्ट्र के शत्रुओ द्वारा बम-वर्षा का सरल लक्ष्य बन सकते है और परिणामस्वरूप सारे राष्ट्र का जीवन कुछ ही क्षण मे अस्त-व्यस्त हो सकता है। अस्तु, स्थानीयकरण से सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और देश की सुरक्षा-सम्बन्धी अनेक कठिनाइया और समस्याए उत्पन्न होती है। इनसे बचने के लिए ससार के सभी बडे-बडे देश अब विकेन्द्रीकरण की ओर यथेष्ठ ध्यान दे रहे है।

बिजली और यातायात के साधनो मे आशातीत उन्नति होने से इस ओर काफी सहायता मिल रही है। बिजली अन्य चालक-शक्तियो की अपेक्षा

बहुत सस्ती पड़ती है और इसे दूर-दूर तक आसानी से ले जाया जा सकता है। साथ ही यातायात के साधनो मे उन्नति होने के कारण अब माल को ले-आने ले-जाने म कोई असुविधा नही होती और न अब यह काम बहुत महगा ही पडता है। अस्तु, अब किसी खास बाजार, चालक-शक्ति व कच्चे माल के स्थान आदि के पास कारखानो का स्थापित होना उतना जरूरी नहीं रह गया है। कारखानो के विकेन्द्रीकरण से उपर्युक्त कठिनाइयो से बचने के अलावा अनेक लाभ प्राप्त हो सकते है। इसके द्वारा देश के विभिन्न भागो में जन-सख्या और उद्योग-धन्धो को समुचित ढग से बाट कर देहाती और शहरी क्षेत्रो के भेद व अन्तर को मिटाया जा सकता है। इसके द्वारा स्थानीय साधनो को वही पर ठीक प्रकार से उपयोग मे लाकर विभिन्न भागो के सतुलित और स्वास्थ्यप्रद विकास को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। इन तमाम बातो के कारण विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अब जोर पकडती जा रही है।

QUESTIONS

1. Explain the meaning of localisation of industries What causes give rise to localisation ?
2. Explain fully the advantages and disadvantages of localisation of industries ?
3. What are the forces which are encouraging de-localisation these days ?

अध्याय २६

उत्पादन की मात्रा

(Scale of Production)

छोटे और बडे दोनो पैमानो पर उत्पत्ति की जा सकती है। जब किसी एक वस्तु का उत्पादन एक समय मे, एक उत्पादन इकाई में अधिक मात्रा मे होता है तो उसे बडे पैमाने की उत्पत्ति कहते है। इसके विपरीत जब थोडे से श्रम और पूजी से एक उत्पादन इकाई मे कोई वस्तु कम मात्रा मे तैयार की जाती है, तो उसे छोटे पैमाने की उत्पत्ति कहते है। कपडे और चीनी की बडी-बडी मिले, लोहे और इस्पात के कारखाने रेलवे आदि बडे पैमाने की उत्पत्ति के उदाहरण है। छोटे ढग के उत्पादन के उदाहरण गाव के जुलाहो, कुम्हारो, सुनारो आदि के काम तथा बैलगाडी आदि है। कुछ व्यवसायो मे साधारणतया उत्पत्ति बडे पैमाने पर की जाती है और कुछ मे छोटे पैमाने पर। कभी-कभी एक ही व्यवसाय मे बडे और छोटे दोनो ढग के उत्पादन साथ-साथ चलते दिखाई पडते है।

आजकल बडे पैमाने की उत्पत्ति बहुत जोर पकड रही है। सभी प्रगतिशील देशो में लोग बडे पैमाने की उत्पत्ति-पद्धति को अपनाते जा रहे है। आधुनिक आर्थिक जीवन की यह एक प्रमुख विशेषता बन गई है। किन्तु इसका यह आशय नही कि छोटे पैमाने की उत्पत्ति-प्रणाली खतम हो गई है। कुछ क्षेत्र ऐसे है जहा से छोटी मात्रा में उत्पत्ति करने वाले उत्पादको को हटाया नही जा सकता। जिन उद्योग-धन्धो में उत्पादक के व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता पडती है या जिनमें व्यक्तिगत रुचिया और फैशनो के अनुसार काम करना पडता है, उनमें बडी मात्रा की उत्पत्ति सफल नही

हो सकती । वास्तव में दोनों प्रकार के उत्पादनों के अपने कुछ विशेष लाभ हैं जिनके कारण दोनों आज तक चले हुए हैं। हां, यह बात अवश्य है कि वर्तमान समय में बाजार, विस्तृत श्रम-विभाजन मशीन के उपयोग आदि से बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिल रहा है। संक्षेप में, अब हम बड़ी और छोटी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ-हानि पर विचार करेंगे। इस अध्ययन से हमें यह भली-भांति मालूम हो जायगा कि क्यों आजकल बड़ी मात्रा की उत्पत्ति जोर पकड़ रही है और साथ ही यह भी कि क्यों और कैसे छोटी मात्रा की उत्पत्ति आज भी चल रही है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ
(Advantages of Large Scale Production)

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के बहुत से लाभ होते हैं। इससे उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत बचत होती है जिससे लागत-खर्च कम हो जाता है और इस कारण माल तैयार करने वालों को अधिक लाभ मिलता है। उपभोक्ताओं को अधिक मात्रा में और कम दामों में अनेक प्रकार की वस्तुएं प्राप्त होती हैं। साथ ही श्रमिकों को काम करने में तरह-तरह की सुविधाएं मिलती हैं और अधिक मजदूरी भी। इन सब कारणों से बड़ी मात्रा की उत्पत्ति हर क्षेत्र में तेजी से फैलती जा रही है।

प्रो० मार्शल के अनुसार बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाले लाभों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) बाह्य बचत (external economics) और आन्तरिक बचत (internal economies)। 'बाह्य बचत' से अभिप्राय उन लाभों या बचतों से है जो किसी स्थान पर किसी उद्योग के विस्तार अथवा उन्नति के कारण होती है। जब कोई उद्योग एक खास स्थान पर व्यापक रूप से उन्नति करता है, बढ़ता और फैलता है, तो वहां पर अनेक प्रकार की बचतें और सहूलियतें पैदा हो जाती हैं जिनसे उस उद्योग में लगे हुए सभी कारखाने फायदा उठा सकते हैं। जैसे उस उद्योग से सम्बन्ध रखने

वाले श्रम, औजार, मशीन, कच्चे माल आदि वहा आप से आप पहुचने लगते है। उस स्थान पर एक विशेष प्रकार के श्रम के लिए एक बाजार-सा बन जाता है जिससे उस व्यवसाय-सम्बन्धी श्रम के मिलने मे बडी सुविधा होती है। पूजी भी आसानी से मिल जाती है क्योकि वहा की स्थिति से भली-भाति परिचित होने से बैक आदि उस काम म पूजी लगाने के लिए आसानी से तैयार हो जाते है। अधिक मात्रा में उस उद्योग के लिए मशीने बनने से उनकी कीमते कम हो जाती है। साथ ही वहा पर अनेक सहायक और पूरक उद्योग-धन्धे स्थापित हो जाते है जो विभिन्न ढग से प्रधान उद्योग की सहायता करते है। वे उसे कच्चा माल, औजार, मशीन आदि देते है, उसके माल को ले-आने ले-जाने के लिए उचित सगठन करते है, और उसकी उप-उत्पत्तियो (by-products) को कई प्रकार से काम मे लाते है। इन सब बातो से इस उद्योग मे लगे हुए लोगो को काफी लाभ होता है। इसके अलावा वह स्थान उस व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध हो जाता है। फलस्वरूप उस व्यवसाय द्वारा तैयार हुई वस्तु की मडी बडी हो जाती है। उसके दाम अच्छे मिलते है और बेचने मे भी कठिनाई नही होती।

ये सब बाह्य बचत के उदाहरण है। स्थानीयकरण के लाभ इसी वर्ग मे आते है। ये लाभ किसी एक कारखाने या फर्म की अन्दरूनी व्यवस्था या उसके विस्तार के कारण नही, बल्कि उस पूरे उद्योग के विस्तार के कारण होते है। सभी कारखाने इन बचतो से लाभ उठाते है। उत्पादन-व्यय में इनसे काफी कमी हो जाती है।

'आन्तरिक बचत' उन बचतो को कहते है जो किसी फर्म व कारखाने को उसके विस्तार के कारण प्राप्त होती है। ये उसे बाहरी व्यवहार द्वारा नही, बल्कि अपनी आन्तरिक व्यवस्था की कुशलता, क्षमता या उत्तमता के कारण मिलती है। केवल वही इन बचतो से लाभ उठा सकती है, दूसरी फर्मे नही। जब कोई फर्म अपना काम बढाती है, अर्थात् काम बड़े पैमाने पर करती है, तो उसके लिए उच्च स्तर के श्रम-विभाजन का

सहारा लेना, विशेषज्ञों और कुशल श्रमिकों को काम पर लगाना तथा नई व कीमती मशीनों को अधिक अच्छी तरह से उपयोग में लाना सम्भव हो जाता है। इससे उसे अनेक प्रकार की बचत होती है और उत्पादन-व्यय कम हो जाता है। चूंकि यह बचत उस फर्म की अन्दरूनी बातों से, उसकी व्यवस्था में सुधार या उन्नति से होती है, इसलिए इसे 'आन्तरिक बचत' कहते हैं। बड़ी मात्रा में उत्पादन करने में जो किसी फर्म या कारखाने को आन्तरिक बचतें हो सकती है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में श्रम-विभाजन को उच्चतम सीमा तक पहुंचा कर उसके विभिन्न लाभ प्राप्त हो सकते है। श्रमिकों और प्रबन्धकों के बीच काम का उत्तम ढंग से विभाजन किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित काम लगातार करने को दिया जा सकता है जिसमें वह अपनी अधिक से अधिक कुशलता और योग्यता दिखा सकता है। इससे श्रम और योग्यता में बहुत बचत होती है और उत्पादन अधिक और उच्च कोटि का होता है।

(२) अच्छी से अच्छी और नवीनतम मशीनों का उपयोग किया जा सकता है तथा प्रत्येक विशेष कार्य के लिए एक विशेष मशीन काम में लाई जा सकती है। इसमें अनेक लाभ होते हैं। छोटी मात्रा के उत्पादकों के लिए बड़ी और कीमती मशीनों का उपयोग सम्भव नहीं होता। यह इसलिए नहीं कि उनके पास पैसा नहीं होता, बल्कि इसलिए कि मशीन से पूरा फायदा उठाने के लिए उत्पादन बड़ी मात्रा में करना पड़ता है। यदि माग सीमित होने के कारण उत्पत्ति छोटी मात्रा में करनी है, तो मशीन का उपयोग लाभप्रद न होगा।

(३) जितना ही बड़ा कारखाना होगा, उतना ही कम सामान व्यर्थ जायगा। बड़े कारखाने के अवशिष्ट पदार्थों या उप-उत्पत्तियों (by-products) को अच्छी तरह से उपयोग में लाया जा सकता है। इससे खर्च घट जाता है और लाभ में वृद्धि होती है। छोटी मात्रा की

उत्पत्ति मे अवशिष्ट पदार्थों का लाभप्रद उपयोग नही हो पाता। वे व्यर्थ जाते है।

(४) बडी मात्रा के उत्पादक कच्चा माल, मशीन, औजार आदि अधिक तादाद में खरीदते है। इस कारण उन्हे ये सब चीजे सस्ते भाव में मिल जाती हैं। यह तो साधारण-सी बात है कि जब कोई व्यक्ति किसी चीज को थोक मे खरीदता है, तो उसे वह चीज कुछ सस्ते दर से मिल जाती है। इसलिए बडे परिमाण में उत्पत्ति करने वालो को सामान खरीदने में काफी किफायत होती है। उनकी ढुलाई आदि का खर्चा भी औसतन कम पडता है। इसी प्रकार अपने तैयार माल के बेचने में उन्हे बहुत बचत होती है। रेलवे और यातायात के अन्य साधन, अधिक मात्रा में माल पाने के कारण, कम भाडे पर माल लादने को तैयार रहते है। कुछ बडे कारखाने वाले अपनी-अपनी रेलवे ट्रक भी रखते है जिस पर सामान लादकर नजदीक के स्टेशन तक माल भेजते है। इसमे सामान के लादने और उतारने मे काफी बचत होती है। साथ ही माल के बेचने के लिए वे अपनी दूकाने खोलकर दलाल का मुनाफा खुद ले सकते है।

इस सम्बन्ध में प्रचार और प्रभावदायक विज्ञापनो के लाभों को भी ध्यान मे रखना चाहिए। बडी मात्रा के उत्पादक दूर-दूर तक और खूब अच्छे ढग मे अपने माल का विज्ञापन कर सकते हैं। सामान के विज्ञापन और उसकी बिक्री के लिए वे कुशल और अनुभवी व्यक्तियो को रख सकते है। इसमें आधुनिक आर्थिक जगत मे सफलता प्राप्त करने में बडी सहायता मिलती है। छोटी मात्रा के उत्पादको के लिए यह सब सम्भव नही है।

(५) बाजार के उतार-चढाव का बडे कारखाने पर छोटे कारखाने की अपेक्षा कम प्रभाव पडता है। इसका एक कारण तो यह है कि बडे कारखाने के प्रबन्धकर्त्ता कुशल, अनुभवी और दूरदर्शी होते है। वे इस बात का काफी ठीक अनुमान लगा लेते है कि उनके माल की माग भविष्य

में कैसी होगी। उसी के आधार पर उत्पादन-कार्य चलता है जिससे आगे चलकर किसी विशेष आपत्ति का सामना करना नहीं पड़ता। वे अपने समय और शक्ति को कारखाने की छोटी-छोटी बातों में नष्ट नहीं करते। अपने आपको वे बाजार की परिस्थिति की पूर्ण जानकारी और बाजार-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए स्वतन्त्र रखते हैं। वे बराबर उन बातों की खोज में लगे रहते हैं जिनमें लागत-खर्च में कमी हो और माल की बिक्री अधिक से अधिक हो सके। दूसरा कारण यह है कि उनका माल अनेक बाजारों में बिकता है। इस कारण स्थायित्व रहता है और आर्थिक सकटों म कम पड़ना पड़ता है। अनेक बाजार होने से किसी एक बाजार की तेजी मंदी से विशेष हानि नहीं होती क्योंकि दूसरे बाजारों द्वारा लाभ उठाकर हानि पूरी की जा सकती है। छोटी मात्रा के उत्पादक के लिए यह सम्भव नहीं है क्योंकि उनका माल एक-दो मंडियों में ही जाता है। इस कारण बाजार की तेजी-मंदी का उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। साथ ही बड़े कारखाने वालों के पास काफी पूंजी होती है जिसकी सहायता से वे आर्थिक सकटों का अपेक्षाकृत आसानी से सामना कर सकते हैं।

(६) बड़े कारखाने म नये-नये प्रयोगों, सुधारों तथा आविष्कारों के लिए एक स्वतन्त्र व्यवस्था की जा सकती है। इनके लिए एक विभाग खोला जा सकता है। वैज्ञानिक अनुसंधान से बहुत लाभ होते हैं। इससे नये-नये कच्चे मालों का उपयोग सम्भव हो जाता है और उत्पादन के अच्छे से अच्छे तरीके मालूम होते रहते हैं। इन सब बातों से उत्पत्ति अधिक और अच्छी होने लगती है और उत्पादन-व्यय कम हो जाता है। वैज्ञानिक अनुसंधान पर बहुत खर्च आता है। इसलिए छोटे कारखानों के लिए यह सम्भव नहीं है। बड़े कारखानों में इसका प्रति इकाई खर्च अधिक नहीं बैठता।

(७) इसके अलावा बड़ी मात्रा के उत्पादक को यह भी लाभ होता है कि उनको, छोटे पैमाने पर काम करने वालों की अपेक्षा, कहीं

अधिक लोग जान जाते हैं। उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है। उसका माल स्वय ही उसके विज्ञापन का साधन बन जाता है। इससे उसे अनेक लाभ होते हैं। उसकी बिक्री बढ जाती है और दाम अच्छे मिलते है। पूजी की आवश्यकतानुसार आसानी से और कम ब्याज पर बैंक वगैरा मे मिल जाती है।

इस तरह हम देखते है कि बडी मात्रा के उत्पादक को उत्पादन-क्षेत्र मे, खरीद और बिक्री मे, व्यवस्था और प्रबन्ध आदि कार्यों मे तरह-तरह की बचते प्राप्त होती है। इससे उसका लाभ बढ जाता है। उपभोक्ताओ तथा समाज को भी इससे बडा लाभ होता है। उन्हे अनेक तरह की सस्ती वस्तुए आसानी से अधिक मात्रा मे मिल सकती है।

बडी मात्रा की उत्पत्ति की सीमा

(Limits to Large Scale Production)

बडी मात्रा की उत्पत्ति के इतने अधिक लाभ है कि यह सोचा जा सकता है कि काम के विस्तार की कोई सीमा नही होगी। काम फैलता ही जायगा। किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। इसका कारण यह है कि बडी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाले लाभ की भी एक सीमा होती है। जैसे-जैसे किसी फर्म या कारखाने का विस्तार फैलता जाता है, उसके सामने धीरे-धीरे बहुत-सी कठिनाइया आने लगती है और लाभ म क्रमागत ह्रास होने लगता है। एक समय वह भी आ जाता है जबकि बचत बन्द हो जाती है और उत्पादन-व्यय बढने लगता है। इस स्थिति पर पहुच कर उत्पत्ति की मात्रा मे और अधिक वृद्धि लाने की गुजाइश नही रह जाती क्योकि बचत के स्थान पर हानि होने लगती है। अस्तु, काम का विस्तार रोक दिया जाता है। काम के विस्तार को सीमित करने वाली बातो मे से मुख्य निम्नलिखित है —

(१) सबसे मुख्य बात उचित व्यवस्था, प्रबन्ध और सम्बद्ध करने की कठिनाई है। प्रत्येक व्यवस्थापक व प्रबन्धक की योग्यता, क्षमता

और सगठन-शक्ति की एक सीमा होती है। एक सीमा तक ही वह सग-ठन और देख-रेख का काम अच्छी तरह से कर सकता है। उस सीमा के बाहर विभिन्न विभागों को सम्बद्ध और सगठित करना, कई शाखाओ को सभालना तथा काम की उचित देख-भाल करना उसके लिए कठिन हो जायगा। काम में त्रुटिया होने लगेगी। उत्पादन-व्यय बढ जायगा। लाभ कम होगा और हानि अधिक। इस प्रकार सगठन और प्रबन्ध की कठिनाइया किसी काम के विस्तार को एक सीमा के बाद रोक देती है। उस सीमा के बाद काम के फैलाने मे लाभ न होगा।

(२) बडी मात्रा की उत्पत्ति तभी तक लाभदायक होगी जब तक कि बाह्य और आन्तरिक बचतो की गुजाइश होगी। कारण, इन सबमे उत्पादन-व्यय कम होता जाता है। लेकिन एक सीमा के बाद श्रम-विभाजन, स्थानीयकरण और मशीन के उपयोग से होने वाली बचत खत्म हो जाती है। उस सीमा के आगे विस्तार करने मे लाभ नही होगा।

(३) कोई कारखाना कितना बढ या फैल सकता है, यह माग और मडी पर निर्भर है। जितनी ही बडी और स्थायी मडी होगी, उतना ही अधिक विस्तार सम्भव होगा, किन्तु मडी की सीमा के बाहर नही। यदि विस्तार इससे अधिक हुआ तो कुछ माल बिना बिका व्यर्थ पडा रहेगा और फलस्वरूप उत्पादक को हानि होगी।

(४) बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिए उत्पत्ति के साधनो की अधिक मात्रा मे आवश्यकता पडती है। जितना अधिक विस्तार किया जायगा, उतनी ही अधिक साधनो की आवश्यकता होगी। पर सम्भव है विस्तार करने के लिए उपयुक्त समय पर पूजी और अन्य साधन पर्याप्त मात्रा मे न मिल सके। फिर भला किस प्रकार अधिक विस्तार सम्भव हो सकेगा। अस्तु, किसी व्यवसाय का विस्तार इस कारण भी सीमित हो जाता है।

(५) एक-दो बाते और है जिनसे विस्तार सीमित होता है। जैसे-

जैसे हम किसी व्यवसाय को बढ़ायेंगे, उत्पत्ति के साधनों की माग बढती जायगी और इस कारण उनकी कीमतें भी। हमे अधिक मजदूरी, किराया, ब्याज आदि देना पड़ेगा। इससे उत्पादन-व्यय बढ जायेगा। साथ ही बिक्री के सगठन मे भी अधिक खर्च करना पड़ेगा। इन सब बातों से खर्च इतना बढ सकता है कि विस्तार मे कोई लाभ न हो। दूसरी ओर उत्पादन की मात्रा मे भी अधिक वृद्धि लाने से मडी मे उस चीज की कीमत गिर सकती है। इससे बडा कारखाना नुकसान मे आ सकता है क्योकि उसका ढाचा ऐसा होता है कि उसमे जल्दी से परिवर्तन लाना कठिन होता है। अस्तु, व्यवसाय के विस्तार की एक सीमा होती है। उसके आगे विस्तार करना लाभप्रद नही होता।

बडी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ

(Disadvantages of Large Scale Production)

बडी मात्रा की उत्पत्ति मे श्रम-विभाजन और मशीनो का विशेष रूप मे उपयोग किया जाता है, इसलिए इनसे होने वाली हानियो को बडी मात्रा की उत्पत्ति की हानियो की सूची मे शामिल किया जा सकता है। इनके अलावा बडी मात्रा की उत्पत्ति से कई और हानिया होती हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) बडे कारखानो का ढाचा और प्रबन्ध इस प्रकार का होता है कि उनमें आसानी से परिवर्तन नही लाया जा सकता। फैशन, आमदनी, जन-सख्या आदि मे परिवर्तन होते रहने से प्राय माग का रुख बदलता रहता है। इस कारण मडी मे नई परिस्थितिया उत्पन्न होती रहती हैं। किन्तु नई परिस्थितियो के अनुसार बदलने में बडे कारखाने को काफी कठिनाई होती है।

(२) दूसरी बात यह है कि बडी मात्रा की उत्पत्ति में मालिको और मजदूरो के बीच सीधा सम्बन्ध नही रहता। मालिको का मजदूरो के साथ निजी सम्पर्क नही होता। इससे दोनो के बीच सघर्ष बढता है, जिसके दुष्परिणाम से वर्तमान आर्थिक ससार भली-भाति परिचित है।

(३) बड़े कारखानों में अनेक विभाग होते हैं और विस्तार के साथ-साथ वे और भी बढ़ते जाते हैं। उनकी देख-रेख और सम्बद्ध करने में बड़ी कठिनाई होती है और खर्च भी बहुत पड़ता है। फिर भी सुप्रबन्ध और कुशलता बिगड़ने का भय लगा रहता है क्योंकि वेतन-भोगी मैनेजर साधारणतः उतनी कड़ी मेहनत और दिलचस्पी से काम नहीं करते। यही नहीं, निर्णय करने में भी बड़ी देरी लगती है। विभिन्न विभागों से पूछताछ, सलाह और आज्ञा लेनी पड़ती है जिसके कारण निर्णय में बहुत समय लग जाता है।

(४) एक और हानि ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से प्रायः गुटबन्दी (combination) को प्रोत्साहन मिलता है और एकाधिकार (monopoly) स्थापित हो जाता है। वैसे तो एकाधिकार से कुछ लाभ भी होते हैं, लेकिन अक्सर एकाधिकारी की नीति से आम लोगों को लाभ नहीं होता। इससे कीमत ऊंची हो जाती है और मजदूरों तथा उत्पादन के अन्य साधनों का शोषण होता है। वितरण की विषम समस्या आ खड़ी होती है और अनेक प्रकार के झगड़े उठने लगते हैं। राजनीतिक वातावरण भी भ्रष्ट हो जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से केवल लाभ ही नहीं होते वरन् अनेक हानियां भी होती हैं।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ

(Advantages of Small Scale Production)

यह ठीक है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के अनेक लाभ हैं और इस ओर लोगों का झुकाव भी बढ़ता जा रहा है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि छोटे पैमाने की उत्पत्ति का अन्त आ चुका है अथवा अब इसका कोई भविष्य नहीं है। छोटे उत्पादक आज भी अनेक क्षेत्रों में साहस और सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं। कुछ काम ऐसे हैं, जिनमें बहुत कीमती कच्चा माल लगता है, जिनमें व्यक्तिगत ध्यान और विशेष कला-कौशल

के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जिनमें प्रामाणिकता या दर्जाबन्दी (standardisation) सम्भव नही होती। इस प्रकार के उद्योगों मे छोटी मात्रा की उत्पत्ति ही ठीक और लाभप्रद होती है। फिर कुछ वस्तुए ऐसी होती है जिनकी माग न तो अधिक होती है और न स्थायी ही रहती है। उसमें बराबर उतार-चढाव होता रहता है। यहा भी छोटे फर्म ही सफलतापूर्वक उन्नति कर सकते है। इसी प्रकार जिन उद्योगों मे अलग-अलग विभाग नहीं किये जा सकते अथवा जिनमे जल्दी-जल्दी तत्काल निर्णय करने पडते है, वहा भी छोटे उत्पादक ही सफल हो सकते है। अस्तु, कुछ उद्योग ऐसे है जहा बडी मात्रा की उत्पत्ति सम्भव नही है। वहा छोटी मात्रा म ही उत्पादन लाभदायक हो सकता है।

छोटे उत्पादक को कुछ विशेष लाभ भी होते है जिनके कारण उनका अस्तित्व अभी तक बना है और आगे भी बना रहेगा। इनमें से कुछ का वर्णन यहा किया जाता है। सर्वप्रथम, छोटे उत्पादक स्वय ही प्रत्यक्ष रूप मे काम के प्रत्येक अश की खूब अच्छी तरह देख-भाल कर सकते है। उनकी दृष्टि हर तरफ होती है। इसलिए कामचोरी का कोई मौका नही आ पाता। मजदूर पूरी तरह से अपना काम करते है जिससे काम अधिक और अच्छा होता है। बडे कारखानो क खर्चीले प्रबन्ध और देख-रेख की यहा कोई आवश्यकता नही होती। इससे काफी बचत होती है।

दूसरे, छोटे परिमाण पर उत्पादन करने वालो को सब विभागो का स्वय अध्यक्ष होने और काम की अन्तिम सफलता और असफलता के लिए उत्तरदायी होने से विभिन्न विभागो का सगठन और उनके बीच सामजस्य रखने म किसी विशेष कठिनाई का सामना नही करना पडता। थोडे से ही लोगो स उसे सलाह और पूछताछ करनी पडती है, इसलिए किसी बात के निर्णय करने मे उसे देरी नही लगती।

तीसरे, छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे मालिक का मजदूरो के साथ-सीधा सम्बन्ध रहता है। इससे सघर्ष बढने नहीं पाता। जो कुछ कठिनाइया और शिकायते होती है उन्हे आसानी से शुरू मे ही दूर किया जा सकता है।

इस कारण हड़ताल और तालाबन्दी की नौबत कम आने पाती है।

चौथे, छोटे उत्पादक उपभोक्ताओं के बहुत सम्पर्क में रहते हैं। इस कारण उनकी आवश्यकताओं की जानकारी और उसके अनुसार उत्पादन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। जो कुछ माल तैयार होता है वह शीघ्र ही खप जाता है। इससे न तो अधिक माल व्यर्थ पड़ा रहता है और न ही तेजी-मंदी की समस्या जोर पकड़ती है।

पाचवें, छोटे उत्पादक को अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता होती है। वे स्वतन्त्र रूप से अपने घरों में काम करते हैं। इससे काम अधिक और अच्छा होता है। मन और शरीर पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। साथ ही छोटे उत्पादकों को कलात्मक वस्तुएं बनाने की भी सुविधाएं रहती हैं। वे अधिक समय देकर बारीकी और कला-कौशल दिखा सकते हैं। साधारणत उनकी वस्तुओं में अधिक सुन्दरता होती है।

छोटे पैमाने के उत्पादकों को आज और कई सुविधाएं मिलने लगी हैं जिनसे उनकी जड़ और मजबूत हो गई है। समाचार-पत्र, व्यापार-सम्बन्धी साहित्य तथा अन्य साधनों से उन्हें आवश्यक बातों की जानकारी होती रहती है। तार, डाक, टेलीफून, रेल, जहाज आदि साधनों के कारण उन्हें अनेक सुविधाएं मिलती हैं जिनसे वे सफलतापूर्वक बड़े-बड़े उत्पादकों का मुकाबिला कर सकते हैं। अनुसधान और अनुभव के क्षेत्रों में वे अब उतने पीछे नहीं हैं। बिजली और छोटी-छोटी मशीनों के उपयोग से वे सस्ती वस्तुएं बना सकते हैं और सहकारी संस्थाओं में सगठित होकर क्रय-विक्रय, माल ले-आने ले-जाने तथा पूंजी के उधार लेने में वे उन सब सुविधाओं को प्राप्त कर सकते हैं जो बड़े उत्पादकों को मिल सकती हैं। वे बाह्य बचत से भी लाभ उठा सकते हैं जिसका महत्व बराबर बढ़ता जा रहा है। इन तमाम बातों और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सीमा के कारण छोटे उत्पादक अनेक उद्योगों में सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं।

QUESTIONS

1 What are internal and external economies? Explain how they arise

2 Examine the main advantages and disadvantages of large scale production

3 Discuss the principal economies of large scale production Is there no limit to the growth of the size of a firm?

4 "The advantages of large scale production are so great that it should drive out small scale production in all branches of production But that is not so" Explain

5 Bring out the main advantages of small scale production

अध्याय २३

उत्पत्ति के नियम

(Laws of Returns)

इस अध्याय में हम उत्पत्ति के नियमों का विवेचन करेंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उत्पत्ति के लिए कई साधनों की आवश्यकता पडती है। व्यवस्थापक आवश्यक साधनों को मिलाकर उत्पादन-कार्य चलाता है। साधनों की मात्रा बढाने से कुल उत्पत्ति में वृद्धि होगी किन्तु यह निश्चित नही है कि उत्पत्ति किस दर या अनुपात में बढेगी। यदि उत्पत्ति के साधनों को १० प्रतिशत से बढाया गया है, तो हो सकता है कि उत्पत्ति १० प्रतिशत से बढ या उससे कम या अधिक। इसी के आधार पर उत्पत्ति के निम्नलिखित तीन नियम स्थापित किये गये हैं —(१) क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns), (२) क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of diminishing Returns) और (३) क्रमागत उत्पत्ति-स्थिर व समता नियम (Law of constant Returns)।

(क्रमागत वृद्धि नियम) यह बतलाता है कि यदि साधनों की मात्रा बढा दी जाये तो उत्पादन उस अनुपात से अधिक बढेगा। (क्रमागत ह्रास नियम) में यह बोध होता है कि उत्पत्ति, साधनों म वृद्धि के अनुपात से, कम बढती है। और क्रमागत उत्पत्ति स्थिर व समता नियम यह बतलाता है कि उत्पादन उसी अनुपात से बढता है जिस अनुपात से साधनों की मात्रा बढाई जाती है। अस्तु, यह जानने के लिए कि किसी व्यवसाय में कब, कौन-सा नियम काम कर रहा है, हमें साधनों की वृद्धि की दर की

तुलना उत्पत्ति की वृद्धि की दर से करनी होगी। यदि जिस अनुपात से उत्पत्ति बढ़ रही है, वह उस अनुपात से अधिक है जिसमें साधनो को बढ़ाया गया है तो हम कहेंगे कि उस समय उस व्यवसाय मे क्रमागत वृद्धि नियम लागू है। यदि उत्पत्ति की वृद्धि का अनुपात साधनो की वृद्धि के अनुपात के बराबर है, तो उत्पत्ति स्थिर नियम लागू समझा जायगा। और यदि साधनो की वृद्धि के अनुपात से उत्पत्ति की वृद्धि का अनुपात कम है, तो क्रमागत ह्रास नियम लागू समझा जायगा।

इस सम्बन्ध म यह ध्यान रखना जरूरी है कि साधनो की वृद्धि को मूल्य मे मापा जाता है और उत्पत्ति की मात्रा की माप उत्पन्न होने वाली वस्तु के रूप में की जाती है। इन नियमो का सम्बन्ध उत्पत्ति की मात्रा से है, उत्पन्न वस्तु के मूल्य से नही। साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह जरूरी नही है कि जिस सीमा से क्रमागत-ह्रास नियम शुरू हो, वहा से उत्पादक को हानि होने लगे अथवा उस सीमा पर आकर वह उस काम में और अधिक रुपया लगाना बन्द कर देगा।

इन नियमो को अच्छी तरह स समझने के लिए यह जरूरी है कि हम साधनो के आदर्श मिलाव या मिश्रण को जान ले।

आदर्श मिश्रण
(Ideal Combination)

किसी वस्तु के उत्पादन के लिए एक निश्चित रकम दिये होने पर उत्पत्ति के आवश्यक साधनो को विभिन्न अनुपातो में मिलाया जा सकता है। अधिक श्रम को कम पूजी के साथ या अधिक पूजी को श्रम की कम मात्रा में मिलाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य साधनो को भी विभिन्न मात्राओ में मिला सकते हैं। अलग-अलग मिश्रण के फल भी भिन्न भिन्न होगे। इन सबमें से एक मिश्रण ऐसा होगा जिससे, खर्च की तुलना म, उत्पत्ति अधिकतम होगी और औसत व्यय कम से कम। इस प्रकार के मिश्रण को "आदर्श मिश्रण" कह सकते हैं। उत्पादक का हित इसी मे है कि आवश्यक साधनो को इसी आदर्श अनुपात में मिलाये, और

काम के विस्तार की हर अवस्था मे उसे बनाये रखे। यदि वह ऐसा कर सका तो उसका औसत उत्पादन-व्यय कम से कम होगा और खर्च के हिसाब से उत्पत्ति अधिक से अधिक होगी।

लेकिन साधनों को इस प्रकार से मिलाना हमेशा समव नहीं होता क्योंकि मनचाही मात्रा या इकाई में उत्पत्ति के साधन उपलब्ध नहीं होते। एक सीमा के बाद वे अविभाज्य (indivisible) होते हैं, और छोटी इकाइयों मे उनका विभाजन नहीं हो सकता। सम्भव है, आदर्श मिश्रण के लिए हमें किसी साधन की ऐसी इकाई या मात्रा की आवश्यकता हो जो उस इकाई या मात्रा मे कम हो, जिसमें वह मिल सकता हो। चूंकि अविभाज्यता के कारण उसके और छोटे भाग नहीं हो सकते, इसलिए हमें आवश्यकता से अधिक बड़ी इकाई में उसे खरीदना पड़ेगा। अन्य साधन इसके हिसाब से कम पड जायेंगे। फलस्वरूप साधनों का मिश्रण आदर्श न हो सकेगा। कुल खर्च के हिसाब से उत्पत्ति अधिकतम न होगी और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ज्यादा बैठेगा।

आगे चलकर जब हम उस व्यवसाय मे और रुपया लगाना चाहेंगे तो उसे अन्य साधनों की मात्रा बढाने मे खर्च करेंगे। अविभाज्य साधन पर कुछ भी खर्च न किया जायगा क्योंकि वह तो पहले से ही अधिक मात्रा मे है। ऐसा करने से अविभाज्य साधन का आधिक्य व फालतूपन कम हो जायगा और साथ ही अन्य साधनों की कमी भी दूर होती जायगी। इससे उत्पत्ति मे, खर्च के हिसाब से, अधिक वृद्धि होगी और औसत उत्पादन-व्यय घटने लगेगा। यह उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि साधनों का मिश्रण आदर्श न हो लेगा। जब आदर्श मिश्रण की अवस्था आ लेगी, तब उस समय उत्पत्ति की मात्रा अधिकतम होगी और औसत उत्पादन-व्यय न्यूनतम। यदि आदर्श मिश्रण को टूटने न दिया जाय, उसे बनाये रखा जाय, तो उत्पत्ति उसी अनुपात से बढ़ती रहेगी जिस अनुपात से साधनों को बढ़ाया जायगा। अर्थात् क्रमागत स्थिर नियम के अनुसार उत्पत्ति

बढ़ती रहेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधनों की पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार हो; वे हर मात्रा में मिल सकें अथवा एक दूसरे के स्थान पर पूर्णत उपयोग में लाये जा सकें। पर वास्तविक जीवन में ऐसी बातें नही दिखाई देती। प्राय कोई साधन एक सीमा तक ही उपलब्ध होता है, उसके बाद नही। और यदि मिलता भी है तो पहले से बहुत ऊचे दाम पर, फलस्वरूप आदर्श मिश्रण को स्थिर रखने में बड़ी कठिनाई होती है, वह टूट जाता है। इसके कारण उत्पत्ति की वृद्धि खर्च के अनुपात म घटने लगेगी और औसत उत्पादन-व्यय बढेगा, अर्थात् क्रमागत उत्पत्ति ह्रासनियम *काम करने लगेगा।*

सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि जितना ही हम आदर्श मिश्रण की ओर चलेंगे, उत्पत्ति में बढती हुई दर म वृद्धि होगी और औसत लागत-खर्च कम होगा अर्थात् क्रमागत वृद्धि नियम लागू होगा। इसके विपरीत जितना हम आदर्श मिश्रण से दूर हटेंगे या हटना पडेगा, उत्पत्ति मे घटती हुई दर से वृद्धि होगी और प्रति इकाई लागत खर्च बढेगा, अर्थात् *उत्पादन में क्रमागत ह्रास नियम लागू होगा। आदर्श मिश्रण को* पहुच लेने पर और उसे स्थिर रखने पर उत्पत्ति मे बराबर के अनुपात म वृद्धि होगी। प्रति इकाई लागत खर्च वैसा ही बना रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय तक उत्पत्ति मे क्रमागत समता व स्थिर नियम काम करेगा।

इन बातो को ध्यान म रखत हुए उपर्युक्त नियमो को समझने में बडी आसानी होगी। सक्षेप म, अब हम इन नियमो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे।

क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम
(Law of Diminishing Returns)

इस नियम की परिभाषा इन शब्दो में की जा सकती है: "यदि साधनो के मिश्रण मे किसी साधन की मात्रा सीमित है, वह उतनी ही रहती है *और अन्य साधनो की मात्राए बढायी जाती है, तो एक सीमा के बाद,*

उत्पत्ति घटते हुए अनुपात में बढ़ेगी और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में वृद्धि होगी।" यह नियम तब लागू होता है जबकि उत्पत्ति की वृद्धि का अनुपात साधनों की वृद्धि के अनुपात से कम होता है। जैसे यदि उत्पत्ति के साधनों को २५ प्रतिशत से बढ़ाया जाय और इसके फलस्वरूप उत्पत्ति में २५ प्रतिशत से कम वृद्धि हो, तो हम कहेंगे कि घटती उत्पत्ति का नियम लागू है। इसका यह अर्थ नहीं कि कुल उत्पत्ति घटने लगेगी। उसमें वृद्धि होगी लेकिन घटती हुई दर से। अर्थात् केवल सीमान्त उत्पत्ति में क्रमश घटी होगी।

यहा यह पूछा जा सकता है कि किन कारणों से यह नियम लागू होने लगता है? साधनों को बढ़ाने से उत्पत्ति में उसी अनुपात से वृद्धि क्यों नहीं होती? इसके कारणों को आसानी से समझा जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि उत्पत्ति के साधनों का, किन्हीं दी हुई दशाओं में एक आदर्श मिश्रण होता है। साधनों के इस प्रकार के मिश्रण या मिलाव से उत्पत्ति अधिकतम होगी और औसत लागत-खर्च कम से कम। यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि उत्पत्ति के साधनों की प्राप्ति ऐसी मात्राओं में होती रहे जिससे आदर्श मिश्रण में कोई गड़बड़ी न हो। किन्तु व्यवहार में ऐसी उपलब्धि सदैव सम्भव नहीं होती। कभी-कभी किसी साधन की मात्रा बिलकुल सीमित हो जाती है। उसकी शक्ति खत्म हो जाने पर भी उसकी और मात्रा नहीं मिल पाती और यदि मिलती भी है तो उसके लिए पहले की अपेक्षा बहुत अधिक दाम देने पड़ते है। उसके स्थान पर किसी अन्य साधन का भी उपयोग सम्भव नहीं होता। इस कारण आदर्श मिश्रण चल नहीं पाता। वह टूट जाता है। उसके टूटने से उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने लगता है। कभी-कभी यह भी होता है कि कोई विशेष साधन उस परिमाण में मिल ही नहीं पाता जिस परिमाण में उस साधन की आवश्यकता होती है। यह इसलिए कि प्रत्येक साधन का एक निम्नतम परिमाण होता है। इससे कम परिमाण में उसे खरीदा नहीं जा सकता। अस्तु, यदि हमें उस साधन की जितनी आवश्यकता है, वह

उसकी अविभाज्य इकाई से कम है, तो हमें एक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। या तो हम उस साधन को न खरीदें या आवश्यकता से अधिक मात्रा में उसे खरीदें। दोनों ही दशाओं में आदर्श मिलाप टूट जायगा जिसके फलस्वरूप औसत खर्च बढ़ने लगेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनों के आदर्श मिश्रण के टूटने से उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने लगता है। अस्तु, आदर्श मिश्रण के न रहने या टूटने के मुख्य कारण हैं (साधनों की लोचरहित पूर्ति) साधनों की परिमितता, साधनों की शक्तियों की समाप्ति, साधनों की अविभाज्यता तथा साधनों में परस्पर प्रतिस्थापना की कमी। इन्हीं के कारण क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है।

कृषि और उत्पत्ति ह्रास नियम

(Agriculture and Law of Diminishing Returns)

कृषि के सम्बन्ध में यह नियम विशेष महत्त्व रखता है और इसकी सहायता से इस नियम को समझने में भी सुविधा होती है। प्रत्येक किसान यह जानता है कि भूमि के किसी टुकड़े से, चाहे वह कितना ही उपजाऊ क्यों न हो, मनमानी उपज पैदा करना असम्भव है। किसी खेत को जितना ही अधिक जोता जायगा, उतनी ही अधिक उसकी उपज में वृद्धि नहीं होती रहेगी। शुरू में यह सम्भव है कि जो श्रम और पूंजी की मात्रा उसके जोतने में लगाई जाती है, उसको दुगुना करने पर उस खेत की उपज भी दुगुनी या उससे भी अधिक हो जाय। परन्तु बराबर ऐसा नहीं होता रहेगा। यदि सदा ऐसा होता रहे तो एक एकड़ भूमि में ही हम आसानी से देश या संसार भर के लिए अन्न पैदा कर लें। जोतने-बोने की एक सीमा के पश्चात् एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि किसी खेत में श्रम और पूंजी की मात्रा बढ़ाने से उत्पत्ति में क्रमशः कम वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए यदि किसी खेत में श्रम और पूंजी की दूसरी इकाई से ३५ मन गेहूं की उपज होती है, तो तीसरी इकाई से उपज ३५ मन से कम होगी, चौथी इकाई से उपज और भी कम होगी। इस प्रकार प्रत्येक इकाई से जो

उत्पत्ति होगी वह कम होती जायगी। कुल उपज में वृद्धि तो होगी किन्तु क्रमशः घटती हुई दर से। यही कृषि के सम्बन्ध में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास का नियम है। प्रो० मार्शल ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है "खेतिहर भूमि में लगी हुई पूंजी और श्रम की मात्रा बढ़ाने से सामान्य रूप से उपज की मात्रा अनुपात में कम बढ़ती है बशर्ते कि उस बीच में कृषि-कला में कोई उन्नति न हो।"*

इस नियम को एक उदाहरण लेकर इस प्रकार समझाया जा सकता है। मान लो एक किसान के पास ५ बीघा जमीन है और वह उस पर श्रम और पूंजी की इकाइयों को बढ़ाता है। नीचे दी हुई तालिका में प्रत्येक बार की कुल उपज दिखाई गई है। तीसरे खाने में एक अधिक व अतिरिक्त इकाई से उपज में जो वृद्धि होती है, वह दिखाई गई है, अर्थात् सीमान्त उपज दिखाई गयी है।

श्रम और पूंजी की इकाईयां	कुल उपज	सीमान्त उपज
१	४० मन	४०
२	९० ,,	५०
३	१५० ,,	६०
४	२०५ ,,	५५
५	२५० ,,	४५
६	२८० ,,	३०

इस तालिका में यह साफ जाहिर है कि कुछ समय तक उपज अनुपात से अधिक बढ़ती है। दूसरी इकाई से उत्पत्ति पहली इकाई से अधिक

*"An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes, in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised, unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture".

है। तीसरी इकाई से उत्पत्ति और भी अधिक है। तीन इकाइयों तक सीमान्त उपज बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि उस समय तक भूमि की शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाया है। खेत को पर्याप्त मात्रा में जोता-बोया नहीं गया है। दूसरे शब्दों में, उत्पत्ति के साधनों का आदर्श मिश्रण नहीं हो पाया है। इस अवस्था को पहुँच लेने पर, तीसरी इकाई के बाद सीमान्त उपज क्रमशः कम होने लगती है, और क्रमागत ह्रास नियम का लागू होना शुरू हो जाता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह नियम उपज के मूल्य से सम्बन्ध नहीं रखता। इसका सम्बन्ध केवल उपज की मात्रा से है। दूसरे, यह नियम यह नहीं कहता कि उत्पत्ति घटती है। उत्पत्ति तो बढ़ती है, किन्तु वह घटती हुई दर से बढ़ती है।

नियम की परिमितताये
(Limitations of the Law)

इस नियम की कुछ शर्तें है जिनके पूरा होने पर ही यह लागू हो सकता है, अन्यथा नहीं। पहली बात तो यह कि खेत पूरी तरह से जोत लिया गया है और कृषि कार्य अच्छे से अच्छे तरीके से होता है। अर्थात् उसमें आवश्यक श्रम और पूंजी की मात्रा लगाई जा चुकी है। यदि भूमि में कम श्रम और पूंजी का उपयोग किया गया है तो इन साधनों के बढ़ाने से उत्पत्ति में क्रमागत वृद्धि होगी, ह्रास नहीं, क्योंकि श्रम और पूंजी की मात्रा बढ़ाने से भूमि की उत्पादन-शक्ति का और अधिक उपयोग होने लगेगा। इसलिए हम यह मान लेना होगा कि भूमि खूब अच्छी तरह से जोती जा चुकी है। दूसरी बात यह है कि कृषि-सम्बन्धी ज्ञान और तरीकों में कोई परिवर्तन न हो। यदि कृषि के तरीकों में कोई परिवर्तन होता है अथवा वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा नये साधन उपयोग में लाये जाने लगते हैं, तो क्रमागत ह्रास नियम लागू न होगा। उसकी क्रिया रुक जायगी। इसलिए यह मान लेना जरूरी है कि कृषि-सम्बन्धी ज्ञान और तरीके वही रहते हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास के कारणों को समझ लेने पर यह बताना कठिन नहीं है कि यह नियम खेती के सम्बन्ध में कैसे और क्यों लागू होता है। यह पहले बताया जा चुका है कि अगर कोई साधन ज्यों का त्यों रहे और अन्य साधनों में वृद्धि की जाय तो कुछ समय पश्चात् क्रमागत-ह्रास नियम काम करने लगेगा। खेती में भूमि की मात्रा निश्चित मान ली जाती है। इसलिए जब इसको उत्पत्ति के अन्य साधनों के साथ मिलाया जाता है, जिनकी मात्रा में क्रमशः वृद्धि होती रहती है, तो अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, कुछ समय पश्चात् क्रमागत-ह्रास का नियम लागू होने लगता है। यदि भूमि के अतिरिक्त और किसी दूसरे साधन का परिमाण एक-सा रक्खा जाय और बाकी साधनों को बढ़ाया जाय, तो भी यही परिणाम होगा। एक मशीन का उदाहरण ले लो। यदि उसके चलाने के लिए श्रम की मात्रा में वृद्धि करते जाय या उसमें कोयले की मात्रा को बढ़ाते रहें, तो उसी अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि न होगी। अत्यधिक कोयला या श्रम-लगाने से मशीन की कार्य-क्षमता गिर जायगी। इसी भांति यदि श्रम का परिमाण वही रहे और भूमि तथा पूंजी की मात्रा में वृद्धि की जाय, तो भी एक सीमा के बाद क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम काम करने लगेगा। अस्तु, उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के साथ क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है।

संक्षेप में, क्रमागत-ह्रास नियम उत्पत्ति के किसी आवश्यक साधन में कमी होने के कारण लागू होता है। यह एक सार्वभौमिक नियम है। प्रत्येक उत्पादन-कार्य में यह नियम लागू होता है, चाहे उस कार्य का सम्बन्ध कृषि से हो अथवा उद्योग-धंधों या यातायात से। इस नियम के लागू होने के कारण ही एक ही खेत या कारखाने से सारे संसार के पालन-पोषण के लिए आवश्यक अन्न या अन्य वस्तुएं प्राप्त नहीं की जा सकती। हां, यह बात अवश्य है कि अनेक प्रकार के उपायों द्वारा इस नियम को कुछ समय के लिए रोका जा सकता है। नये-नये आविष्कार, सुधार,

प्रतिस्थापन नियम आदि की सहायता से इस नियम की क्रिया को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। लेकिन हमेशा के लिए नहीं। यह प्रवृत्ति सदैव उपस्थित रहती है। जैसे ही अनुसन्धान और सुधार आदि के कार्य बन्द हो जाते है, यह प्रवृत्ति फिर क्रियाशील हो जाती है।

क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम
(Law of Increasing Returns)

इस नियम के अनुसार साधनो की मात्रा बढाने से, एक विशेष सीमा तक, उत्पादन उस अनुपात से अधिक बढता है। यदि किसी व्यवसाय मे एक या अधिक साधनों की मात्रा मे वृद्धि होने से उत्पत्ति समानुपात से अधिक बढ़ती है और औसत लागत क्रमश घटती है, तो हम कहेंगे कि उस व्यवसाय मे उस समय क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू है।

ऐसा इस कारण होता है कि साधनो की मात्रा बढ़ाने मे उत्पत्ति का पैमाना बढ जाता है। बडी मात्रा की उत्पत्ति से अनेक बाह्य और आन्तरिक बचतें होती है जिनसे लाभ उठाया जा सकता है। उत्पादन मे और अधिक विशिष्टीकरण लाया जा सकता है जिससे बचत में बहुत वृद्धि होती है। साथ ही सगठन मे उन्नति और सुधार की अधिक सम्भावना हो जाती है। इससे उत्पादन के साधनों की क्षमता-शक्ति और भी बढ जाती है। इन बचतों और साधनो के और अधिक अच्छे तरीके से उपयोग में लाने के फलस्वरूप उत्पादन समानुपात से अधिक बढता है और औसत लागत-खर्च घटता जाता है।

इसी बात को हम इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि साधनों का एक आदर्श मिश्रण होता है जिसमें खर्च के हिसाब से उत्पादन अधिक से अधिक होगा और औसत व्यय कम से कम। लेकिन साधनो की अविभाज्यता के कारण सम्भव है शुरू में ही आदर्श मिश्रण की प्राप्ति न हो सके। उत्पादक को एक बहुत छोटी मशीन की जरूरत हो सकती है लेकिन सम्भव है वह उसे न मिल सके क्योंकि इतनी छोटी मशीन न बनती हो। मान लो उस प्रकार की मशीन

उसके लिए आवश्यक है। ऐसी दशा में उसे उस प्रकार की बड़ी मशीन ही खरीदनी पड़ेगी। वह मशीन पूरी तरह से काम में न लाई जा सकेगी, क्योंकि अन्य साधन उसके हिसाब से कम पड़ेंगे। वह कुछ अंश तक फालतू पड़ी रहेगी। इस कारण जो कुछ खर्च हुआ है, उसके हिसाब से उत्पत्ति अधिकतम न होगी। आगे चलकर जब उस उत्पादक को उस काम में और रुपये लगाने होंगे, तो वह उन्हें अन्य साधनों पर खर्च करेगा, मशीन पर नहीं क्योंकि मशीन तो पहले से ही अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में है। अन्य साधनों के बढ़ने से मशीन की बची हुई शक्तियों का उपयोग होने लगेगा। इससे मशीन की क्षमता-शक्ति बढ़ जायगी, यद्यपि उसके ऊपर अब और खर्च नहीं किया गया है। इसका फल यह होगा कि उत्पत्ति में, खर्च के अनुपात से, अधिक वृद्धि होगी और औसत उत्पादन-व्यय घटेगा। जैसे-जैसे अन्य साधनों पर खर्च होता रहेगा, उनकी कमी दूर होती चली जायगी और मशीन का फालतूपन घटता जाएगा। एक समय वह भी आ जायगा जबकि इस प्रकार की क्रिया से साधनों का आदर्श मिश्रण आ जायगा। इस सीमा पर पहुच कर क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम का लागू होना बन्द हो जायगा।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि साधनों की अविभाज्यता, बाह्य और आन्तरिक बचत, साधनों की बची हुई शक्ति के उपयोग आदि के कारण उत्पत्ति में समानुपात से अधिक वृद्धि होती है। यह वृद्धि उस समय तक होती रहती है जब तक कि आदर्श मिश्रण की सीमा नहीं आ जाती। इस सीमा के पहुच लेने पर बढ़ती उत्पत्ति के नियम की क्रिया बन्द हो जाती है।

कारखानों में यह नियम विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि उनमें विज्ञान के प्रयोग का, श्रम-विभाजन और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र होता है। अतएव, आदर्श मिश्रण तक पहुचने की यहा बहुत सम्भावना रहती है। कृषि-कार्य में भूमि का बहुत ऊंचा स्थान होता है। लेकिन इसकी पूर्ति बहुत बेलोचदार होती है। इसकी पूर्ति प्रकृति पर निर्भर

है। इसमे कमी-बेशी लाना कठिन है। इसलिए उत्पत्ति-ह्रास नियम यहा अपेक्षाकृत अधिक और जल्दी लागू होता है। कारखानो मे भूमि का उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नही रहता। जिन साधनो की कारखानो मे विशेष रूप से आवश्यकता पडती है, उनकी पूर्ति मे अपेक्षाकृत अधिक लोच होती है। इसके अलावा कारखानो मे वैज्ञानिक तरीको का बडे पैमाने पर उपयोग हो सकता है, जिससे उत्पत्ति-ह्रास नियम की क्रिया को सफलतापूर्वक रोका जा सकता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि जिन क्षेत्रो मे प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य का प्रभाव अधिक होता है, वहा क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम अधिक समय तक लागू होता है।

किन्तु इसका यह आशय नही कि कारखानो या उद्योग-धन्धो मे क्रमागत वृद्धि नियम काम करता है और कृषि-क्षेत्र मे क्रमागत ह्रास नियम। इन दोनो के अलग-अलग क्षेत्र नही है। चाहे कोई भी उद्योग हो, जब तक आदर्श मिश्रण की अवस्था नही आती, तब तक साधनो की मात्रा बढाने से उत्पत्ति समानुपात से अधिक बढेगी। और जब वह अवस्था पार हो जाती है और आदर्श मिश्रण टूट जाता है, तो उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने लगता है। हा, यह बात अवश्य है कि कृषि की अपेक्षा कारखानो में आदर्श मिश्रण की अवस्था पहुचने के लिए कही अधिक सम्भावनाए रहती है। इसलिए क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम खेती जैसे कार्यो में जल्दी लागू होने लगता है और कारखानो मे अपेक्षाकृत देर मे लागू होता है।

क्रमागत उत्पत्ति-समता या स्थिर नियम
(Law of Constant Returns)

जब किसी वस्तु की उत्पत्ति की मात्रा उसी अनुपात मे बढती है, जिस अनुपात से उत्पत्ति के साधन बढाये जाते है अथवा लागत खर्च बढाया जाता है, तो उस समय क्रमागत उत्पत्ति-समता का नियम लागू माना जाता है। इस स्थिति मे लागत-खर्च के अनुपात में उत्पत्ति की

मात्रा बराबर रहती है, अर्थात् औसत उत्पादन-व्यय उतना ही बना रहता है।

साधनों के आदर्श-मिश्रण को बनाये रखने से क्रमागत उत्पत्ति-समता व स्थिर नियम लागू हो सकता है, अर्थात् स्थिर लागत पर उत्पत्ति हो सकती है। यह सभी सम्भव है जबकि उत्पत्ति के सभी साधनों की पूर्ति पूर्णत लोचदार हो, और अच्छी तरह से वे विभक्त हो सकते हों। लेकिन वास्तविक जीवन में न तो उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से विभाजित हो सकते हैं और न ही उनकी पूर्ति पूर्णत लोचदार होती है। साथ ही वैज्ञानिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं जिनके कारण आदर्श मिश्रण को स्थिर रखना असम्भव सा हो जाता है। इस कारण वास्तविक जीवन में यह नियम बहुत कम लागू हो पाता है।

QUESTIONS

1. Examine and illustrate the law of diminishing returns What are its limitations?
2. State and explain the law of diminishing returns Does it apply to all productive activities or only to agriculture?
3. Why is it not possible to raise food for the whole world on one acre of land? Explain clearly
4. What are the causes of diminishing returns in production?
5. "While the part which Nature plays in production conforms to the Law of Diminishing Returns, the part which man plays conforms to the Law of Increasing Returns" Comment
6. State the Law of Increasing Returns? Why is it specially applicable to manufacturing industries?
7. What is meant by indivisibility of a factor? How does it lead to increasing and decreasing returns?

(EXCHANGE)

अध्याय २८

विनिमय

(Exchange)

विनिमय के अर्थ और उसकी आवश्यकता के विषय में पहले लिखा जा चुका है। विनिमय और अर्थशास्त्र के अन्य विभागों के परस्पर सम्बन्ध का भी विवेचन किया जा चुका है। अब विनिमय-विभाग में हम यह अध्ययन करेंगे कि कैसे और क्यों वस्तुओं का विनिमय होता है? कैसे किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है? किन सस्थाओं द्वारा विनिमय-क्षेत्र में विशेष सहायता मिलती है, आदि?

प्राचीन निवासी पूर्णरूप से स्वावलम्बी था। अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुए वह स्वय तैयार करता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह किसी दूसरे पर निर्भर न था। उत्पत्ति और उपभोग के बीच सीधा सम्बन्ध था। अतएव उस समय विनिमय की कोई आवश्यकता नही थी। पर अब उस समय जैसी बाते नही रही। आधुनिक उत्पत्ति का सारा ढाचा ही बदल गया है। आजकल श्रम-विभाजन और मशीनो की सहायता से बडे परिमाण पर उत्पादन होता है। अब हम अपनी आवश्यकता की हर एक वस्तु स्वय उत्पन्न नही करते, और न ऐसा करना अब सम्भव ही है। कारण, हमारी आवश्यकताए पहले की अपेक्षा बहुत बढ गई हैं। वर्तमान उत्पत्ति व्यक्तिगत उपभोग के लिए नही, बल्कि मडी में क्रय-विक्रय के लिए की जाती है। यह विशिष्टीकरण का युग है। जो जिस वस्तु के बनाने में निपुण होता है, वह वही वस्तु तैयार करता है, चाहे उसे प्रत्यक्ष रूप से उस वस्तु की आवश्यकता हो या नही। बडे-बडे

कारखानो मे जो कुछ माल तैयार होता है, वह मडी मे क्रय-विक्रय के लिए भेज दिया जाता है। ऐसी दशा मे जब तक उत्पन्न की हुई वस्तुओं को उपभोक्ता तक न पहुचाया जायगा, तब तक उत्पत्ति अधूरी ही रहेगी और उस समय तक उपभोग सम्भव न होगा। फिर भला किस प्रकार भिन्न-भिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति हो सकेगी? इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि उत्पत्ति और उपभोग को मिलाया जाए। यह कार्य विनिमय द्वारा ही सम्भव है। उत्पादित वस्तुओं को उपभोक्ता तक पहुचाने के लिए विनिमय की क्रिया आवश्यक है। विनिमय से उत्पत्ति की पूर्ति होती है, और उपभोग सम्भव हो जाता है। अस्तु, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे विनिमय का विशेष स्थान है। मानव-जाति की उन्नति मे विनिमय काफी हाथ बटाता है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र मे विनिमय-सम्बन्धी विषय का यथेष्ठ रूप से अध्ययन किया जाता है।

कुछ लोग यह सोचते है कि विनियम से एक पक्ष को लाभ होता है और दूसरे पक्ष को हानि। किन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल है। विनिमय पूर्णतया स्वेच्छानुसार होने से जब तक दोनो पक्ष वालो को लाभ न दिखाई देगा, तब तक विनिमय न किया जायगा। विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि दोनो पक्ष के लोग विनिमय करने के लिए इच्छुक हो। यह इच्छा उनमे तभी उत्पन्न होगी जब उन्हे यह विश्वास होगा कि विनिमय की क्रिया से उन्हे लाभ होगा। कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तु के बदले मे दूसरी वस्तु लेने को, जिसकी उपयोगिता कम है, कभी भी तैयार न होगा। उदाहरण के लिए मान लो कि मोहन के पास एक चाकू है और सोहन के पास एक टार्च और दोनो विनिमय करना चाहते है। यह तभी सम्भव होगा जबकि मोहन के लिए टार्च को उपयोगिता चाकू से अधिक हो और सोहन के लिए चाकू की उपयोगिता टार्च से अधिक हो। दोनो को यह विश्वास होना चाहिए कि विनिमय द्वारा प्राप्त उपयोगिता उससे अधिक होगी जो देनी पड़ेगी। अत जब दोनो पक्ष वालो को विनिमय से लाभ दिखाई देगा, तभी क्रय-विक्रय होगा, अन्यथा नही।

विनिमय के भेद
(Kinds of Exchange)

विनिमय के दो भेद होते है (१) अदला-बदला या वस्तु-विनिमय (barter), और (२) क्रय-विक्रय (purchase and sale)। जब एक वस्तु का विनिमय किसी दूसरी वस्तु से प्रत्यक्ष रूप में किया जाता है, तो इसे "अदला-बदला" अथवा वस्तु-विनिमय कहते है। जब द्रव्य व मुद्रा के बदले में कोई वस्तु ली या दी जाती है तो उस विनिमय को "क्रय-विक्रय" कहते है। आजकल अधिकतर क्रय-विक्रय के रूप में ही विनिमय होता है।

(१) अदला-बदला—यदि प्रत्यक्ष रूप में एक वस्तु के बदले मे दूसरी वस्तु दी जाती है, तो इस प्रकार के विनिमय को वस्तु-विनिमय व 'अदला-बदला' कहते हैं। जैसे यदि एक मज के बदले मे एक कुर्सी दी जाती है, तो इस विनिमय को अदला-बदला कहेगे। इसी तरह यदि दो व्यक्ति अपनी सेवाओ को सीधे तौर से विनिमय करते है, तो उसे भी अदला-बदला कहेगे। वस्तुओ को प्रत्यक्ष रूप से अदल-बदल करने में बहुत-सी दिक्कते होती है। आवश्यकताओ और विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की सख्या म वृद्धि होने से ये दिक्कते और भी बढ जाती है, यहा तक कि एक सीमा के बाद इस प्रकार से विनिमय का कार्य कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। आज यदि कोई मनुष्य 'अदला-बदला' की सहायता से अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहे तो वह बुरी तरह से असफल रहेगा। आधुनिक आर्थिक क्षेत्र इतना विस्तृत और जटिल बन गया है कि वस्तु-विनिमय से काम नही चल सकता। वस्तु-विनिमय व 'अदला-बदला' की मुख्य कठिनाइया निम्नलिखित है —

(क) इस तरह के विनिमय के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जो वस्तु एक व्यक्ति चाहता है, वह दूसरे के पास हो और जो वस्तु दूसरा व्यक्ति चाहता है, वह पहले के पास हो। जब तक आवश्यकताओ का इस तरह मिलान न होगा, तब तक वस्तुओ का 'अदला-बदला' न हो

सकेगा। इस तरह का मिलान बहुत कठिनाई से हो पाता है। मान लो मोहन के पास एक गाय है और वह उसके बदले में एक घोड़ा चाहता है। अब उसे एक ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ेगी जिसके पास एक घोड़ा हो और उसे गाय की आवश्यकता भी हो। सम्भव है उसे कोई व्यक्ति मिल जाय जिसके पास घोड़ा हो, पर गाय के साथ वह विनिमय करने को तैयार न हो। ऐसी दशा में विनिमय न हो सकेगा। इससे पता चलता है कि वस्तुओं के सीधे तौर से अदला-बदला करने में कितनी कठिनाई होती है, और साथ ही कितना समय नष्ट होता है।

(ख) कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिनका विभाग और उपविभाग नहीं हो सकता, जैसे गाय, मेज, नाव, हल, गाड़ी आदि। टुकड़े करने से इनका मूल्य बहुत घट जायगा या नष्ट हो जायगा। यदि सब वस्तुओं का एक समान मूल्य हो, तो इस प्रकार के विनिमय में कोई विशेष कठिनाई न होगी। पर वास्तव में वस्तुओं का मूल्य भिन्न-भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में किस तरह भिन्न-भिन्न मूल्य वाली वस्तुओं का प्रत्यक्ष रूप से अदला-बदला हो सकता है? वस्तुओं को कई भागों में बांटकर मूल्य बराबर करना हर समय सम्भव नहीं होता। यदि हम चाहें कि गाय, हल, मकान, आदि के टुकड़े करके अन्य-अन्य लोगों को अलग-अलग भाग देकर उनसे उनकी वस्तुएं लें, तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि बांटने या तोड़ने से इनकी उपयोगिता नष्ट हो जायगी। तो फिर कैसे अदला-बदला किया जाय?

(ग) तीसरी कठिनाई जो वस्तुओं को सीधे तौर से बदलने में होती है, वह यह है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मूल्य जानने और तुलना करने के लिए कोई मापदण्ड या साधन नहीं होता। फिर किस आधार पर वस्तुओं का एक दूसरे से अदला-बदला किया जाय? माप-दण्ड न होने से यह निश्चय करने में बहुत कठिनाई पड़ती है कि वस्तुओं का किस दर से विनिमय हो। इससे फिर और दूसरी दिक्कत आ खड़ी होती है।

(२) क्रय-विक्रय--'अदला-बदला' की कठिनाइयों से बचने के लिए क्रमशः मुद्रा का प्रयोग आरम्भ हुआ। लोगों को यह अनुभव हुआ कि यदि किसी एक विशेष वस्तु को विनिमय का माध्यम बनाया जाय और उसी के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों की तुलना आदि की जाय तो विनिमय का कार्य बहुत सरल हो जायगा। अस्तु, भिन्न-भिन्न स्थान और समय पर अलग-अलग वस्तुएं इस काम के लिए चुनी गई। जो वस्तु यह काम करती है, उसे 'मुद्रा' या 'द्रव्य' कहते हैं।

मुद्रा के प्रयोग से विनिमय के दो भाग होते हैं (१) क्रय और (२) विक्रय। जब मुद्रा के बदले में वस्तुएँ दी जाती है तो उसे 'विक्रय' कहते है, और जब वस्तुओ के बदले मे मुद्रा दी जाती है तो उसे 'क्रय' कहते हैं। विनिमय के इस तरह के दो विभाग हो जाने से विनिमय के कार्यों में बहुत सुभीता हो गया है। इसके द्वारा वस्तु-विनिमय की अनेक झझटो से मनुष्य बच जाता है। आजकल विनिमय का लगभग सभी काम मुद्रा के माध्यम द्वारा ही होता है।

विनिमय का महत्त्व
(Importance of Exchange)

आधुनिक जीवन में विनिमय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन का कोई भी ऐसा अग व पहलू नही जिस पर विनिमय का प्रभाव न पडता हो। विनिमय का हमारे जीवन से इतना निकट सम्बन्ध हो गया है कि यदि विनिमय-क्रिया बन्द हो जाय, तो सभ्य जीवन की बहुत-कुछ अच्छाइया और खूबियां दूर हो जायेगी। उस दशा मे मनुष्य सभ्यता और उन्नति के पथ से बहुत नीचे गिर जायगा।

यद्यपि विनिमय स्वत अन्त व उदय नही है, फिर भी हमारी बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। विनिमय की सहायता से सम्पत्ति को सर्वोत्तम उपाय से उपयोग में लाना सम्भव हो जाता है। इससे वस्तुओं की उपयोगिता बढ जाती है जिससे प्रत्येक

प्राणी को लाभ पहुंचता है । विनिमय के न होने पर यही नहीं कि बहुत-सी वस्तुएं बेकार पड़ी रह जायेंगी बल्कि उनका उत्पादन ही नहीं होगा । बिना विनिमय के पाकिस्तान अपने जूट का, इगलैण्ड अपने कोयला का, अथवा आस्ट्रेलिया अपने ऊन का किस ढंग से उपयोग कर सकेगा । फलस्वरूप उत्पत्ति कम हो जायगी और लोगों का जीवन-स्तर गिर जायगा ।

विनिमय की सहायता से मनुष्य और प्रकृति की उत्पादक शक्तियों को यथेष्ठ रूप में उपयोग में लाना सम्भव हो जाता है जो बिना विनिमय के या तो व्यर्थ पड़ी रह जायेंगी, या उतनी अच्छी तरह से काम में न लाई जा सकेंगी । विनिमय के न होने पर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं स्वयं तैयार करनी पड़ेगी, चाहे वह उनके उत्पादन करने में कुशल हो या नहीं । फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र की विशेष शक्तियों का अच्छा उपयोग न हो सकेगा । विनिमय की उपस्थिति में उत्पादन व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार न किया जाकर योग्यतानुसार किया जाता है । प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र अपनी शक्तियों तथा कुशलताओं के अनुसार उत्पादन-कार्य में लग जाता है, और फिर विनिमय के द्वारा अन्य वस्तुओं को प्राप्त करता है । इससे उत्पादन-शक्ति और कुशलता बहुत बढ़ जाती है । उत्पादन अच्छा और अधिक परिमाण में होने लगता है । इस प्रकार विनिमय द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ होता है ।

विनिमय के कारण उत्पादन में वृद्धि और उन्नति होती है । विभिन्न प्रकार की वस्तुएं अधिक परिमाण में और सस्ती पैदा होने लगती हैं । इससे मंडी का विस्तार बढ़ जाता है और फलस्वरूप उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने लगती है । ऐसा होने के कारण श्रम-विभाजन और मशीनों के उपयोग में उन्नति होती है जिनके विभिन्न लाभों से हम भली-भांति परिचित हैं । ये वर्तमान अर्थ-व्यवस्था के विशेष अंग हैं । इनके बिना वर्तमान अर्थ-व्यवस्था टिक नहीं सकती, वह लड़खड़ाकर गिर पड़ेगी । अस्तु, विनिमय पर ही वर्तमान अर्थ-व्यवस्था अवलम्बित है । जैसे-जैसे संसार उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे विनिमय का महत्व

बढता जाता है। आजकल तो विनिमय के बिना कोई भी काम नहीं चल सकता। उत्पादन-शक्ति तथा साधनो की प्रगतिशील उत्तरोत्तर वृद्धि का एकमात्र कारण विनिमय ही है।

विनिमय के सब काम मडी में होते हैं। इस कारण अगले अध्याय में हम मडी का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

QUESTIONS

1. What is 'barter'? Examine the main difficulties of barter
2. Explain how the use of money helps in the removal of the difficulties of barter
3. Bring out fully the importance of exchange

अध्याय २९

मंडी

(Market)

आम बोलचाल में हम उस स्थान को मडी कहते हैं जहा विभिन्न प्रकार की वस्तुए बेची और खरीदी जाती है। किन्तु अर्थशास्त्र में किसी खास स्थान को मडी नही कहते। मडी का वास्तविक अर्थ यह है कि किसी वस्तु के क्रेताओ और विक्रेताओ मे प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता हो जिससे वस्तु के मूल्य में समानता की प्रवृत्ति हो। यदि एक वस्तु किसी विशेष स्थान पर बेची जाती है, तो वह स्थान उस वस्तु के लिए मडी है, यदि उसका क्रय-विक्रय वहा नही होता, तो उस स्थान को उस वस्तु की मडी न मानेगे। यद्यपि एक ही स्थान पर बहुत-सी वस्तुए बिकती है फिर भी हर एक वस्तु की अपनी-अपनी मडी होती है। जितनी वस्तुए एक स्थान पर बिकती है, उतनी ही मडिया उस स्थान मे मानी जायगी। अस्तु, आर्थिक मडी की यह एक विशेषता है कि उसका सम्बन्ध एक विशेष वस्तु के साथ होता है, स्थान के साथ नहीं।

मडी की दूसरी विशेषता यह है कि वस्तु के बेचने और खरीदने वालो मे परस्पर प्रतियोगिता हो। प्रतियोगिता आर्थिक मडी का मुख्य चिह्न है। पर प्रतियोगिता के लिए यह आवश्यक नही है कि बेचने और खरीदने वाले एक खास स्थान पर हो। वे भिन्न-भिन्न स्थानो मे रहते हुए भी रेल, डाक, तार, रेडियो आदि की सहायता से आपस मे अच्छी तरह से प्रतियोगिता कर सकते है। आवश्यकता केवल इस बात की कि दोनो पक्ष वालो मे प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता हो। यह प्रतियोगिता

तभी सम्भव है जबकि बेचने और खरीदने वालों को मंडी की परिस्थितियों का पूरा-पूरा ज्ञान हो।

प्रतियोगिता के प्रभाव में किसी वस्तु का मूल्य समस्त मंडी में एक समय में एक ही होगा। यदि किसी एक वस्तु के बेचने और खरीदने वालों म पूर्ण प्रतियोगिता है और उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता है कि जब और जहां चाहे बेचें और खरीदें, तो उस दशा में उस वस्तु का मूल्य मंडी के प्रत्येक भाग म एक ही होगा। मान लो कोई विक्रेता एक वस्तु को औरों से कम मूल्य पर बेचने को तैयार है। उस दशा में सब ग्राहक उसकी ओर खिंच आयेंगे। बाकी सब बेचने वाले उस वस्तु को न बेच सकेंगे क्योंकि उनके पास कोई भी खरीदार न आएगा। यदि वे बेचना चाहते हैं, तो उन्हें भी वही मूल्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी तरह यदि कोई ग्राहक अन्य ग्राहकों की अपेक्षा अधिक मूल्य देने को तैयार है, तो सभी विक्रेता अपने माल को उसी के हाथ बेचना चाहेंगे। अन्य ग्राहकों को वह वस्तु न मिल सकगी, जब तक कि वे भी उतना ही मूल्य देने को तैयार न हो जाय। यदि मंडी म प्रतियोगिता है, तो कोई भी खरीदार किसी वस्तु के लिए उस मूल्य स अधिक देने को तैयार न होगा जितना कि अन्य खरीदारों को देना पड़ता है। और न कोई विक्रेता उस मूल्य से कम पर अपनी वस्तु को बेचने के लिए तैयार होगा जितना कि अन्य विक्रेताओं को उस वस्तु के बदले में मिलता है। इस तरह प्रतियोगिता के प्रभाव से किसी एक वस्तु का मूल्य मंडी के भिन्न-भिन्न भागों म, यातायात के लागत खर्च को छोड़कर, एक समान होगा। एक विशेष वस्तु का किसी खास समय म एक ही मूल्य का होना आर्थिक मंडी की तीसरी मुख्य विशेषता है।

उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान म रखत हुए मंडी की परिभाषा इन शब्दों में दी जा सकती है —अर्थशास्त्र में मंडी से अभिप्राय एक विशेष वस्तु और उसके बेचने और खरीदने वालों से है जिनके परस्पर प्रति-

योगिता के प्रभाव से वस्तु के मूल्य में शीघ्रता और सुगमता से समानता की प्रवृत्ति होती है।

मंडी का वर्गीकरण
(Classification of Markets)

स्थान और समय के अनुसार मंडी के कई विभेद किये जाते हैं जो इस प्रकार है (अ) स्थान की दृष्टि से मंडी के तीन भेद होते हैं—स्थानीय मंडी, राष्ट्रीय मंडी, और अन्तर्राष्ट्रीय मंडी। यदि किसी वस्तु के खरीदने और बेचने वाले एक खास स्थान, गांव या नगर में ही पाये जाते हैं अर्थात् प्रतियोगिता एक खास स्थान तक ही सीमित है तो उस वस्तु की मंडी को स्थानीय मंडी कहेंगे। साधारणतः वजनी और शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं की मंडी स्थानीय होती है। उनकी मंडी एक विशेष स्थान तक ही सीमित रहती है। यदि किसी वस्तु के खरीदने और बेचने वाले केवल एक ही देश में ही फैले हुए हैं अर्थात् प्रतियोगिता देशव्यापी है तो उस वस्तु की मंडी को राष्ट्रीय मंडी कहेंगे। इसी तरह यदि एक वस्तु के खरीदने-बेचने वाले संसार भर में फैले हुए हैं अर्थात् प्रतियोगिता संसारव्यापी है तो वह मंडी अन्तर्राष्ट्रीय मंडी मानी जायगी। सोना, चांदी, गेहूं, कपास आदि वस्तुओं की मंडी विश्व-व्यापक है। इसके खरीदने-बेचने वाले सारे संसार में फैले हुए हैं।

(आ) समय के अनुसार मंडी के मुख्यतः दो भेद होते हैं। एक अल्प-कालीन मंडी (short period market) और दूसरी दीर्घ-कालीन मंडी (long period market)। एक दिन, एक हफ्ता या थोड़े समय तक चलने वाले बाजार से अल्प-कालीन मंडी का बोध होता है। समय कम होने के कारण पूर्ति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इसलिए अल्पकाल में मंडी का भाव अधिकतर मांग पर निर्भर रहता है। पर्याप्त समय तक चलने वाली मंडी को दीर्घ-कालीन मंडी कहते हैं। दीर्घकाल में वस्तु की पूर्ति आसानी से बढ़ाई-घटाई

जा सकती है। इसलिए वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन-व्यय के बराबर होगा।

मंडी का विस्तार
(Extent of Market)

मंडी के विस्तार से यह आशय है कि किसी वस्तु के बेचने और खरीदने वालों में संसार के कितने भाग में प्रतियोगिता होती है। यदि प्रतियोगिता का क्षेत्र बड़ा है, तो मंडी का विस्तार भी विस्तृत होगा, और यदि प्रतियोगिता का क्षेत्र सीमित है तो मंडी परिमित अथवा छोटी होगी। कुछ वस्तुओं की मंडी बहुत बड़ी होती है, जैसे सोना, चांदी, व्यापारिक साख-पत्र आदि वस्तुओं की मंडी और कुछ की छोटी, जैसे दूध, फल, सब्जी आदि चीजों की मंडी। मंडी के विस्तार का व्यापक अथवा संकुचित होना कई बातों पर निर्भर होता है। इनमें से मुख्य निम्न-लिखित हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि क्यों कुछ वस्तुओं की मंडी संसारव्यापी होती है और कुछ की मंडी छोटी व स्थानीय होती है।

(१) मंडी का क्षेत्र बहुत-कुछ वस्तु की मांग पर निर्भर करता है। सार्वदेशिक मांग वाली वस्तुओं की मंडी बहुत बड़ी होती है। जितनी अधिक किसी वस्तु की मांग होगी, उतनी ही बड़ी और विस्तृत उस वस्तु की मंडी होगी। सोना, चांदी, गेहूं आदि वस्तुओं की मंडियों का क्षेत्र संसार-व्यापक है क्योंकि सभी देशों में इन वस्तुओं की मांग होती है।

(२) किसी वस्तु की मंडी का क्षेत्र इस बात पर भी निर्भर होता है कि वह वस्तु कैसी है—शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु है, या स्थायी ? शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं को दूर-दूर के स्थानों पर नहीं भेजा जा सकता। इस कारण इन वस्तुओं की मंडियां केवल स्थानीय मंडियां ही होती हैं, जैसे दूध, फल आदि की मंडियां। इसके विपरीत जो वस्तु जितनी ही टिकाऊ होगी, उतनी ही विस्तृत उसकी मंडी होगी।

(३) बड़ी मंडी के लिए यह भी आवश्यक है कि वस्तु का मूल्य

उसके वजन की अपेक्षा अधिक हो। जिन वस्तुओ का घनत्व या वजन कम होता है और मूल्य अधिक होता है, उनकी मडिया विस्तृत होनी है, जैसे सोना, हीरा, सिल्क आदि की मडिया । यह इसलिए कि इनके भेजने व ढोने में खर्च कम लगता है और अड़चन भी कम पडती है। साधारणत ईंट-पत्थर की मडिया बडी नही होती। कारण, मूल्य के हिसाब से इनका वजन बहुत अधिक होता है, और फलस्वरूप उनकी ढुलाई का खर्च उनकी कीमत से अधिक बैठ जाता है। अस्तु, ये बहुत दूर तक नही भेजे जा सकते। अत इनका बाजार सीमित होता है।

(४) जो वस्तुए सुगमता से पहिचानी जा सकती है अथवा जिनके नमूने, नम्बर और दरजे आसानी से तैयार किये जा सकते हैं, उनकी मडियो का विस्तार अधिक होता है, जैसे चाय, गेहू, चीनी, रुई आदि। इसका कारण यह है कि खरीदार माल से दूर रहकर भी सौदा कर सकते है। यदि किसी वस्तु के सही नमूने नही बन सकते तो खरीदार को स्वय माल के स्थान पर आना पडगा। फलस्वरूप मडी का क्षेत्र सीमित हो जायगा।

(५) वस्तु की पूर्ति की प्रकृति पर भी मडी का क्षेत्र निर्भर होता है। यदि पूर्ति सीमित या अनिश्चित है, तो मडी अवश्य छोटी होगी। विस्तृत मडी के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की पूर्ति पर्याप्त और निश्चित हो। जो वस्तु जितनी ही अधिक मात्रा में तैयार की जा सकेगी, उसकी मडी उतनी ही विस्तृत होगी।

(६) किसी वस्तु की मडी का क्षेत्र इस बात पर भी निर्भर होता है कि उसके बदले मे प्रयोग हो सकने वाली वस्तुओं की सख्या कितनी है। यदि एक वस्तु के स्थान पर बहुत सी अन्य वस्तुए प्रयोग म लाई जा सकती है, तो उस वस्तु की मडी का क्षेत्र कम होगा। बम्बई मिल के कपडो की मडी कम विस्तृत है, क्योकि विदेशी मिलो से तैयार हुए सस्ते कपडे इनके साथ प्रतियोगिता करते हैं। इसी प्रकार यदि काफी का चलन न हो, तो चाय की मडी और भी विस्तृत हो सकती है।

(७) वस्तुए एक-दूसरे की प्रतियोगी ही नही होती, बल्कि पूरक भी होती है। यदि किसी वस्तु की पूरक वस्तुए उपलब्ध है, तो उसकी मडी विस्तृत होगी, अर्थात् मडी का क्षेत्र बढेगा। पैट्रोल के मिलने पर मोटर की मडी का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जायगा।

इन सबके अतिरिक्त मडी का विस्तार कई और बातो मे भी प्रभावित होता है, जैसे सरकार की आर्थिक नीति, यातायात के साधन, द्रव्य और बैकिंग-व्यवस्था, श्रम-विभाजन, देश मे शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था इत्यादि। यदि यातायात के साधन अच्छे और सस्ते है, द्रव्य और बैको की उचित व्यवस्था है, देश अथवा ससार मे शान्ति है, तो मडी विस्तृत होगी। इन बातो के न होने पर मडी का विस्तार बहुत कम होगा। सरकार अपनी आर्थिक नीति से किसी वस्तु की मडी के क्षेत्र को घटा-बढा सकती है। सरकारी सहायता और प्रोत्साहन मिलने मे मडी विस्तृत हो जाती है, और उसके अभाव मे मडी का क्षेत्र घट जाता है।

इन बातो से पता चलता है कि क्यो किसी वस्तु की मडी बडी या छोटी होती है। सोना, चादी, ससार-प्रसिद्ध कम्पनियो के हिस्से आदि वस्तुओं की मडिया ससारव्यापी है। इसका कारण यह है कि ये उपर्युक्त शर्तो को बहुत अच्छी तरह पूरा करती है। इनकी माग सब देशो मे होती है। ये बहुत टिकाऊ होती है। इनको आसानी से और कम खर्च मे दूर-दूर तक भेजा जा सकता है और साथ ही ये जल्दी पहचानी जा सकती है। इसके विपरीत दूध, फल आदि वस्तुए है जो जल्दी नष्ट हो जाने वाली होने के कारण बहुत दूर नही भेजी जा सकती। साधारण ईंट-पत्थरो का वजन उनके मूल्य के हिसाब से बहुत होता है। इसलिए इनको भी बहुत दूर तक नहीं भेजा जा सकता, क्योकि इनकी ढुलाई का खर्च इनकी कीमत से अधिक बैठ जाता है। खास किस्म, बनावट और नाप के कपडे खास-खास मनुष्यो के लिए तैयार हो सकते है, सबके लिए नही। अर्थात् इनकी माग अधिक नही हो सकती। इन सब कारणो से इस तरह की वस्तुओ को

मडी छोटी व सीमित होती है। वर्तमान समय म रख मडी के विस्तृत होने की ओर है। रेल, तार, टेलीफोन आदि से मडी का विस्तार बहुत बढ गया है।

मडी किसी देश की व्यापारिक तथा आर्थिक उन्नति की माप है। जो देश जितना ही अधिक उन्नत और प्रगतिशील होगा, उसकी मडी उतनी ही अधिक विस्तृत और सुसगठित होगी।

मूल्य निर्धारण मडी की मुख्य समस्या है। वहा विनिमय के सब काम होत है और इस बात का निर्णय होता है कि अमुक वस्तु किस मात्रा म अन्य वस्तुओ के बदल म दी जाय। अर्थात् मडी म वस्तुओ का मूल्य निर्धारित होता है और उनका क्रय विक्रय होता है। अत अगले अध्यायों म अब हम मूल्य-सम्बन्धी बातो पर विचार करगे।

QUESTIONS

1 What is meant by the term 'market' in Economics? How does it differ from its popular concept?

2 Examine fully the factors which determine the extent of market

3 Explain why the markets for gold, silver and shares are wider than markets for such commodities as bricks vegetables, cows, etc

अध्याय ३०

पूर्ति

(Supply)

मूल्य निर्धारण की समस्या पर विचार करने से पूर्व, पूर्ति सम्बन्धी बातों की जानकारी आवश्यक है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति पर निर्भर होता है। उपभोग विभाग में माग का अध्ययन किया जा चुका है। अब हम इस अध्याय में पूर्ति का अध्ययन करेंगे।

किसी वस्तु की पूर्ति का अर्थ वस्तु की कुल मात्रा के उस भाग से है जो एक विशेष मूल्य पर एक समय में मडी में बेचने के लिए लाई जाती है। जैसे यदि किसी दिन मडी में आठ आने सेर पर व्यापारी लोग १०० मन आलू बेचने को तैयार हैं तो यह कहा जायगा कि उस दिन उस कीमत पर आलू की पूर्ति १०० मन है। इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो कुल माल (stock) और पूर्ति को ध्यान में रखना चाहिए। पूर्ति और कुल माल में यह अन्तर है कि माल वस्तु की कुल संख्या या मात्रा को कहते हैं और पूर्ति कुल माल का केवल एक भाग है जिसे व्यापारी किसी समय एक विशेष मूल्य पर बेचने के लिए तैयार है। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के माल और पूर्ति में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि ऐसी वस्तुओं को पर्याप्त समय तक सचय नहीं किया जा सकता। किन्तु स्थायी या टिकाऊ वस्तुओं की पूर्ति और कुल माल में काफी अन्तर हो सकता है। मूल्यानुसार कुल माल का भिन्न भिन्न भाग अलग अलग समय में बेचने के लिए निकाला जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि माग की तरह पूर्ति का भी बिना मूल्य के कोई अर्थ नहीं होता। किसी समय में एक वस्तु की पूर्ति कितनी होगी यह

मूल्य पर निर्भर है। भिन्न-भिन्न मूल्य पर वस्तु की पूर्ति भिन्न-भिन्न होती है। मूल्य में वृद्धि होने से पूर्ति बढ़ती है, और मूल्य के घटने से पूर्ति घटती है। अर्थात् मूल्य और पूर्ति में सीधा सम्बन्ध है। ये एक साथ उसी दिशा में घटते-बढ़ते हैं। इस प्रवृत्ति को पूर्ति का नियम (Law of supply) कहते हैं। पूर्ति का नियम यह नहीं बतलाता कि मूल्य के घटने या बढ़ने पर पूर्ति किस अनुपात से घटेगी या बढ़ेगी। वह केवल इतना ही बतलाता है कि मूल्य के बढ़ने से पूर्ति में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है और मूल्य के घट जाने पर पूर्ति में घटने की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् किसी वस्तु की कीमत जैसे बढ़ती या घटती है, उसी प्रकार उसकी पूर्ति में भी बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

पूर्ति-सूची और रेखा

(Supply Schedule and Curve)

जिस तरह माग-सूची तैयार की जाती है, ठीक उसी तरह पूर्ति-सूची भी बनाई जा सकती है। यदि एक सूची तयार की जाय, जिसमें एक ओर तो वस्तु के भिन्न-भिन्न मूल्य दिये हों और दूसरी ओर उन मूल्यों के सामने वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राएं, जो बिकने के लिए आती है, दर्शायी जाय, तो उसे पूर्ति-सूची (supply schedule) कहेंगे। उदाहरणार्थ चाय की पूर्ति-सूची नीचे दी जाती है —

चाय का प्रति पौंड मूल्य	चाय की पूर्ति
६ रुपया	१००० पौंड
५ "	८०० "
४ "	६०० "
३ "	४०० "
२ "	२०० "

इस सूची से इस बात का बोध होता है कि चाय की कीमत में वृद्धि होने से चाय की पूर्ति बढ़ती है और कीमत कम होने से पूर्ति घटती है।

इस बात का कारण स्पष्ट है । जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो अनेक नये उत्पादक उस ओर खिंच आते हैं और पुराने उत्पादक अधिक मात्रा में वस्तु को तैयार करने लग जाते हैं। फलस्वरूप पूर्ति बढ़ जाती है। दूसरी ओर जब कीमत घट जाती है, तो कुछ उत्पादक, जिनका उत्पादन-व्यय अधिक होता है, काम को छोड़ देते हैं या उत्पत्ति की मात्रा कम कर देते हैं । भविष्य में कीमत बढ़ने की आशा से व्यापारी लोग कम माल बेचने को तैयार रहते हैं । इसलिए कीमत के घटने से पूर्ति भी कम हो जाती है। पूर्ति सूची को एक रेखा द्वारा भी दिखाया जा सकता है।
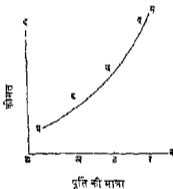
पूर्ति की मात्रा

उपरोक्त चित्र में अ ब पर वस्तु की वे मात्राएं दिखाई गई हैं जो विभिन्न कीमतों पर बिक्री के लिए है और अ द पर उस वस्तु की विभिन्न कीमतें दिखलाई गई हैं। 'म म' रेखा पूर्ति-रेखा (supply curve) है, इस रेखा से पता चलता है कि जैसे-जैसे मूल्य बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे पूर्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जब मूल्य 'क ख' है तब पूर्ति की मात्रा 'अ ख' के बराबर है, जब मूल्य 'क ख' से बढ़ कर 'घ छ' हो जाता है, तो उस समय पूर्ति की मात्रा 'अ छ' हो जाती है। इस तरह मूल्य के बढ़ जाने से पूर्ति में

वृद्धि होती है। साधारणतः पूर्ति की रेखा का झुकाव ऊपर की ओर होता है।

पूर्ति की लोच
(Elasticity of Supply)

मूल्य में परिवर्तन होने के साथ-साथ पूर्ति में भी घट-बढ़ होती रहती है। पूर्ति में इस तरह के परिवर्तन होने के गुण अथवा शक्ति को अर्थशास्त्र में 'पूर्ति की लोच' कहते हैं। पूर्ति की लोच का आशय उस दर से है जिससे किसी वस्तु की पूर्ति, मूल्य में परिवर्तन होने के कारण, घटती-बढ़ती है। साधारणतः मूल्य के बढ़ने से पूर्ति बढ़ती है, और मूल्य के घटने से पूर्ति घटती है। जब मूल्य में थोड़ा-सा परिवर्तन होने से किसी वस्तु की पूर्ति में बहुत परिवर्तन होता है, तो उस वस्तु की पूर्ति लोचदार मानी जाती है। इसके विपरीत यदि मूल्य में थोड़े-से परिवर्तन का किसी वस्तु की पूर्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता अथवा बहुत थोड़ा पड़ता है तो उस वस्तु की पूर्ति बेलोचदार कही जायगी।

सब वस्तुओं की पूर्ति की लोच एक जैसी नहीं होती और न सब परिस्थितियों में किसी एक वस्तु की पूर्ति की लोच एक समान ही रहती है। *कुछ वस्तुओं की पूर्ति की लोच अधिक होती है, और कुछ की कम।* ऐसा क्यों है? इसके कई कारण हैं। पूर्ति की लोच पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। इनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) किसी वस्तु की पूर्ति की लोच पर इस बात का विशेष प्रभाव पड़ता है कि वह वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु है, या स्थायी। दूध, फल, मछली आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं की पूर्ति बेलोचदार अथवा कम लोचदार होती है क्योंकि उन्हें संचय करके काफी समय तक नहीं रक्खा जा सकता। यदि किसी कारण से इन वस्तुओं की कीमत घट या बढ़ जाती है, तो इनकी पूर्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं की पूर्ति और स्टाक या कुल माल में विशेष अन्तर नहीं होता। किन्तु टिकाऊ या स्थायी वस्तुओं के साथ

ऐसी बात नहीं है। आवश्यकतानुसार इन वस्तुओं की पूर्ति काफी घटाई-बढ़ाई जा सकती है। मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा में वृद्धि लाई जा सकती है और मूल्य में कमी होने पर पूर्ति की मात्रा घटाई जा सकती है। इस कारण स्थायी वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है, और अस्थायी वस्तुओं की पूर्ति कम लोचदार।

(२) किसी वस्तु के उत्पादन-व्यय का उसकी पूर्ति की लोच पर बहुत असर पड़ता है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में सीमान्त लागत-खर्च (marginal cost of production) पहले की अपेक्षा बढ़ता जाता है, तो उस वस्तु की पूर्ति बहुत कम लोचदार अथवा बेलोच होगी। क्योंकि सम्भव है कीमत में थोड़ी वृद्धि होने पर भी पूर्ति की मात्रा में अधिक वृद्धि लाना लाभप्रद न हो। इसके विपरीत यदि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त लागत-खर्च कम होता जाता है, तो पूर्ति बहुत लोचदार होगी। मान लो किसी वस्तु के उत्पादन में सीमान्त लागत-खर्च कम होता जाता है। यदि ऐसी वस्तु की कीमत थोड़ी-सी गिर जाय तो उत्पादक उत्पत्ति की मात्रा बढ़ा देंगे क्योंकि ऐसा करने से उन्हें लाभ होगा। संक्षेप में, जब सीमान्त लागत-खर्च तेजी से बढ़ता है, तब पूर्ति में लोच कम होगी, जब सीमान्त-खर्च में धीरे-धीरे वृद्धि होती है, तब लोच अधिक होगी, और यदि सीमान्त लागत-खर्च क्रमशः घटता जाता है, तो उस समय पूर्ति अत्यधिक लोचदार होगी।

(३) उत्पादन के ढंग (system of production) से भी पूर्ति की लोच प्रभावित होती है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन का ढंग बहुत जटिल है, अथवा उसके उत्पादन में बहुत विशिष्ट साधनों का प्रयोग किया जाता है, तो उस वस्तु की पूर्ति कम लोचदार होगी। कारण, ऐसी दशा में आसानी से पूर्ति में मूल्यानुसार परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। दूसरी ओर, यदि उत्पादन-ढंग सीधा और सरल है जिसमें स्थायी पूंजी की बहुत कम आवश्यकता होती है, तो मूल्य के घटने-बढ़ने

पर पूर्ति में इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है। फलस्वरूप पूर्ति लोचदार होगी।

(४) विक्रेता के भावी मूल्य के अनुमान पर भी पूर्ति की लोच निर्भर करती है। यदि भविष्य में कीमत में और अधिक वृद्धि होने की आशा है, तो विक्रेता वर्तमान समय में उस वस्तु की कम मात्रा बेचने को तैयार होगे। कीमत में वृद्धि होने पर भी वे पूर्ति को अधिक न बढायेंगे। अस्तु, पूर्ति मे कम लोच होगी। इसके विपरीत यदि भविष्य मे कीमत के गिरने का डर है अथवा कीमत में बहुत कम वृद्धि की आशा है तो पूर्ति अपेक्षाकृत बहुत लोचदार होगी।

उत्पादन-व्यय

(Cost of Production)

किसी वस्तु के उत्पादन मे अनेक साधनो की सेवाओ की आवश्यकता पडती है। उत्पत्तिकर्त्ता को ये सेवाए मुफ्त म ही नही मिल जाती। उसे उन सेवाओ के बदले में कुछ मूल्य देना पडता है। इसलिए प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे कुछ न कुछ लागत लगती है। कुछ वस्तुओं के उत्पादन में बहुत लागत लगती है, और कुछ मे कम। किसी वस्तु के तैयार करने में जो कुछ खर्च होता है, उसे उत्पादन-व्यय या लागत-खर्च कहते हैं।

उत्पादन-व्यय के मुख्यत दो अर्थ हो सकते है (१) वास्तविक उत्पादन-व्यय (real cost of production) और (२) द्राव्यिक-उत्पादन-व्यय (money cost of production)। वास्तविक उत्पादन-व्यय का आशय उन प्रयत्नो तथा त्यागो से है जो किसी वस्तु के उत्पादन मे आवश्यक होते है। मान लो किसी वस्तु की उत्पत्ति में एक दिन लगता है और कुछ पूजी की आवश्यकता होती है, तो एक दिन म जो कुछ परिश्रम करना पडेगा और आवश्यक पूजी सचय करने मे जो वर्तमान सुख और तृप्ति का त्याग करना पडेगा, वह वस्तु का वास्तविक उत्पादन-व्यय माना जायगा। दूसरी ओर जो द्रव्य भिन्न-भिन्न उत्पत्ति के साधनों को किसी वस्तु के उत्पन्न करने में दिया जाता है, उसे 'द्राव्यिक लागत' कहते

है। अर्थात् जो कुछ किसी वस्तु के उत्पादन में खर्च होता है, यदि उसे मुद्रा या द्रव्य में अंकित किया जाय तो वह 'द्राव्यिक-उत्पादन-व्यय' कहलायेगा। व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादन-व्यय का आशय द्राव्यिक उत्पादन-व्यय से ही होता है। वास्तविक लागत का ठीक-ठीक अनुमान लगाना बहुत ही कठिन है।

प्रमुख और पूरक लागत
(Prime and Supplementary Costs)

किसी वस्तु के कुल उत्पादन-व्यय को दो भागों में बांटा जा सकता है (१) प्रमुख लागत (prime cost) और (२) पूरक लागत (supplementary cost)। 'प्रमुख लागत' से अभिप्राय उत्पादन-व्यय के उन अंगों या खर्चों से है जो उत्पत्ति की मात्रा के साथ घटते-बढ़ते हैं, जैसे कच्चे माल का मूल्य, साधारण श्रमिकों की मजदूरी आदि। जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रमुख लागत में वृद्धि होती जाती है। उत्पत्ति की मात्रा को घटाने से प्रमुख लागत कम हो जाती है। यदि किसी कारण से कुछ समय के लिए उत्पादन-कार्य स्थगित कर दिया जाय, तो उस बीच में प्रमुख लागत सम्बन्धी-खर्च कुछ भी नहीं होगा। इसके विपरीत उत्पादन-व्यय के उन स्थायी खर्चों को जो उत्पत्ति की मात्रा के साथ एक सीमा तक घटते-बढ़ते नहीं 'पूरक लागत' कहते हैं, जैसे कारखाने का किराया, मशीनों का खर्च, प्रबन्धकों का वेतन, उधार ली हुई पूंजी पर ब्याज, बीमा-सम्बन्धी खर्च आदि। कारखाने में चाहे पूरे समय तक काम हो या थोड़े समय तक, पूरक लागत में कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा। उदाहरण के लिए मान लो कि किसी कारण से एक सप्ताह के लिए कारखाना बन्द हो जाता है। उस समय तक कारखाने के मालिक को कच्चे माल, चालक-शक्ति आदि पर कुछ भी खर्च न करना पड़ेगा क्योंकि काम बन्द है। दूसरे शब्दों में, प्रमुख लागत कुछ न होगी। किन्तु मालिक को कारखाने का किराया, मासिक वेतन पाने वाले मजदूरों

और प्रबन्धकों का वेतन आदि तो हर हालत में देना ही पड़ेगा, चाहे काम चालू हो या नहीं। अर्थात् पूरक लागत में थोड़े समय के लिए काम के बन्द हो जाने के कारण कमी न होगी। यह खर्च तभी बन्द होगा जब उस काम को हमेशा के लिए बिलकुल बन्द कर दिया जाय।

प्रमुख और पूरक लागत के भेद का अपना एक महत्त्व है। लम्बे समय अथवा दीर्घकाल में किसी वस्तु की कीमत इतनी होनी चाहिए जिससे उसके उत्पादन का कुल खर्चा निकल आये। ऐसा न होने पर उसका उत्पादन बन्द कर दिया जायगा। कोई भी उत्पादक घाटा सहकर उत्पादन नहीं करता रहेगा। इसलिए लम्बे समय की दृष्टि से प्रमुख और पूरक लागत के भेद का कोई खास महत्त्व नहीं रहता। परन्तु अल्पकाल की दृष्टि से इस भेद का विशेष महत्त्व है। वैसे तो उत्पादक हर समय यही चाहेगा कि कीमत ऐसी हो जिससे उसका कुल खर्च निकल सके। पर सम्भव है किसी खास समय में माँग घट जाने के कारण कीमत कुल लागत से कम हो जाय। ऐसी परिस्थिति में उत्पादक क्या करेगे ? उनके लिए दो रास्ते होंगे। या तो वे अपना कारखाना बन्द कर दें अथवा कुल लागत से कम कीमत पर बेचने को तैयार हों। पहला रास्ता कठिन है। एक बार काम बन्द कर देने पर उसे फिर चलाना कठिन हो जाता है। और हो सकता है माँग की कमी भी अस्थायी हो। ऐसी परिस्थिति में कोई भी अनुभवी उत्पादक अपना कारखाना बन्द न करेगा। साधारणतः वह काम बन्द करने के बजाय कुछ समय के लिए कुल लागत से कम कीमत पर माल बेचने को तैयार हो जायगा। लेकिन प्रश्न यह है कि वह कितनी कम कीमत तक बेचने के लिए तैयार हो सकेगा ? यह हम पहले कह चुके हैं कि पूरक लागत-सम्बन्धी खर्च स्थायी होता है, बंधा हुआ होता है। उत्पादक उत्पत्ति की मात्रा घटाकर पूरक लागत को फिलहाल कम नहीं कर सकते। वह उतनी ही बनी रहेगी, चाहे उत्पादन-कार्य थोड़े समय के लिए स्थगित ही क्यों न कर दिया जाय। वे केवल प्रमुख लागत को ही

अल्पकाल में घटा सकते हैं। इसलिए कीमत को कम से-कम इतना होना पड़ेगा जिससे प्रमुख लागत-सम्बन्धी खर्च निकल सके। ऐसा न होने पर उत्पादक उत्पत्ति को और अधिक कम करके प्रमुख लागत को घटाने का प्रयत्न करेंगे। यह प्रयत्न उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि कीमत प्रमुख लागत के बराबर नहीं हो जायगी। अस्तु, अल्पकाल में प्रमुख लागत कीमत की न्यूनतम सीमा है। इसके नीचे कीमत नहीं जा सकती। वैसे साधारणतः अल्प-काल में मूल्य प्रमुख लागत से अधिक ही रहता है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि अल्प-काल में यदि कीमत इतनी भी हो कि प्रमुख लागत निकल सके तो भी आगे लाभ मिलने की आशा से उत्पादक उत्पादन-कार्य चलाते रहेंगे। पूरक लागत आगे की बिक्री में पूरी की जा सकती है। किन्तु आगे चलकर दीर्घकाल में कीमत को कुल लागत के बराबर होना पड़ेगा वरना उत्पादन-कार्य बन्द हो जायगा। दीर्घकाल में कोई भी खर्च बधा हुआ नहीं होता। उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है। इसलिए दीर्घकाल में पूरक और प्रमुख लागत में कोई भेद या अन्तर नहीं रह जाता। यह भेद तो अल्पकाल में ही किया जा सकता है। वहीं इस भेद का अर्थ और महत्व है।

सीमान्त और औसत उत्पादन-व्यय

(Marginal and Average Cost of Production)

किसी वस्तु की एक और इकाई के उत्पादन करने से जो कुल लागत में वृद्धि होती है, उसको 'सीमान्त उत्पादन-व्यय' (marginal cost of production) कहते हैं। मान लो, जब किसी वस्तु की १० इकाइयां तैयार की जाती हैं तो कुल लागत खर्च २०० रुपया है और ११ इकाइयां तैयार करने से कुल खर्च २३१ रु० हो जाता है। इस उदाहरण के अनुसार सीमान्त उत्पादन-व्यय (२३१−२००) = ३१ रु० है। एक और इकाई के उत्पादन से कुल लागत में ३१ रु० की वृद्धि हुई। इसलिए ३१ रु० उस वस्तु का सीमान्त उत्पादन-व्यय माना जायगा।

प्रति इकाई उत्पादन-व्यय को "औसत उत्पादन-व्यय" (average cost of production) कहते हैं। कुल लागत को उत्पन्न की हुई इकाइयों की संख्या से भाग देने से औसत उत्पादन-व्यय मालूम किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में जब १० इकाइयां उत्पन्न की जाती हैं, तो औसत उत्पादन-व्यय २००/१० = २० रु० है, और जब ११ इकाइयां तैयार की जाती हैं तो औसत उत्पादन-व्यय २३१/११ = २१ रु० है।

उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से औसत उत्पादन व्यय घट-बढ़ सकता है और बराबर भी रह सकता है। यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ाने में औसत उत्पादन व्यय में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तो सीमान्त उत्पादन व्यय औसत उत्पादन-व्यय के बराबर होगा। यदि उत्पादन में वृद्धि करने से औसत लागत घटती है, तो सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी और यदि औसत लागत बढ़ती है, तो सीमान्त लागत उससे अधिक होगी।

मूल्य-निर्धारण में सीमान्त लागत का विशेष महत्त्व है। साधारणतः किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के सीमान्त खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है। जब किसी कारण से मूल्य सीमान्त लागत से कम या अधिक हो जाता है तो प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में अनेक आर्थिक शक्तियां काम करने लगती हैं, जिनके प्रभाव से मूल्य फिर सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर हो जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में मूल्य सीमान्त लागत और औसत लागत दोनों के बराबर होता है। एकाधिकार की परिस्थिति में मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय से साधारणतः अधिक होता है।

QUESTIONS

1. What is meant by 'supply'? How is it related to price?
2. What is the difference between the supply and stock of a commodity? Why does the supply of

a commodity ordinarily increase with a rise in price and decrease with a fall in price ?

3 Examine the main factors which influence elasticity of supply

4 Explain real and money costs of production

5 What are prime and supplementary costs ? Show why the price must cover prime costs in any case ?

6 What is meant by marginal and average cost of production ? Show the relationship between the two

अध्याय ३१

मूल्य-निर्धारण की समस्या

(Problem of Price Determination)

बाजार में तरह-तरह की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। उन सब का मूल्य एक समान नही होता। कुछ वस्तुओं का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक होता है, और कुछ का कम। इतना ही नहीं, आज एक वस्तु का जो मूल्य है, वह सदैव उतना ही नही बना रहता। उसमे प्राय उतार-चढाव होता रहता है। इस सबंध मे इस प्रकार के कई प्रश्नो का उठना स्वाभाविक है, जैसे, कैसे किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है? क्यो एक वस्तु का मूल्य अन्य वस्तुओ के मूल्य की अपेक्षा कम या अधिक होता है? क्यो मूल्य मे अक्सर परिवर्तन होता रहता है? इस अध्याय में इन्ही प्रश्नो पर विचार किया जायगा।

इसके पूर्व कि किसी वस्तु मे कुछ मूल्य हो, यह आवश्यक है कि उसमें उपयोगिता और परिमितता के दोनो गुण विद्यमान हो। यदि किसी वस्तु मे उपयोगिता नही है अथवा वह अपरिमित मात्रा में है, तो मूल्य देकर उसे खरीदने के लिए कोई भी तैयार न होगा। बहुत-सी वस्तुए ऐसी है, जिनमे उपयोगिता की तो कोई कमी नही होती जैसे हवा, सूर्य-किरण आदि, किन्तु साधारणत इनका कुछ भी मूल्य नही होता, क्योकि इनमें परिमितता का गुण नही होता। वस्तु में मूल्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तु बाजार मे बिकने के लिए लाई जाय और लोग उसे खरीदने के लिए तैयार हो। बाजार मे बिक्री के लिए कोई वस्तु तभी लाई जायेगी जबकि उसकी मात्रा परिमित होगी और

वह तभी खरीदी जायगी जबकि उसमें उपयोगिता होगी। अस्तु, मूल्य के लिए वस्तु में उपयोगिता और परिमितता दोनों ही विशेषताएं होनी चाहिएँ। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मूल्य कैसे निर्धारित होता है।

मूल रूप में वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति पर निर्भर होता है। जिस बिन्दु पर माग और पूर्ति की समता होती है, वहीं पर मूल्य निर्धारित होता है। यह किस तरह होता है? कैसे माग और पूर्ति की समता द्वारा मूल्य निर्धारित होता है? इसे भली प्रकार समझने के लिए संक्षेप में माग और पूर्ति सम्बन्धी कुछ बातों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

माग (सीमान्त उपयोगिता)
Demand (Marginal Utility)

माग की परिभाषा, माग के नियम तथा माग की लोच आदि बातों का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ पर केवल एक बात पर ही विचार करना पर्याप्त होगा। वह यह है कि क्यों किसी वस्तु की माग होती है? खरीदार उसके बदले में क्यों एक विशेष मूल्य देने के लिए तैयार हो जाता है? इसका उत्तर आसानी से दिया जा सकता है। किसी वस्तु की माग इस कारण होती है कि उसमें उपयोगिता है। यदि किसी वस्तु में आवश्यकता-पूरक शक्ति अर्थात् उपयोगिता नहीं है, तो कोई भी व्यक्ति उस वस्तु को चाह न करेगा और न उसके बदले में कुछ मूल्य देने के लिए तैयार होगा। जो कुछ मूल्य खरीदार किसी वस्तु के बदले में देने के लिए तैयार होता है, उसे माग-कीमत (demand price) कहते हैं। यह आवश्यकता की तेजी पर निर्भर होती है। जितनी अधिक प्रबल आवश्यकता की तृप्ति कोई वस्तु करेगी, उतना ही अधिक मूल्य एक व्यक्ति उस वस्तु के लिए देने को तैयार होगा। दूसरे शब्दों में, उपयोगिता माग का आधार है। यह पहले कहा जा चुका है कि जैसे-जैसे कोई वस्तु अधिक मात्रा में खरीदी या उपयोग की जाती है, वैसे-वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। इस कारण आगे आने वाली

इकाइयों का माग-मूल्य भी घटता जायगा। अस्तु, जो मूल्य कोई खरीदार किसी वस्तु के लिए देने को तैयार होगा, वह उसकी सीमात उपयोगिता के बराबर होगा।

यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से अधिक है, तो वह व्यक्ति उस वस्तु को न खरीदेगा। वैसे तो वह कम से कम मूल्य पर खरीदना चाहेगा, पर अधिक से अधिक मूल्य, जो वह देने के लिए तैयार हो सकता है, वह उस वस्तु की सीमात-उपयोगिता के बराबर होगा। सक्षेप मे, माग की ओर से सीमात उपयोगिता बाजार-भाव की अधिकतम सीमा है। किसी वस्तु का मूल्य इस सीमा से अधिक नही हो सकता।

किन्तु इसका यह आशय नही कि केवल उपयोगिता द्वारा ही मूल्य निर्धारित होता है। किसी वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये पृथक् पृथक् होती है। अत यदि केवल उपयोगिता पर ही मूल्य का निर्धारण निर्भर होता तो उस दशा मे उसका मूल्य भी हर एक के लिए अलग-अलग होता। किन्तु वास्तव में ऐसा नही होता। दूसरे यदि केवल उपयोगिता ही मूल्य का आधार है, तो जिन वस्तुओं मे उपयोगिता अधिक है, उनका मूल्य अधिक होना चाहिए, और जिनमे उपयोगिता कम है, उनका मूल्य कम होना चाहिए। खाद्य-सामग्री, जल, हवा आदि की उपयोगिता मोटर, हीरे आदि से कही अधिक है। फिर भी मोटर व हीरे की कीमत इन सबसे बहुत ज्यादा है। इससे यह पता चलता है कि मूल्य उपयोगिता के अतिरिक्त और किसी बात मे भी प्रभावित होता है। मूल्य के लिए केवल उपयोगिता का होना ही पर्याप्त नही है।

पूर्ति (सीमात उत्पादन-व्यय)
Supply (Marginal Cost of Production)

पिछले अध्याय में पूर्ति-सम्बन्धी बातो का यथेष्ठ रूप से अध्ययन किया जा चुका है। वहाँ हम कह चुके है कि जब तक किसी वस्तु की मात्रा सीमित नही होगी, तब तक उसकी पूर्ति का कोई प्रश्न नही उठेगा।

यदि कोई वस्तु अपरिमित मात्रा में है तो बेचने के लिए उसे बाजार में ले जाने का कौन कष्ट उठायेगा ? अस्तु, बाजार में बिक्री के लिए उन्हीं वस्तुओं को ले जाया जाता है जिनकी मात्रा परिमित होती है। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में कुछ न कुछ लागत अवश्य लगती है। इसीलिए विक्रेता इन वस्तुओं के बदले में कुछ मूल्य मांगते हैं। यदि मूल्य लागत-खर्च व उत्पादन-व्यय से कम है, तो विक्रेता उस वस्तु को न बेचेंगे। कम से कम मूल्य, जो वे किसी वस्तु की एक इकाई के लिए स्वीकार करने को तैयार हो सकते है, वह उसके सीमांत उत्पादन-व्यय के बराबर होगा। यदि मूल्य सीमांत उत्पादन-व्यय से कम है, तो वे उस इकाई का उत्पादन करना बन्द कर देंगे। यह सम्भव है कि किसी दिन मूल्य उत्पादन-व्यय से कम हो जाय, पर यह कमी हमेशा के लिए बनी नहीं रह सकती। जिस मूल्य पर विक्रेता एक वस्तु को बेचने के लिए तैयार रहते हैं, उसे पूर्ति मूल्य (supply price) कहते हैं। यह उत्पादन-व्यय पर निर्भर होता है। मूल्य की यह न्यूनतम सीमा है। आमतौर से मूल्य इस सीमा के नीचे नहीं जा सकता, क्योंकि उस दशा में विक्रेता को हानि होगी और वे बेचने के लिए तैयार न होंगे।

किन्तु इसका यह आशय नहीं कि मूल्य केवल उत्पादन-व्यय से ही निर्धारित होता है। चाहे जितना अधिक किसी वस्तु का उत्पादन-व्यय क्यों न हो, किन्तु जब तक उसमें उपयोगिता न होगी, तब तक उसका कुछ भी मूल्य न होगा। कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिनके उत्पादन-व्यय का उनके मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता जैसे प्रसिद्ध पुराने चित्रकारों की तस्वीरें, कई वर्षों की तैयार की हुई शराब आदि। इसके अलावा मूल्य में अक्सर परिवर्तन होता रहता है, पर उत्पादन समाप्त हो जाने पर लागत-खर्च में कोई खास परिवर्तन नहीं होता, वह उतना ही रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल उत्पादन-व्यय से ही मूल्य निर्धारण की समस्या हल नहीं की जा सकती।

माग और पूर्ति की समता
(Equilibrium of Demand and Supply)

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि माग और पूर्ति दोनो के द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। प्रोफेसर मार्शल ने मूल्य के निर्धारित होने की उपमा कपडे और कैंची से दी है। कपडा काटने के लिए कैंची के दोनो फलो की आवश्यकता होती है। केवल एक फल की सहायता से कपडा नही काटा जा सकता। माग और पूर्ति कैंची के दोनो फलो के समान है। जिस तरह कपडा काटने के लिए दोनो फलो की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी तरह मूल्य-निर्धारण के लिए माग और पूर्ति दोनो आवश्यक है। यह ठीक है कि कैंची के दोनो फलो की क्रियाए सदा एक-सी नही होती। कभी एक से अधिक काम लिया जाता है, और कभी दूसरे से। उदाहरणार्थ आम तौर से एक साधारण व्यक्ति दोनो फलो को साथ साथ चलाता है, स्त्रिया नीचे वाले फल को चलाती है और दर्जी नीचे के फल को मेज पर जमाकर ऊपर वाले फल को चलाते है। यही बात माग और पूर्ति के साथ भी लागू है। कभी माग का प्रभाव अधिक होता है और कभी पूर्ति का, पर दोनो का होना आवश्यक है।

माग मूल्य की अधिकतम सीमा निश्चित करती है और पूर्ति मूल्य की न्यूनतम सीमा। इन्ही दोनो सीमाओ के बीच मूल्य निर्धारित होता है। यदि माग का प्रभाव अधिक है, तो मूल्य न्यूनतम सीमा के निकट होगा; यदि पूर्ति का अधिक प्रभाव है, तो मूल्य अधिकतम सीमा के निकट होगा। अन्तत किसी समय मूल्य उस स्थान पर निर्धारित होगा, जहाँ पर माग और पूर्ति दोनो बराबर है, जहाँ दोनो मे सामञ्जस्य होगा। विनिमय उसी भाव पर होता है जिस पर माग और पूर्ति दोनो बराबर होते है। उदाहरणवत् नीचे चाय की माग और पूर्ति की सूची दी जाती है। इसकी सहायता से यह और स्पष्ट हो जायगा कि किस तरह माग और पूर्ति के साम्य-बिन्दु पर मूल्य निर्धारित होगा।

मूल्य प्रति पौंड	माग की मात्रा	पूर्ति की मात्रा
६ रु०	१०० पौंड	११०० पौंड
५ „	२०० „	१००० „
४ „	४०० „	८०० „
३ „	६०० „	६०० „
२ „	९०० „	३०० „
१ „	१२०० „	५० „

इस सूची मे ३ रु० प्रति पौंड की दर पर चाय की माग और पूर्ति दोनो बराबर है। अतएव चाय का मूल्य इसी स्थान पर निर्धारित होगा। यह समझना कठिन नही कि चाय का मूल्य क्यो ३ रु० प्रति पौंड होगा। उदाहरण के लिए मान लो कि चाय का प्रति पौंड मूल्य ४ रु० है। इस मूल्य पर माग की मात्रा केवल ४०० पौंड है जबकि पूर्ति की मात्रा ८०० पौंड है। पूर्ति की मात्रा माग की मात्रा से कही अधिक है। ऐसी दशा मे बेचने वालो म प्रतियोगिता होगी जिसके फलस्वरूप मूल्य गिरने लगगा। मन लो मूल्य गिरकर २ रु० हो जाता है। इस मूल्य पर माग की मात्रा पूर्ति की मात्रा की अपेक्षा कही अधिक है। माग अधिक होने के कारण मूल्य बढेगा। इस तरह हम देखते है कि जब मूल्य ३ रु० से अधिक या कम है, तो कई आर्थिक शक्तिया काम करने लगती है जिससे मूल्य फिर ३ रु० हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि और किसी स्थान पर माग और पूर्ति के बीच सामजस्य नही है। इसलिए मूल्य ३ रु० ही होगा।

माग और पूर्ति के परस्पर प्रभाव से किसी वस्तु की कीमत किस स्थान पर निश्चित होगी, यह रेखा चित्र द्वारा दिखलाया जा सकता है। इससे मूल्य निर्धारण के विषय को समझने मे और भी आसानी होगी।
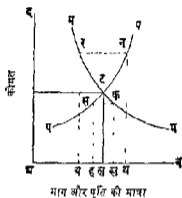
माग और पूर्ति की मात्रा

ऊपर दिए हुए चित्र म 'म म' माग-रेखा है और 'प प' पूर्ति की रेखा है। ये दोनों रेखाएं एक दूसरे को 'ट' बिन्दु पर काटती हैं। ऐसी दशा मे वस्तु की कीमत 'ट ल' होगी। इस कीमत पर माग की मात्रा 'अ ल' है और पूर्ति की मात्रा भी इतनी ही है। दोनो बराबर-बराबर है, जितनी की माग है, उतनी ही की पूर्ति है। अस्तु 'ट ल' सामजस्य या साम्य-कीमत (equilibrium price) है। इसी कीमत पर वस्तु का क्रय-विक्रय होगा। अन्य किसी कीमत पर माग और पूर्ति बराबर नही है, इसलिए और किसी स्थान पर कीमत निश्चित न होगी। थोडी देर के लिए मान लो कि कीमत 'र य' है, जो साम्य-कीमत (ट ल) से अधिक है। इस कीमत पर माग कुल 'अ य' है और पूर्ति 'अ थ'। इस स्थान पर पूर्ति की मात्रा माग की मात्रा से कही अधिक है। इसका परिणाम यह होगा कि बेचने वालो में परस्पर प्रतियोगिता होगी, जिसके फलस्वरूप कीमत नीचे गिरेगी। अर्थात् 'र य' कीमत स्थिर न रह सकेगी। मान लो कीमत 'ट ल' से कम है, अर्थात् 'स ह' है। इस कीमत पर माग की मात्रा (अ स) पूर्ति की मात्रा (अ ह) से कही अधिक है। ऐसा

होने पर खरीदने वालो मे प्रतियोगिता होगी और फलस्वरूप कीमत ऊपर चढने लगेगी। अस्तु, 'ट ल' कीमत ही साम्य कीमत है। यही माग और पूर्ति का सामजस्य है। इसलिए वस्तु की कीमत यही पर निर्धारित होगी।

अस्तु, अब यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। यदि माग पूर्ति से अधिक है तो मूल्य बढेगा और यदि माग कम है और पूर्ति अधिक है तो मूल्य गिरेगा। इसी नियम के अनुसार मडी मे वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि माग और पूर्ति दोनो के द्वारा मूल्य निश्चित होता है। दोनो का होना परमावश्यक है। पर यह सम्भव है कि किसी एक परिस्थिति मे माग का प्रभाव अधिक हो और दूसरी परिस्थिति में पूर्ति का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हो। यह बात समय या काल पर निर्भर होती है। अल्पकाल (short period) में माग का प्रभाव अधिक होता है। इसका एक कारण है। अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा एक तरह से निश्चित ही रहती है। उसको घटाया-बढाया नही जा सकता, क्योकि यह तो तभी सम्भव हो सकता है, जबकि परिवर्तन लाने के लिए उत्पादकों तथा बेचने वालो को काफी समय मिले। अर्थात् अल्पकाल मे पूर्ति की मात्रा म बहुत कम लोच होती है। लेकिन माग के परिमाण म घट-बढ हो सकती है। इस कारण अल्पकालीन मल्य पर माग का बहुत प्रभाव पडता है। यदि माग कम हो जाय तो दाम गिर जायगा, क्योकि बेचने वालों की आपस म प्रतियोगिता होगी। वे पूर्ति मे इच्छानुसार कमी नही ला सकते, इसलिए उन्हें कम ग्राहकों के बीच अपनी वस्तु को बेचना पडेगा। फलस्वरूप कीमत गिरेगी। सम्भव है उत्पादन-व्यय के नीचे भी कीमत चली जाय। ऐसा होना उन वस्तुओं के साथ विशेष रूप से सम्भव है जो शीघ्र नष्ट होने वाली है, क्योकि बेचने वाले उनको जल्दी से जल्दी निकालने की कोशिश करेंगे। टिकाऊ वस्तुओ को कुछ समय के लिए रोका जा सकता है।

इसलिए माग कम होने पर इन वस्तुओं की कीमतें बहुत न गिरेंगी। इसी प्रकार यदि अल्पकाल में माग बढ जाय तो कीमत भी ऊपर चढ जायगी। माग बढ जाने पर खरीदारों में आपस में प्रतिस्पर्धा बढ जायगी, क्योंकि पूर्ति की मात्रा अल्पकाल में निश्चित होती है, वह आसानी से बढाई नही जा सकती। ऐसी दशा में भाव चढ जाएगा। अस्तु, अल्पकाल में कीमत अधिकतर माग पर निर्भर होती है। पूर्ति का कीमत पर विशेष प्रभाव नही पड़ता।

किन्तु दीर्घकाल (long period) में पूर्ति की मात्रा घटाई-बढाई जा सकती है। यदि माग स्थायी रूप से कम हो जाती है तो पूर्ति कम कर दी जायगी। उस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए साधन अन्य व्यवसायों में धीरे-धीरे चले जायंगे। और यदि माग बढ जाती है, तो उसके अनुसार पूर्ति भी बढा दी जायगी। अन्य व्यवसायों में लगे हुए साधनों को निकाल कर अथवा खाली साधनों को उस वस्तु के उत्पादन में लगा दिया जायगा। फलस्वरूप उत्पत्ति और पूर्ति की मात्रा बढ जायगी। अस्तु, दीर्घकाल में माग के अनुसार ही पूर्ति होगी। ऐसी दशा में वस्तु का मूल्य उत्पादन-व्यय पर अधिक निर्भर होगा। यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से कम होगा, तो उत्पन्न करने वालों को घाटा होगा और वे उत्पादन कम कर देंगे। माग पूर्ववत् बनी रहने पर खरीदने वालों में आपस में प्रतियोगिता बढेगी। इसके फलस्वरूप कीमत ऊपर चढने लगेगी। दूसरी ओर, यदि कीमत उत्पादन-व्यय से अधिक होगी, तो उत्पादक को अधिक लाभ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि लोग अधिक परिमाण में उत्पत्ति करने लगेंगे। माग के पूर्ववत् रहने पर, उत्पादकों के बीच प्रतियोगिता बढ जायगी, जिसके प्रभाव से कीमत नीचे गिरने लगेगी। अस्तु, दीर्घकाल में कीमत उत्पादन-व्यय के बराबर होगी। मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव दीर्घकाल में अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जितना ही कम समय होगा, उतना ही मूल्य पर माग का प्रभाव अधिक होगा और जितना ही समय

अधिक या लम्बा होगा, मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव उतना ही अधिक होगा। फलस्वरूप कीमत अल्पकाल में उत्पादन-व्यय से कम या अधिक हो सकती है, लेकिन दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय के बराबर होगी।

अल्प-कालीन मूल्य को बाजार-मूल्य कहा जाता है और दीर्घ-कालीन मूल्य को स्वाभाविक व सामान्य मूल्य कहा जाता है। अब हम इनका विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

बाजार तथा सामान्य मूल्य
(Market and Normal Price)

बाजार-मूल्य से अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु का किसी समय पर क्या मूल्य है। जिस मूल्य पर मंडी में किसी वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, उसे उस वस्तु का 'बाजार-मूल्य (market price) कहते हैं। यह माग और पूर्ति के प्रतिदिन के साम्य अथवा सामजस्य का फल है। जब किसी कारण से साम्य टूट कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुच जाता है, तो बाजार-मूल्य भी, जो साम्य पर निर्भर होता है, बदल जाता है। माग काफी अनिश्चित है। उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। किन्तु पूर्ति में इतनी जल्दी परिवर्तन लाना कठिन है। इस कारण माग और पूर्ति का साम्य-बिन्दु सदा एक स्थान पर नहीं रहता, वह बदलता रहता है। इसके फलस्वरूप बाजार-मूल्य में भी बराबर उतार-चढाव होता रहता है। किसी वस्तु का बाजार-मूल्य आज कुछ है, तो कल कुछ—यहा तक कि कभी-कभी एक ही दिन में बाजार-मूल्य कई बार चढता-गिरता है। इसका मुख्य कारण माग की घटबढ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा माग के अनुसार घटाई-बढाई नहीं जा सकती। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बाजार-भाव के निर्धारण में माग का प्रभाव पूर्ति के प्रभाव की अपेक्षा अधिक होता है।

बाजार-मूल्य में बराबर परिवर्तन होता रहता है किन्तु यह एक केन्द्रीय स्तर या सतह के चारों ओर ही होता है। यदि किसी तालाब

या नदी में पत्थर फेंका जाय, तो कुछ देर के लिए जल में हलचल मच जाती है। जल अपनी असली सतह से हट जाता है, किन्तु हमेशा के लिए नहीं। हलचल का प्रभाव ज्यों ही दूर हो जाता है, जल अपनी वास्तविक सतह पर आ पहुंचता है। ठीक यही दशा बाजार-मूल्य की है। माग और पूर्ति म घटबढ होने के कारण बाजार-मूल्य अपनी वास्तविक सतह से हट जाता है। कभी उस सतह के ऊपर हो जाता है, तो कभी नीचे। पर और किसी स्थान पर वह निश्चित रूप से टिकता नहीं। बार-बार अपनी वास्तविक सतह पर लौट आने की उसमे प्रवृत्ति होती है। वह मूल्य, जिसके चारों ओर बाजार-मूल्य घूमता रहता है, उसे 'स्वाभाविक' व सामान्य मूल्य (normal price) कहते हैं।

स्वाभाविक मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। यह सम्भव है कि *अल्पकाल में बाजार-मूल्य उत्पादन-व्यय से कम हो या अधिक।* किन्तु ऐसी परिस्थिति सदा नहीं बनी रह सकती। उदाहरणवत् मान लो कि किसी वस्तु का बाजार-मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक है। उस दशा में उत्पत्तिकर्त्ता को बहुत लाभ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि और लोग भी उस वस्तु को तैयार करने लगेंगे। फलस्वरूप अन्तत पूर्ति बढ़ जायगी और *बाजार-मूल्य गिरने लगेगा। इसी प्रकार यदि बाजार-*मूल्य उत्पादन-व्यय से कम हुआ तो नुकसान होने के कारण कुछ उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन बन्द कर देंगे और कुछ उत्पादन की मात्रा घटा देंगे जिससे पूर्ति घट जायगी। पूर्ति घट जाने के कारण मूल्य बढ़ जायगा। अतएव दीर्घ-कालीन दृष्टि से मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर होगा। *स्वाभाविक व सामान्य मूल्य को दीर्घकालीन मूल्य भी कहते* हैं। इस मूल्य के निर्धारित होने में उत्पादन-व्यय का प्रभाव माग के प्रभाव की अपेक्षा अधिक होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि बाजार-मूल्य और स्वाभाविक मूल्य के निर्धारण में कोई सैद्धान्तिक अन्तर है। दोनों माग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होते है। अन्तर केवल इतना ही

है कि बाजार-मूल्य माग से अधिक प्रभावित होता है और स्वाभाविक-मूल्य पूर्ति अथवा उत्पादन-व्यय से ।

QUESTIONS

1 Show how the price of a commodity is determined Explain it with the help of a diagram

2 Construct imaginary demand and supply schedules for a commodity and explain how the price will be determined

3 "Price is determined by the equilibrium of supply and demand" Explain

4 What do you mean by 'market price' and 'normal price' of a commodity? How are they determined?

अध्याय ३२

प्रतियोगिता और मूल्य

(Competition and Price)

मूल्य-निर्धारण पर इस बात का विशेष प्रभाव पडता है कि मंडी में प्रतियोगिता की परिस्थिति है अथवा एकाधिकार की। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रतियोगिता और एकाधिकार का क्या अर्थ है और दोनों का मूल्य पर क्या-कैसा प्रभाव पडता है। इस अध्याय में प्रतियोगिता-सम्बन्धी बातों का विवेचन किया जायगा और अगले अध्याय में एकाधिकार विषय का।

प्रतियोगिता का आशय उस परिस्थिति से है जिसमें मनुष्य बिना किसी बाहरी रोक-टोक के व्यापार, उत्पादन, उपभोग आदि अनेक आर्थिक क्षेत्रों में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वतन्त्र रूप से काम कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह जिस भी व्यवसाय या काम को लाभप्रद समझे बिना किसी बाहरी बाधा के कर सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रतियोगितापूर्ण परिस्थिति में आर्थिक क्षेत्र के हर अंग में स्वतन्त्रता की पूरी-पूरी छाप होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) के दो मुख्य चिह्न माने जाते हैं। एक तो यह कि उत्पत्ति के साधनों के स्थान या व्यवसाय-परिवर्तन में कोई बाहरी रुकावट न हो। इसका परिणाम यह होगा कि एक तरह के साधनों का पारिश्रमिक एक समान ही होगा, क्योंकि यदि उसमें कोई असमानता है, तो वे साधन कम लाभप्रद वाले धन्धों को छोडकर उन धन्धों में जाने लगेंगे जिनमें अपेक्षाकृत अधिक

लाभ दिखाई पड़ेगा। इस तरह का परिवर्तन या गमनागमन उस समय तक चालू रहेगा, जब तक कि भिन्न-भिन्न धन्धों में एक तरह के साधन का पारिश्रमिक बराबर नहीं हो जायगा। ऐसा क्यों या कैसे होता है, इसको समझना कठिन नहीं है। मान लो 'अ' और 'ब' दो धन्धे हैं। 'अ' में काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी 'ब' धन्धे की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐसी दशा में अगर पूर्ण प्रतियोगिता है अर्थात् भिन्न-भिन्न उद्योग धंधों में आने-जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, तो 'ब' के मजदूर वहां की नौकरी छोड़कर 'अ' धन्धे की ओर जाने लगेंगे क्योंकि इसमें उन्हें लाभ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'ब' में मजदूरों की कमी होने के कारण, वहां पर मजदूरी बढ़ने लगेगी और दूसरी ओर 'अ' धन्धे में मजदूरों की संख्या बढ़ जाने के कारण मजदूरी कम होने लगेगी। इस तरह मजदूरों का पारिश्रमिक 'अ' और 'ब' दोनों धन्धों में आगे चलकर एक समान हो जायगा। जब तक पारिश्रमिक व मजदूरी में समानता न आ जायगी, तब तक व्यवसाय-परिवर्तन या गमनागमन चलता ही रहेगा।

पूर्ण प्रतियोगिता की दूसरी विशेषता यह है कि किसी एक वस्तु के बेचने और खरीदने वाले बहुत अधिक संख्या में हों। यदि ऐसा है तो किसी एक के थोड़ा अधिक व कम खरीदने अथवा बेचने का मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ेगा। थोड़ी देर के लिए मान लो कि किसी चीज के बेचने वालों की संख्या १० लाख है और हर एक उस वस्तु की १० इकाई तैयार करता है, तो मंडी में उस वस्तु की कुल पूर्ति की मात्रा १०० लाख इकाइयां होगी। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई उत्पादक पहले से दुगना माल तैयार करने लगे, या माल बनाना बिल्कुल बन्द कर दे, तो कुल माल की मात्रा में कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा। इस कारण मूल्य में भी कोई परिवर्तन न होगा। इसी तरह यदि खरीदारों की संख्या अधिक है, तो किसी एक के कम या अधिक खरीदने से मूल्य में परिवर्तन न होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रतियोगितापूर्ण स्थिति में मूल्य माग

और पूर्ति द्वारा निर्धारित नही होता। यहा केवल यही कहा गया है कि बेचने और खरीदने वालो की अधिक सख्या होने के कारण व्यक्तिगत रूप से कोई मूल्य में परिवर्तन नही ला सकता। हा, यदि सभी उत्पादक कम या अधिक उत्पन्न करने लगे अथवा सभी ग्राहक कम या अधिक खरीदने लगें तो मूल्य में अवश्य परिवर्तन होगा।

उपर्युक्त बात से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतियोगिता की स्थिति में किसी एक खरीदार या बेचने वाले की नीति अथवा व्यवहार से मूल्य प्रभावित नही होता। मडी में जो मूल्य, कुल माग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित होगा, उसी पर खरीद और बिक्री होगी, चाहे कोई कम या अधिक खरीदे अथवा बेचे। ऐसी परिस्थिति मे मूल्य एक ही होगा। कारण, अगर कोई बेचने वाला बाज़ार-भाव से अधिक मागता है, तो उसके पास कोई भी ग्राहक न जायगा और जब वह यह जानता है कि जितना भी चाहे वह बाज़ार-भाव पर बेच सकता है, तो उससे कम मूल्य पर वह भला क्यो बेचना चाहेगा। इसलिए समस्त मडी मे एक समय में किसी वस्तु का मूल्य एक ही होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति में कोई उत्पादक किसी वस्तु का उत्पादन किस सीमा तक करेगा? यह तो वह भलीभाति जानता है कि व्यक्तिगत उत्पादन का प्रभाव मूल्य पर कुछ भी न होगा। चाहे वह पहले से कम या अधिक उत्पादन करने लगे, उस वस्तु के बाजार-भाव में कोई अन्तर न पडेगा। उदाहरण के लिए मान लो कि किसी वस्तु का मूल्य १ रुपया है। जो कुछ माल उत्पादक तैयार करेगा, हर इकाई के बेचने मे उसे १ रुपया मिलेगा। इस हालत मे जब तक सीमात उत्पादन-व्यय १ रुपये से कम होगा, वह और अधिक उत्पादन करता जायगा क्योकि ऐसा करने से उसे लाभ होगा। एक सीमा के बाद उत्पादन का परिमाण बढाने से सीमात उत्पादन-व्यय मूल्य के बराबर पहुच जायगा। यहीं उसके उत्पादन की सीमा होगी। यदि वह इससे अधिक माल तैयार करेगा, तो मूल्य तो उतना ही रहेगा पर सीमान्त

उत्पादन-व्यय मे वृद्धि होती जायगी। इस कारण ऐसा करने से उसे हानि होगी। इससे बचने के लिए वह उत्पादन का परिमाण कम कर देगा। यह काम वह उस समय तक करता जायगा, जब तक कि सीमात उत्पादन-व्यय मूल्य के बराबर नही आ जायगा। जहा पर दोनो बराबर हो जायेगे, वही उसके उत्पादन की सीमा होगी। अगर वह इस सीमा से कम उत्पादन करता है तो उत्पादन की मात्रा बढाने से उसके लाभ मे वृद्धि होगी और यदि वह उस सीमा से अधिक उत्पादन करता है, तो उत्पादन का परिमाण घटाने से उसे लाभ होगा। ऐसा करने से यह हानि को घटा सकता है। अस्तु, प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई उत्पादक उतना माल तैयार करेगा जितने से सीमात उत्पादन-व्यय मूल्य के बराबर हो जाय।

सक्षेप मे, प्रतियोगितापूर्ण स्थिति मे मूल्य के सम्बन्ध मे दो बाते उल्लेखनीय है—एक तो यह है कि किसी वस्तु का मूल्य समस्त मडी मे एक समय मे एक ही होगा, और दूसरे उस वस्तु का सीमात उत्पादन-व्यय और मूल्य दोनो बराबर होगे।

प्रतियोगिता से लाभ और हानिया

(Advantages and Disadvantages of Competition)

स्वतन्त्र प्रतियोगिता से अनेक प्रकार के लाभ होते है। ये लाभ केवल प्रतिद्वन्द्वियो तक ही सीमित नही होते, अपितु समाज के अन्य व्यक्तियो को भी प्राप्त होते है। उद्योग-धन्धो के चुनाव मे पूर्ण स्वतन्त्रता होने से हर एक व्यक्ति उसी काम को अपनायेगा जिसमें वह अपनी अधिक-से-अधिक कुशलता और योग्यता दिखा सकता है। क्योकि ऐसा न करने से वह दूसरो की प्रतियोगिता में ठहर न सकेगा। इससे मानव-शक्ति और समय का पूरा-पूरा उपयोग होता है। इससे श्रम-विभाजन में भी बहुत उन्नति होती है जिसके लाभ से सभी अच्छी तरह परिचित है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वियो मे एक दूसरे से आगे बढने की बराबर होड मची रहती है। इसका परिणाम उत्पादन-क्षेत्र पर बहुत अच्छा पडता है।

इससे नये-नये आविष्कार होते है जिसके फलस्वरूप उत्पादन अच्छा और अधिक होने लगता है। साथ ही वस्तुओ की कीमत भी कम हो जाती है। इस प्रकार प्रतियोगिता से हर एक को लाभ पहुचता है।

सक्षेप में, प्रतियोगिता के मुख्य लाभो को इस प्रकार रखा जा सकता है। प्रतियोगिता के प्रभाव से उत्पादन अधिकतम और उच्च कोटि का होता है, प्रत्येक फर्म सर्वाधिक अनुकूलतम रूप व आकार ग्रहण कर लेती है; उत्पादन-व्यय कम हो जाता है और साथ ही चीजों का बाजार-भाव भी, सबके लिए समान अवसर होने के कारण, धन-वितरण मे न्यायोचित समानता आ जाती है जो हर दृष्टि से आवश्यक और हितकर है। अस्तु, प्रतियोगिता स उत्पादन और वितरण के क्षेत्रो में बहुत लाभ होता है। व्यक्ति और समाज दोनो के विकास और उन्नति म इससे बहुत सहायता मिल सकती है।

प्रतियोगिता के ये लाभ तभी प्राप्त हो सकते है जबकि प्रतियोगिता पूर्ण और स्वस्थ हो। वास्तविक जीवन में प्राय प्रतियोगिता ऐसा भयकर रूप धारण कर लेती है कि हम इसकी अच्छाइयो से निराश ही होना पडता है। इतना ही नही, इसके कारण हम तरह-तरह की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक बुराइयो का सामना करना पडता है। अनियत्रित प्रतियोगिता से उत्पादन अत्यन्त ही अनिश्चित हो जाता है। उत्पादन की मात्रा कभी माग से बहुत अधिक और कभी बहुत कम हो जाती है। इसस व्यापार-व्यवसाय को बहुत धक्का लगता है। श्रमिको को ठीक-ठीक स्थायी रूप से काम नही मिल पाता और अन्तत सभी को इस कारण मुसीबत उठानी पडती है। प्रतियोगिता के कारण उत्पादन और बिक्री के क्षेत्रो मे फ़िजूल-खर्ची बहुत बढ जाती है। उत्पादन के नये-नये तरीको और यन्त्रो को मालूम करने के लिए उत्पादकगण अपना अलग-अलग प्रबन्ध करते है। इसस खर्च बढ जाता है और नये और पुराने तरीके दोनो एक साथ चलते रहते है। यह इसलिए कि जिन उत्पादको को नये तरीके मालूम हो जाते

हैं, वे उसे अपने तक ही सीमित रखते है। अत उस सुधार से सब लाभ नहीं उठा पाते। सामाजिक दृष्टि से यह खर्च बहुत-कुछ अश तक व्यर्थ है। ठीक इस प्रकार माल के विज्ञापन और यातायात पर बहुत अनावश्यक खर्च होता है। विज्ञापन का अपना महत्त्व है, इसमे जानकारी बढती है। लेकिन प्राय प्रतियोगिता की स्थिति मे विक्रेता ग्राहको की जानकारी बढाने के लिए नहीं बल्कि उन्हें अपनी ओर खीचने के लिए तरह-तरह के खर्चीले विज्ञापनों का सहारा लेते है। इसमे उत्पादन-व्यय और फल-स्वरूप मूल्य बढ जाता है।

इसके अलावा यदि हम उत्पादन के गुण की ओर ध्यान दे तो हमें प्रतियोगिता में और भी निराशा होगी। प्रतियोगिता मे ठहरने के लिए तथा अपने लाभ को बढाने के लिए उत्पादक अच्छी, टिकाऊ और लाभ-प्रद वस्तुओ के स्थान पर सस्ती, दिखावटी और हानिकारक चीजें तैयार करने लगते हैं। और जब इससे भी काम नहीं चल पाता तो वे चीजो मे मिलावट करने लगते हैं। असली चीजो की जगह पर नकली चीजें तैयार की जाने लगती है, क्योंकि इन पर खर्च कम पडता है, ये सस्ती होती है। इससे व्यापार का नैतिक आधार टूट जाता है और लोगों के स्वास्थ्य और जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को हराने के लिए बहुत बुरे और अनुचित तरीको को काम मे लाने लग जाते है जिससे प्रतियोगिता "गला-काट" रूप धारण कर लेती है। इसका परिणाम सबके लिए बहुत हानिकारक होता है, खास तौर से जबकि प्रतिद्वन्द्वियो व स्पर्धको मे समानता नही होती। यदि एक शक्तिशाली मिल-मालिक और एक शक्तिहीन मजदूर के बीच प्रतिस्पर्धा हो तो निश्चय ही मजदूर अपने हितो की रक्षा न कर सकेगा। उसे विवश होकर कम मजदूरी तथा अन्य प्रकार के अत्याचारों को सहन करना पडेगा। इससे यह भी स्पष्ट है कि न्यायोचित वितरण के लिए पूर्णरूप से प्रति-योगिता पर निर्भर नही किया जा सकता।

अस्तु, अनियत्रित प्रतिस्पर्धा मे कोई स्थायी लाभ नही होता।

इससे उत्पत्ति अनिश्चित हो जाती है और वितरण की समस्या उलझ जाती है। सामाजिक कल्याण और प्रगति के लिये प्रतियोगिता को सीमित रखना, उस पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। आधुनिक आर्थिक जगत आयोजित आर्थिक विकास की ओर तेजी से बढ़ रहा है, जहां प्रतियोगिता का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता।

QUESTIONS

1 How is the price of a commodity determined under competitive conditions?

2 What is meant by 'perfect competition'? Describe its features

3 What are the advantages and disadvantages of competition?

अध्याय ३३

एकाधिकार और मूल्य

(Monopoly and Value)

एकाधिकार प्रतियोगिता का बिल्कुल उल्टा है। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति, बिक्री या खरीद का अधिकार किसी एक व्यक्ति या फर्म के हाथ में होता है जिसके द्वारा मूल्य पर प्रभाव डाला जा सकता है, तो उसे "एकाधिकार" (monopoly) कहते हैं। एकाधिकारी अपनी तरफ से मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। वह अपने लाभ को बढाने के लिए बाजार-भाव में परिवर्तन ला सकता है, उसे घटा-बढा सकता है। प्रतियोगिता की परिस्थिति मे कोई भी व्यक्ति अपनी तरफ से बाजार-भाव म हेर-फेर नही कर सकता। व्यक्तिगत रुप से मूल्य पर प्रभाव डालने की उसमे कोई शक्ति नही होती। एकाधिकारी के लिए यह सभव है क्योंकि जिस व्यवसाय या धन्धे को वह करता है, उस पर उसका पूरा अधिकार होता है। परन्तु पूर्ण एकाधिकार बहुत कम देखने मे आता है। अधिकाश एकाधिकारियों को किसी न किसी प्रकार की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। इसलिए बाजार पर उनका पूरा अधिकार नही हो पाता।

सब एकाधिकारी व्यवसाय न एक प्रकार के होते है और न ही उनका सगठन एक ढग से होता है। इसलिए एकाधिकार के विभिन्न भेदो का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

एकाधिकार के भेद

(Kinds of Monopoly)

1 स्वामित्व की दृष्टि से एकाधिकार का वर्गीकरण तीन भागो में

किया जाता है। (क) जब किसी एकाधिकार का मालिक कोई एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होता है तो उसे "व्यक्तिगत एकाधिकार" (private monopoly) कहते हैं। (ख) जब किसी एकाधिकार का मालिक सरकार, म्युनिसिपैल्टि या और कोई सार्वजनिक संस्था होती है तो उसे "सार्वजनिक एकाधिकार" (public monopoly) कहते हैं। (ग) जब किसी एकाधिकार का मालिक तो कोई सरकार या सार्वजनिक संस्था हो किन्तु उसका प्रबन्धक कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह हो, तो उसे "अर्ध-सार्वजनिक एकाधिकार" (quasi-public monopoly) कहते हैं।

एकाधिकार का दूसरा वर्गीकरण क्षेत्र के आधार पर किया जाता है। (क) जब किसी एकाधिकार का क्षेत्र केवल एक विशेष नगर या स्थान तक ही सीमित होता है, तो उसे "स्थानीय एकाधिकार" (local monopoly) कहते हैं। (ख) जब किसी एकाधिकार का क्षेत्र सारे देश में फैला हुआ होता है तो उसे "राष्ट्रीय एकाधिकार" (national monopoly) कहते हैं। (ग) और यदि किसी एकाधिकार का क्षेत्र अनेक देशों तक विस्तृत हो तो उसे "अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार" (international monopoly) कहते हैं।

एकाधिकार का एक और वर्गीकरण है जो उसके मूल कारण की दृष्टि से किया जाता है। (क) जब कोई प्राकृतिक पदार्थ परिमित मात्रा में किसी एक विशेष स्थान पर ही पाया जाता है और उस पर किसी का अधिकार हो जाता है, तो उसे "प्राकृतिक" अथवा "नैसर्गिक एकाधिकार" (natural monopoly) कहते हैं, जैसे बगाल में पटसन व दक्षिण अफ्रीका में हीरे। (ख) सार्वजनिक उपयोगिता-सम्बन्धी धन्धों में प्रतियोगिता होने से बहुत हानि होती है। बहुत-से साधन व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं। और साथ ही असुविधाएं भी बहुत बढ़ जाती हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी स्थान पर बिजली देने का काम कई प्रतियोगी कम्पनियों के हाथ में है तो इससे वहां के लोगों को कितनी

असुविधा होगी और व्यर्थ म खर्च होगा, यह आसानी से सोचा जा सकता है। इनसे बचने के लिए जो एकाधिकार स्थापित किया जाता है, उसे "सार्वजनिक एकाधिकार" (social monopoly) कहते हैं, जैसे किसी एक स्थान पर जल, बिजली आदि का एकाधिकार। (ग) जो एकाधिकार किसी व्यक्ति को कानूनन् प्राप्त होता है उसे "कानूनी एकाधिकार" (legal monopoly) कहते हैं। नये आविष्कारों के पेटन्ट और पुस्तकों के कापीराइट कानूनी एकाधिकार क उत्तम उदाहरण है। अधिकांश सार्वजनिक एकाधिकार धन्धों को कानूनी सुरक्षा मिली हुई होती है। (घ) जब कुछ प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायी या व्यापारी आपस म मिलकर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं, तो उसे "स्वेच्छिक एकाधिकार" (voluntary monopoly) कहते हैं। प्राय बड़े-बड़े व्यवसायी प्रतियोगिता के बुरे परिणामों से बचने तथा व्यावसायिक मिलन की अनेक बचतो से लाभ उठाने के लिए आपस में मिलकर अपने काम को एक साथ करने की व्यवस्था कर लेते हैं। इससे उन्हे एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। आधुनिक आर्थिक जगत में इस प्रकार के एकाधिकारो का बड़ा जोर है। सभी देशो में इस तरह के एकाधिकारी व्यवसाय तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। इन पर नियत्रण रखने के लिए अनेक देशो में कानून बनाये गये है।

एकाधिकार-मूल्य
(Monopoly Value)

अब प्रश्न यह है कि एकाधिकार की परिस्थिति म मूल्य कैसे निर्धारित होता है? यह तो सभी को मालूम है कि एकाधिकारी उत्पादक का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ उठाना होता है। यही उद्देश्य प्रतिद्वन्द्वियो का भी होता है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रतियोगिता की परिस्थिति में कोई उत्पादक व्यक्तिगत रूप से मूल्य म परिवर्तन नहीं ला सकता, और न मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक ही हो सकता है। एकाधिकारी के लिए ये बाते सम्भव हैं। वह उत्पादन-मात्रा में परिवर्तन लाकर मूल्य को घटा-बढा सकता है। उसके लिए यह सम्भव है कि

उत्पादन-व्यय से अधिक मूल्य निर्धारित करके विशेष लाभ उठा सके। इस तरह के लाभ को 'एकाधिकारी लाभ' कहा जा सकता है। यह प्रतियोगी उत्पादकों को उपलब्ध नहीं हो सकता।

एकाधिकारी को अधिक से अधिक लाभ पाने के लिए यह सुझाया जा सकता है कि वह ज्यादा से ज्यादा कीमत पर अधिक से अधिक माल बेचे। पर यह उसकी शक्ति के बाहर है। उसके लिए यह सम्भव नहीं कि बिक्री की मात्रा निर्धारित करने के साथ-साथ वह यह भी तय कर सके कि किस मूल्य पर माल को बेचा जाय। वह दोनों काम एक साथ नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि पूर्ति पर उसका अधिकार तो अवश्य होता है, पर माग पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। (एक खास कीमत पर वह कितना माल बेच सकेगा, यह माग पर निर्भर है।) इसलिए वह दोनों में से केवल एक ही बात कर सकता है—चाहे तो वह मूल्य निर्धारित कर ले, या पूर्ति की मात्रा, जो वह बेचना चाहता है।

इससे यह पता चलता है कि मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में एकाधिकारी इतना स्वतन्त्र नहीं है जितना कि साधारणत सोचा जाता है। उसे भी माग और पूर्ति सम्बन्धी बातों पर पूरा-पूरा ध्यान देना पडता है। उसे यह देखना पडता है कि उसकी वस्तु की माग कितनी लोचदार है। यदि माग में अधिक लोच है, तो मूल्य कम रखने से उसे लाभ होगा क्योंकि ऐसा करने से माग में वृद्धि होगी। यदि माग कम लोचदार है तो मूल्य अधिक रक्खा जा सकता है क्योंकि खरीदार माग में विशेष कमी नहीं कर सकते। माग की लोच के साथ-साथ पूर्ति सम्बन्धी बातों पर भी उसे ध्यान देना पडता है। यदि वस्तु का उत्पादन क्रमागत वृद्धि-नियम के अनुसार चल रहा है, तो उत्पत्ति-वृद्धि के साथ सीमान्त लागत में कमी होगी। ऐसी दशा में मूल्य कम रखने से बिक्री बढेगी और एकाधिकारी को लाभ होगा। लेकिन अगर उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास-नियम लागू है, तो उत्पत्ति कम करने से प्रति इकाई खर्च में कमी होगी। ऐसी स्थिति में यदि माग कम लोचदार हुई, तो ऊची कीमत रखने से उसे लाभ होगा।

इन सब बातो को ध्यान में रखते हुए एकाधिकारी वह मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न करेगा जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। वह यह जानता है कि लाभ दो बातो पर निर्भर होता है—(१) प्रति इकाई मूल्य, और (२) बिक्री की मात्रा। दोनो मे से यदि एक अधिक है तो यह आवश्यक नही कि कुल लाभ भी अधिक हो। यदि वह मूल्य बहुत अधिक रखता है, तो माग घट जाने के कारण बिक्री कम होगी। फलस्वरूप कुल लाभ अधिकतम न होगा। दूसरी ओर, यदि वह खूब माल बेचता है, किन्तु प्रति इकाई मूल्य बहुत कम है तो भी कुल लाभ अधिकतम न होगा। अस्तु, एकाधिकारी को न तो बहुत ऊची कीमत रखने से और न बहुत ज्यादा बेचने से ही अधिकतम लाभ मिलेगा। उसे मूल्य और बिक्री के बीच एक ऐसा मिलान खोज करना पडेगा जहा पर अधिकतम लाभ मिल सकता हो। नीचे दिए हुए रेखा-चित्र द्वारा यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि किस स्थान पर मूल्य निर्धारित करने से एकाधिकारी को अधिकतम लाभ मिल सकता है।
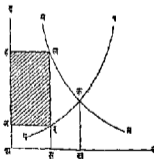
ऊपर के चित्र में माग और पूर्ति की रेखाए एक दूसरे को 'क' स्थान पर काटती है। प्रतियोगिता की परिस्थिति में मूल्य 'क ख' के बराबर होगा क्योकि इस मूल्य पर माग और पूर्ति की मात्राए बराबर

है। एकाधिकारी विशेष लाभ उठाने की दृष्टि से इससे अधिक मूल्य रक्खेगा। मान लो वह 'ल स' मूल्य निर्धारित करता है जो 'क ख' मूल्य से अधिक है। इस मूल्य पर वह 'अ स' सख्या बेच सकेगा क्योंकि खरीदार इस मूल्य पर इतना ही खरीदने को तैयार है। 'अ स' सख्या का कुल उत्पादन व्यय 'अ स र न' आयत के बराबर है। इस सख्या के बेचने से उसे कुल कीमत 'अ स ल ह' आयत के बराबर मिलती है। इन दोनों के घटाने से एकाधिकारी-लाभ मालूम हो सकता है। इस चित्र में रगा हुआ आयत एकाधिकारी-लाभ दर्शाता है। इस तरह 'क ख' के ऊपर और कई आयत बन सकते है। इनमे से एक का क्षेत्रफल सबसे अधिक होगा। उसी स्थान पर एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करेगा।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि एकाधिकारी मूल्य निश्चित करते समय इस बात की खोज करेगा कि किस कीमत से उसे अधिकतम लाभ[1] होगा और अन्त मे वह वही कीमत निश्चित करेगा। इस सम्बन्ध मे इसे माग की लोच, लागत-खर्च और उत्पत्ति के नियमो का विशेष ध्यान रखना पड़ेगा।

एकाधिकारी के लिए यह अनिवार्य नही है कि अपनी वस्तु को वह एक ही कीमत पर बेचे। वह अपनी वस्तु को भिन्न-भिन्न स्थानो पर, भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगो के लिए अथवा भिन्न-भिन्न उपयोगो के लिए अलग-

---

१ एकाधिकारी का लाभ उस समय अधिकतम होगा जबकि उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होगी। कुल आय में जो एक और इकाई के बेचने से वृद्धि होती है, उसे सीमान्त आय (marginal revenue) कहते हैं। जब तक सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर न होगे, एकाधिकारी को उत्पादन की मात्रा बढ़ाने या घटाने से लाभ होगा। जब दोनो बराबर हो जेगें तो उसका लाभ अधिकतम हो लेगा।

अलग कीमत पर बेच सकता है। परन्तु दामों में इस प्रकार का भेद-भाव हमेशा सम्भव नहीं होता। इसके सम्भव होने के लिए दो बातें जरूरी हैं। एक तो यह कि वस्तु की वह मात्रा जो कम भाव वाले बाजार में बिकती है, ऊंचे भाव के बाजार में दुबारा से न बेची जा सके। दूसरी शर्त यह है कि महंगी मंडी के खरीदार सस्ती मंडी में आकर अपनी मांग की पूर्ति न कर सकें। जब तक ये दोनों बातें मौजूद न होंगी, तब तक एकाधिकारी दामों में किसी भी प्रकार का भेद-भाव न कर सकेगा। और यदि वह ऐसा करने का प्रयत्न करेगा तो उसके लाभ में वृद्धि न होगी। वह असफल रहेगा।

दामों में भेद-भाव करना उन एकाधिकारियों के लिए बहुत सरल होता है जो सेवा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दूसरों की आवश्यकताओं की तृप्ति करते हैं जैसे डाक्टर, वकील आदि। प्राय बड़े डाक्टर गरीबों से कम फीस लेते हैं और अमीरों से अधिक। ऐसा करने में वे गरीबों की भलाई ही नहीं करते बल्कि अपने लाभ को भी बढ़ाते हैं। यदि वे सभी के लिए एक-सी फीस रखें तो बहुत से मरीज गरीब होने के कारण उनके पास न आ सकेंगे। फलस्वरूप उनकी दवा या सेवा कम बिक सकेगी। इसलिए वे विभिन्न श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिए विभिन्न दाम या फीस रख सकते हैं। यहां यह सम्भव नहीं है कि गरीब आदमी को भेजकर, धनी आदमी अपने रोग की दवा करवा सके अथवा कोई व्यक्ति उस दवा को खरीद कर दुबारा दूसरों के हाथ बेच सके।

उपर्युक्त बातों से एकाधिकार और प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण में जो अन्तर है, वह स्पष्ट हो जाता है। प्रतियोगिता की परिस्थिति में किसी वस्तु की कीमत उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होगी। कोई भी प्रतियोगी विक्रेता व्यक्तिगत रूप से मूल्य पर प्रभाव नहीं डाल सकता। बाजार-भाव से अधिक कीमत उसे नहीं मिल सकती। एकाधिकार की परिस्थिति में किसी वस्तु का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय से साधारणत अधिक होगा क्योंकि तभी एकाधिकारी-

लाभ अधिकतम हो सकेगा। एकाधिकारी बाजार-भाव पर प्रभाव डाल सकता है। पूर्ति को घटा-बढा कर वह बाजार-भाव मे परिवर्तन ला सकता है। दूसरा अन्तर यह है कि एकाधिकारी दामो मे भेद-भाव कर सकता है, वह विभिन्न खरीदारो से विभिन्न दाम ले सकता है। परन्तु प्रतियोगिता की परिस्थिति मे ऐसा सम्भव नही है। उस समय किसी वस्तु का एक समय मे एक ही मूल्य होगा। इन विभिन्नताओ के होते हुए भी यह नही समझ लेना चाहिए कि एकाधिकार और प्रतियोगिता की परिस्थितियो में मूल्य-निर्धारण मे कोई सैद्धान्तिक भेद है। अन्तत किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होगा, चाहे बाजार मे एकाधिकार की परिस्थितिया हो, अथवा प्रतियोगिता की।

एकाधिकार-मूल्य—अधिक या कम ?
(Monopoly Value—High or Low?)

साधारणत प्रतियोगिता की परिस्थिति मे किसी वस्तु का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होता है और एकाधिकार की परिस्थिति मे मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय से अधिक होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि एकाधिकार की परिस्थिति मे मूल्य अपेक्षाकृत ऊचा होता है। पर इसका यह आशय नही कि हमेशा और अवश्य ही कीमत ऊची होगी। कई बातो के प्रभाव से एकाधिकार-मूल्य कम भी रह सकता है। एकाधिकार से अनेक प्रकार की सुविधाए मिलती है, इससे तरह-तरह की बचत होती है। एकाधिकारी अपने व्यवसाय को बहुत ऊचे पैमाने पर कर सकता है जिससे विभिन्न प्रकार के लाभ होते है। माल के विज्ञापन, बिक्री आदि मे भी उसे बहुत बचत होती है। इन सबके प्रभाव से लागत-खर्च कम बैठता है। फलस्वरूप सीमान्त उत्पादन-व्यय से अधिक होने पर भी एकाधिकार-मूल्य कम हो सकता है। फिर भी साधारणत एकाधिकार-मूल्य अपेक्षाकृत ऊचा होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि एकाधिकार-मूल्य सदा बहुत ऊचा होगा। कारण, ऊचे दाम से हमेशा अधिकतम लाभ प्राप्त नही होता। ऊचे दाम

मे बिक्री कम हो जाने का डर रहता है। इसलिए एक सीमा के बाद एकाधिकारी दाम को और अधिक न बढ़ायेगा क्योंकि ऐसा करना उसके लिए लाभप्रद न होगा।

एकाधिकारी की शक्ति की सीमा

(Limits to the Power of Monopolist)

प्रायः यह ख्याल किया जाता है कि एकाधिकारी का बाजार पर पूर्ण अधिकार होता है। अपनी वस्तु के लिए जो मूल्य वह चाहे निश्चित कर सकता है, उस पर कोई बन्धन नही होता। लेकिन वास्तविक जीवन मे एकाधिकारी की शक्ति असीमित नही होती। उसके सामने कुछ न कुछ बन्धन होते है जिसके कारण वह बहुत ऊची कीमत नही ले सकता। सर्वप्रथम, उसे नये प्रतिद्वन्द्वियो से सतर्क रहना पडता है। उसे सदा यह भय लगा रहता है कि कही उस क्षेत्र म नये प्रतिद्वन्द्वी न आ जाय और उसका एकाधिकार छिन जाय। दूसरे, उसे इस बात का भी डर रहता है कि ऊची कीमत के कारण उसकी वस्तु के बदले म दूसरी वस्तुए उपयोग मे न लाई जाने लगे। तीसरे, उसे यह भी खतरा रहता है कि कही जनता मे असतोष न फैल जाय और सरकार उस व्यवसाय पर नियत्रण लगा दे अथवा उसे अपने हाथ मे ले ले। इन बातो के भय से एकाधिकारी बहुत ऊची कीमत निर्धारित न करेगा।

एकाधिकार से लाभ तथा हानिया

(Advantages and Disadvantages of Monopoly)

एकाधिकार मे होने वाले लाभो की सूची बहुत लम्बी है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'गला-काट' प्रतियोगिता से तरह-तरह की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक हानिया होती है। एकाधिकार इस तरह की प्रतियोगिता को दूर करके समाज को उन हानियो और कष्टो से बचाता है। साधारणत एकाधिकारी अपने धन्धे को एक प्रतियोगी की अपेक्षा कही अधिक बडे पैमाने पर करता है। फलस्वरूप बडे पैमाने की उत्पत्ति से जितने भी लाभ है, वे उसे प्राप्त होते है। प्रतियोगिता

जनित स्थिति में उत्पादन-क्षेत्र में बहुत उतार-चढाव होता रहता है। इसमें माग और पूर्ति के बीच का सामजस्य बराबर टूटता रहता है जिससे लोगो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। एकाधिकार द्वारा यह भी दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्दियो को अपने माल के अलग-अलग विज्ञापन पर बहुत खर्च करना पड़ता है। हर एक अपने सामान को दूर और नजदीक की सभी मडियों में भेजने का प्रयत्न करता है जिससे लागत-खर्च बहुत बढ जाता है। खोज और अनुसधान का भी अलग-अलग प्रबन्ध किया जाता है। जो कोई भी नई चीज का आविष्कार कर लेता है, उसे अपने तक ही सीमित रखता है, दूसरो को मालूम नहीं होने देता। इसका परिणाम यह होता है कि एक नई चीज मालूम हो जाने पर भी उसी चीज की खोज मे दुबारा-तिबारा खर्च होता रहता है। इस तरह समाज का बहुत-सा समय, शक्ति और धन व्यर्थ नष्ट होता है। एकाधिकार की परिस्थिति मे ये सब बाते दूर हो जाती है। एकाधिकारी सस्था की शाखाओ के बीच मडी का यथोचित बटवारा कर दिया जाता है। हर एक शाखा अपनी नियत मडी मे ही माल बेच सकती है, अन्य मडियो में नहीं। इससे बहुत बचत होती है। विज्ञापन को उसका उचित स्थान दे दिया जाता है। खोज और अनुसधान का कार्य एक केन्द्रित स्थान पर होता है और प्रत्येक शाखा से सर्वोत्तम साधनो को प्रयोग में लाया जाता है। इन सब कारणों से उत्पत्ति में बहुत वृद्धि होती है और उत्पादन-व्यय घट जाता है।

पर इसका यह आशय नहीं कि एकाधिकार हानिरहित है। इसमें जो हानियां उत्पन्न होती है, उनमें कुछ तो बहुत ही भयकर है। यह ठीक है कि एकाधिकार की परिस्थिति मे माल तैयार करने और उसके बेचने में काफी बचत होती है। पर प्रश्न यह है कि क्या एकाधिकारी इन बचतो से लाभ उठाकर वस्तु का मूल्य कम कर देता है। साधारणत यह देखा जाता है कि वह मूल्य कम नहीं करता। वह वस्तुए सस्ती तो अवश्य बनाता है, लेकिन लोगो को वह चीजे सस्ती नहीं बेचता। जो कुछ उत्पादन

और बेचने में बचत होती है, उसे वह अपनी जेब में रखता है। कभी-कभी तो यहा तक देखने में आता है कि एकाधिकारी मूल्य के गिरने के भय से तैयार की हुई वस्तु का कुछ भाग जान-बूझ कर नष्ट कर देता है। ब्रेजिल में काफी के साथ यह बात अक्सर देखने मे आई है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारी अपना अधिकार जमाये रखने के लिए तरह-तरह के अनुचित साधनों का प्रयोग करता है। यदि कोई उसके साथ प्रतियोगिता करने के लिए सिर उठाता है तो उसके कुचलने मे वह कोई कसर नही छोड़ता। अनेक बाधाए उसके मार्ग मे डालता है जिससे वह पनप न सके, वह बाजार छोड कर भाग जाय। इस तरह प्रतियोगिता के भय से मुक्त होकर वह बड़े आराम से अपना कारोबार चलाता है।

संक्षेप में, एकाधिकार से निम्नलिखित हानिया होती है। (१) अधिक से अधिक लाभ उठाने के उद्देश्य से एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा घटा देते हैं। इससे उपभोक्ता को कम मात्रा में वस्तुए मिलती हैं और उन्हे अधिक दाम भी देने पड़ते है। कम उत्पादन से उपभोक्ता की तृप्ति और संतोष मे ही कमी नही होती, बल्कि उत्पत्ति के साधनों की माग भी घट जाती है। इससे बेकारी फैलती है, और उत्पत्ति के साधनो का समुचित उपयोग नही हो पाता। (२) एकाधिकार से व्यवसाय में शिथिलता आ जाती है। प्रतियोगितारहित परिस्थिति में उत्साह न रहने के कारण उन्नति में बाधा पड़ती है। आविष्कार और वैज्ञानिक अनुसंधान का कार्य भी फीका पड़ जाता है। (४) एकाधिकार होने पर उस क्षेत्र मे नये लोग आसानी से नही आ पाते, जिससे समाज को उन लोगों की योग्यताओं और शक्तियों का पूरा-पूरा लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। (४) यही नही, एकाधिकार के द्वारा धन-वितरण मे बहुत विषमता आ जाती है, जिसके कारण अनेक आर्थिक, सामाजिक और नैतिक बुराइया पैदा होती हैं। (५) एकाधिकार की परिस्थितियों मे राजनीतिक भ्रष्टाचार का भी बहुत डर रहता है। एकाधिकारियों के पास बहुत अधिक साधन होते हैं। इनके द्वारा वे विभिन्न अनुचित तरीको से राजनीतिक नेताओं, संसद् के

सदस्यों और न्यायाधीशों को अपने वश में लाने का भरसक प्रयत्न करते हैं जिससे कानून उनके पक्ष में पास होते रहें और बाजार उनकी मुट्ठी में बने रहे।

इन हानियों को देखते हुए एकाधिकार पर सरकारी नियन्त्रण होना समाज की प्रगति और कल्याण के लिए बहुत जरूरी है। सभी देशों में सरकार इस ओर काफी ध्यान देती है।

QUESTIONS

1 What is monopoly? Explain briefly the different kinds of monopoly

2 How is price determined under monopoly? Explain it with the help of a diagram

3 Is monopoly price necessarily higher than competitive price? Are there no checks on the power of a monopolist?

4 What are the main advantages and defects of monopoly?

अध्याय ३४

मुद्रा

(MONEY)

आजकल संसार के सभी सभ्य देशों में मुद्रा का चलन है। वर्तमान समय में विनिमय, मूल्यमापन और लेन-देन का लगभग सारा कार्य इसी के माध्यम द्वारा होता है। मुद्रा के रूप में ही लोगों को पारिश्रमिक दिया जाता है, वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, मूल्यों की माप और तुलना होती है, तथा इसी के आधार पर सब प्रकार का हिसाब-खाता रखा जाता है। निस्सदेह मुद्रा आधुनिक आर्थिक जगत की एक प्रमुख विशेषता है। अत वर्तमान अर्थ-व्यवस्था को भली प्रकार समझने के लिए मुद्रा सम्बन्धी बातो की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। सर्वप्रथम मुद्रा कहते किसे हैं, इसी को ही ले लिया जाय।

मुद्रा की परिभाषा

(Definition of Money)

वैसे तो विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिसे सभी स्वीकार करते हो, फिर भी मुद्रा की परिभाषा इन शब्दो मे की जा सकती है मुद्रा वह वस्तु है जो बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के सर्वग्राह्य होती है, जो विनिमय-माध्यम का कार्य करती है तथा जिसके देने से हम पूर्णरूप से ऋणमुक्त हो सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा विनिमय के माध्यम तथा मूल्य-मापन का कार्य करने वाली सर्वग्राह्य वस्तु होती है। यदि किसी स्थान पर किसी वस्तु को सर्वमान्यता या सर्वग्राह्यता प्राप्त रहती है, यदि विनि-

मय, कर्ज व लेन-देन में लोग उसे बिना किसी सन्देह अथवा सकोच के स्वीकार करते हैं, तो वह मुद्रा है। जैसे हम भारत में रिजर्व बैंक के नोटों और रुपयों को सब प्रकार के विनिमय के लेन-देन में निस्सन्देह स्वीकार करते हैं। अत ये सब मुद्रा हैं। इस परिभाषा के अनुसार चेक, हुण्डी आदि साख-पत्र मुद्रा नही हैं। कुछ अश तक ये विनिमय के साधन का कार्य अवश्य करते हैं लेकिन इनमे सर्वग्राह्यता का गुण नही है। लोग चेक आदि साख-पत्रो को बिना सोच-विचार व देने वाले व्यक्ति की बिना जानकारी के कर्ज अथवा माल के भुगतान में स्वीकार नही करते। सर्वग्राह्यता का गुण न होने से इन्हे पूर्ण रूप मे मुद्रा नही मान सकते। मुद्रा की प्रमुख विशेषता, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, यह है कि विनिमय और लेन-देन के कार्य मे वह निस्सकोच सर्वग्राह्य हो।

ऊपर दी हुई परिभाषा मे यह स्पष्ट है कि मुद्रा किसी एक वस्तु को नही कहते। मुद्रा के लिए यह जरूरी नही है कि वह सोने-चादी अथवा अन्य किसी विशेष पदार्थ की बनी हुई हो। यदि हम मुद्रा के इतिहास पर दृष्टि डाले तो हम देखेगे कि भिन्न-भिन्न समय और स्थान पर अनेक प्रकार की वस्तुए मुद्रा के तौर पर प्रयोग की जा चुकी हैं जैसे कौड़िया, पशु, चमडा, अनाज आदि। आज सोने चादी के सिक्के और कागज के नोट मुद्रा के रूप में प्रचलित है। सभव है भविष्य मे मुद्रा का कार्य किसी और वस्तु व वस्तुओ को सौंप दिया जाय। अस्तु, मुद्रा का आशय किसी खास वस्तु से नही है, कोई भी वस्तु मुद्रा बन सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि वह मुद्रा का कार्य करे। वह विनिमय के माध्यम और मूल्यमापन का कार्य करे और निस्सकोच सर्वग्राह्य हो। यहा यह पूछा जा सकता है कि सर्वग्राह्यता के लिए क्या यह आवश्यक है कि मुद्रा में स्वत मूल्य या उपयोगिता हो? शुरू-शुरू मे तो यह अवश्य जरूरी था किन्तु अब ऐसी बात नही रही। लोग इतने आगे बढ गये है और मुद्रा के कार्य से इतने भलीभाति परिचित हो चुके है कि उन्हे इस बात की चिन्ता नही रहती कि मुद्रा किस वस्तु की बनी हुई है और उसमे वास्तविक

मूल्य है या नहीं। उदाहरण के लिए कागज के नोटों को ले लो। इनमें कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। फिर भी लोग इन्हें लेन-देन के कार्य में बिना किसी हिचक के स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें यह विश्वास होता है कि दूसरे भी उन नोटों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहेंगे। मुद्रा का यही प्रधान कार्य है। यह विनिमय का माध्यम है। यह एक क्रय-शक्ति है, एक चिह्न, मोहर या टिकट है जिसके द्वारा इच्छित वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं। इसका कार्य मनुष्य की आवश्यकताओं को सीधे तौर से तृप्ति करना नहीं है। अस्तु, मुद्रा के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उस वस्तु में उपयोगिता हो। चाहे वह वस्तु किसी भी प्रकार की हो, चाहे उसमें और कोई उपयोगिता हो या नहीं, यदि वह विनिमय के माध्यम और मूल्य-मापन का कार्य करती है तो वह मुद्रा है। हां, यह बात अवश्य है कि यदि उस वस्तु में मुद्रा के अलावा और कोई उपयोगिता व मूल्य है, तो वह आसानी से अधिक सर्वग्राह्य होगी।

मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

मुद्रा की परिभाषा करते समय हम ऊपर कह चुके हैं कि मुद्रा का सम्बन्ध किसी विशेष प्रकार की वस्तु से नहीं बल्कि मुद्रा के कार्यों से है। वास्तव में मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है। अत: मुद्रा के प्रधान कार्यों को समझे बिना हमें मुद्रा के स्वरूप की पूर्ण कल्पना नहीं हो सकती। मुद्रा के अनेक कार्य हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं —

(१) **विनिमय-माध्यम** (Medium of Exchange)—मुद्रा का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि यह विनिमय का माध्यम होती है। यह विनिमय का साधन है। वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय इसी के माध्यम द्वारा होता है। हम अपनी वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा के बदले में बेचते हैं और फिर उस मुद्रा से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य वस्तुएं अथवा सेवाएं खरीदते हैं। मुद्रा के माध्यम द्वारा विनिमय-कार्य सरल हो जाता है और वस्तु-विनिमय अथवा प्रत्यक्ष विनिमय

(barter) की सबसे बड़ी कठिनाई,—आवश्यकताओ के दुहेरे सगम व मेल का अभाव—,दूर हो जाती है।

(२) मूल्यमापन या मूल्यमान का साधन (Measure or Standard of Value)—मुद्रा का दूसरा प्रधान कार्य मूल्य-मापन का कार्य है। जिस प्रकार दूरी नापने के लिए गज, वजन नापने के लिए मन, सेर, छटाक आदि है, इसी प्रकार अन्य वस्तुओ का मूल्य मुद्रा मे नापा जाता है, अर्थात् मुद्रा मे प्रकट किया जाता है। मुद्रा मूल्य मापने का साधन है। इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का मूल्य नापा जाता है। मुद्रा के इस कार्य से वस्तुओ के परस्पर मूल्यो की तुलना करने तथा उनके मूल्य निश्चित करने में बड़ी सुविधा होती है। फलस्वरूप विनिमय का कार्य अधिक सुगम हो जाता है।

(३) मूल्य-सचय (Store of Value)—मुद्रा का तीसरा प्रमुख कार्य मूल्य-सचय है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुल आय को वर्तमान में ही खर्च न करके उसका कुछ भाग भविष्य के उपयोग के लिए बचाना चाहता है। यह कार्य वस्तुओ का सग्रह करके सफलतापूर्वक नही किया जा सकता। कारण, वे अधिक समय तक सग्रह नही रखी जा सकती। यह भी सभव है कि भविष्य में उन वस्तुओ की आवश्यकता न रहे। मुद्रा इस कठिनाई को दूर कर देती है। मुद्रा एक क्रय-शक्ति है। इससे जब और जो वस्तु चाहे, हम आसानी से खरीद सकते है। इसके अलावा मुद्रा के मूल्य मे अधिक स्थायित्व (stability) भी रहता है। अत मुद्रा मूल्य के सचय करने मे बहुत सहायक होती है। भविष्य मे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हम कुछ मुद्रा जोडकर रखते है।

मुद्रा मूल्य-सचय का सुलभ साधन होने के कारण अथवा क्रय-शक्ति होने के कारण आसानी से एक व्यक्ति या स्थान से दूसरे व्यक्ति या स्थान को किसी भी समय भेजी जा सकती है। अत मुद्रा मूल्य के हस्तातरण

(transfer of value) का कार्य भी करती है।

(४) स्थगित देयमान (Standard for Deferred Payments)—स्थगित अथवा भविष्यकालीन लेन-देनो के भुगतान का कार्य भी मुद्रा ही करती है। आधुनिक व्यापारिक लेन-देन मे साख का अर्थात् ऋण व उधार का बहुत महत्व है। हम प्रत्येक वस्तु के बदले में उसी समय भुगतान नही करते बल्कि भविष्य के लिए स्थगित कर देते हैं, अर्थात् उसका भुगतान कुछ समय के बाद भविष्य मे करते हैं। इस प्रकार के भुगतान को भविष्यकालीन अथवा स्थगित देय कहते हैं। इस कार्य के लिए भी मुद्रा उपयोग में लाई जाती है। मुद्रा एक क्रय-शक्ति है। इसमे अन्य वस्तुएं आसानी से खरीदी जा सकती हैं, उनका मूल्य भी मुद्रा में बतलाया जाता है। इसके अलावा मुद्रा के मूल्य म अधिक स्थायित्व भी रहता है। फलस्वरूप स्थगित देयमान का कार्य जितनी सुगमता और ठीक प्रकार से मुद्रा कर सकती है, उतनी सुगमता से यह कार्य अन्य वस्तुओं द्वारा नही हो सकता। इस कारण भावी लेन-देनो का भुगतान मुद्रा के माध्यम द्वारा होता है। इससे व्यापार में, भावी लेन-देन के कार्य में बहुत सुविधा होती है।

मुद्रा के उपर्युक्त चार मुख्य कार्यों को अंग्रेजी की दो पक्तियों के पद्य मे बडी अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। वे पक्तिया ये हैं —

"Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store"

मुद्रा के कार्यों के विवेचन से मुद्रा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट है। मुद्रा किसी विशेष वस्तु को नही कहते, अपितु जो वस्तु मुद्रा के उपर्युक्त कार्यों को करती है, वही मुद्रा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मुद्रा हमारा साध्य नहीं है; यह तो एक साधन है। हम मुद्रा केवल इसलिए चाहते है कि इसमें क्रय-शक्ति है, इसके द्वारा हम इच्छित वस्तुओं पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

अच्छी मुद्रा-वस्तु की विशेषताएँ
(Qualities of Good Money-Material)

यदि हम मुद्रा के इतिहास का अध्ययन करें तो देखेंगे कि समय-समय पर तम्बाकू, पशु, चमड़ा, कौड़ी इत्यादि वस्तुओं का उपयोग मुद्रा के रूप में हुआ है और अन्त में सर्वमान्य मुद्रा-वस्तु के रूप में सोना तथा चादी का उपयोग होने लगा और आज भी होता है। यह पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों हुआ ? क्यों तम्बाकू, पशु, कौड़ी इत्यादि वस्तुओं के स्थान पर सोना और चादी को मुद्रा के लिए ग्रहण किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि मुद्रा के कार्यों को भली-भांति और पूर्ण रूप से करने के लिए वस्तु में अनेक आवश्यक गुण व विशेषताएं होनी चाहिए। ये गुण तम्बाकू, पशु, कौड़ी जैसी वस्तुओं में बहुत कम पाये जाते हैं। फलस्वरूप मुद्रा के रूप में इनका उपयोग धीरे-धीरे बन्द होता गया और अन्त में इनके स्थान पर सोना और चादी को ग्रहण किया गया क्योंकि अच्छी मुद्रा-वस्तु में जो गुण होने चाहिए, वे सब इन दोनों धातुओं में पाये जाते हैं।

अच्छी मुद्रा-वस्तु में निम्नलिखित गुण व विशेषताएं होनी चाहिए —

(१) **सर्वमान्यता** (General Acceptability)— सर्वप्रथम अच्छी मुद्रा-वस्तु में सर्वमान्यता का गुण होना चाहिए। वह वस्तु ऐसी हो कि सभी उसे लेन-देन के कार्य में बिना किसी जाच या सन्देह के स्वीकार करने को तैयार हो। यदि किसी वस्तु में सर्वमान्यता अथवा सर्वग्राह्यता का गुण नही है, तो वह मुद्रा का कार्य नही कर सकती; अर्थात् मुद्रा के रूप में वह उपयोग में न आ सकेगी।

वैसे तो सरकारी कानून से मुद्रा-वस्तु में सर्वमान्यता की विशेषता आ जाती है, फिर भी यदि उसमें उपयोगिता और आन्तरिक मूल्य है तो वह अधिक आसानी से सर्वत्र सर्वग्राह्य होगी। अत मुद्रा-वस्तु में, मुद्रा के अतिरिक्त, कुछ अपनी अलग उपयोगिता और मूल्य होना चाहिए जिससे उसे सभी नि सकोच स्वीकार करने को तैयार रहे।

(२) वहनीयता (Portability)—मुद्रा-वस्तु में वहनीयता का भी गुण होना चाहिए, अर्थात् मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसे सुगमता से और कम खर्च से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सके। इस गुण के बिना वह वस्तु मूल्य-हस्तांतरण का कार्य न कर सकेगी जो मुद्रा का एक प्रमुख कार्य है। इस गुण के होने के लिए यह जरूरी है कि वह वस्तु वजन में तो हल्की हो लेकिन मूल्य में भारी हो अर्थात् कम वजन में उसका मूल्य अधिक हो। सोना और चांदी में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है।

(३) अविनाशिता (Durability)—अच्छी मुद्रा-वस्तु का तीसरा आवश्यक गुण अविनाशिता अथवा टिकाऊपन है। उसमें टिकाऊपन का गुण होना आवश्यक है जिससे अधिक समय तक चलन में रहने से उसमें घिसावट अधिक न हो। यदि वह वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली है तो वह मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर सकेगी, विशेषरूप से मूल्य-संचय, स्थगित देयमान और मूल्य हस्तांतरण का कार्य।

(४) एकरूपता (Homogeneity)—मुद्रा वस्तु में एक-रूपता अथवा समरूपता भी होनी चाहिए। अर्थात् उसमें यह गुण होना चाहिए कि यदि समान वजन व आकार के उसके अनेक टुकड़े किये जाय तो उनका मूल्य एक ही हो। उनमें छांटने और चुनने की जरूरत न हो और लोग यह न कह सकें कि हम अमुक टुकड़ा व सिक्का लेंगे और अमुक नहीं। यदि वस्तु में एकरूपता नहीं है तो उसके हर टुकड़े की अलग-अलग जांच करनी पड़ेगी और फलस्वरूप उसके चलन में रुकावट होगी और वह वस्तु मुद्रा का कार्य ठीक प्रकार से न कर सकेगी।

(५) विभाज्यता (Divisibility)—मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि मूल्य अथवा उपयोगिता में किसी प्रकार की हानि के बिना उसका विभाजन हो सके जिससे थोड़ी रकम के लेन-देन के उपयोग में भी वह आ सके। यदि किसी वस्तु में विभाज्यता का गुण नहीं है अथवा

विभाजन करने से उसका मूल्य कम हो जाता है, तो विभिन्न रकमों के लेन-देन में उसका उपयोग सम्भव न हो सकेगा, फिर वह किस प्रकार विनिमय-माध्यम का कार्य ठीक प्रकार से कर सकेगी। उदाहरण के लिए पशुओं अथवा बहुत कीमती पत्थरों को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करने से उनका मूल्य बहुत गिर जाता है। इसलिए इनके द्वारा मुद्रा का कार्य भली-भांति नहीं हो सकता। सोना और चांदी में विभाज्यता का गुण है। मूल्य में कमी न होते हुए, इनके छोटे-बड़े टुकड़े आसानी से हो सकते हैं।

(६) **सुज्ञेयता अथवा परिचयता** (Cognizability)—मुद्रा-वस्तु *ऐसे पदार्थ की बनी होनी चाहिए कि वह बिना किसी कठिनाई* के शीघ्र पहिचानी जा सके। वह ऐसी हो कि देखने, छूने अथवा आवाज से वह जल्दी पहिचान में आ जाय और अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता आसानी से जानी जा सके जिससे धोखे की सम्भावना कम रहे।

(७) **कुट्टयता** (Malleability)—साथ ही मुद्रा-वस्तु ऐसे पदार्थ की होनी चाहिए कि उस पर कलापूर्ण चित्र, चिह्न, मोहर इत्यादि आसानी से छापे जा सकें। वह न तो इतनी मुलायम हो कि उस पर *जो चिह्न इत्यादि बनें वे शीघ्र ही मिट जाय और न इतनी सख्त हो* कि निशान व मोहर आदि छापते समय वह टूट जाय।

(८) **मूल्य-स्थिरता** (Stability in Value)—उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त, मुद्रा-वस्तु में मूल्य-स्थायित्व होना आवश्यक है। उसके मूल्य में स्थिरता होनी चाहिए जिससे वह मुद्रा के मूल्य-संचय तथा स्थगित देयमान के कार्यों को कर सके। यदि उसके मूल्य में उतार-चढाव होता रहता है, तो लोग उसे मूल्य-सचय के लिए इस्तेमाल न करेंगे क्योंकि हानि होने की सभावना रहेगी और न ही लोग भावी भुगतान के लिए उसका उपयोग करेंगे क्योंकि मूल्य के उतार-चढाव के कारण देनदार अथवा लेनदार किसी न किसी को हानि होती ही है। अत मुद्रा-वस्तु के मूल्य में स्थायी स्थिरता रहना आवश्यक है।

उपर्युक्त लगभग सभी गुण एक साथ सोना और चादी में पाये जाते हैं। यही कारण है कि सभी देशो मे मुद्रा-वस्तु के रूप में इनका उपयोग शुरू हुआ। धीरे-धीरे मुद्रा के रूप मे सोने का चलन हटता जा रहा है और इसके स्थान पर सस्ती धातुओ और पत्र व कागजी मुद्रा का उपयोग बढ रहा है।

धात्विक मुद्रा
(Metallic Money)

धात्विक मुद्रा आज-कल सिक्को के रूप मे प्रयोग की जाती है। सिक्के अधिकतर गोल आकार के होते है। इनके दोनो तरफ सरकारी चिह्न और मोहर बने होते है जिनसे उनकी शुद्धता और मूल्य का बोध होता है। किन्तु पहले-पहल जब धात्विक मुद्रा का चलन शुरू हुआ था, तो उसका यह रूप न था। उस समय धातुए, विशेषकर सोना-चादी, छड या ईटो के रूप मे मुद्रा का कार्य करती थी। इससे व्यापार मे बडी असुविधा होती थी क्योकि भिन्न-भिन्न वजन और मूल्य होने के कारण हर बार उनकी जाच और तौल करनी पडती थी। कुछ दिनो बाद बडे-बडे व्यापारी, जिनकी मण्डी में काफी साख होती थी, अपनी मोहरे उन पर छापने लगे जिससे उनके वजन और मूल्य का पता आसानी से चल सके। इससे विनिमय-क्षेत्र मे कुछ असुविधा तो अवश्य दूर हुई, लेकिन धातु के टुकडो को घिसने, खुरचने आदि की बेईमानी चलती रही। इस तरह की ठगबाजी से व्यापारियों को अक्सर बहुत धोखा होता था। इन बुराइयो को दूर करने के लिए धीरे-धीरे सभी देशो में सरकार द्वारा टकण अथवा सिक्का ढलाई का काम होने लगा। आजकल केवल सरकारी टकसाला मे ही सिक्के ढाले जाते है। यह कार्य अब बहुत वैज्ञानिक ढग से किया जाता है। सिक्को के किनारे कटे और कुछ उठे होते है जिनसे दो तरह के लाभ होते है। एक तो यदि कोई किनारो को काटे या खुरचे तो शीघ्र ही पता चल जाता है, और

दूसरे सिक्के पर्याप्त समय तक चलते रहते हैं और बहुत कम घिसते हैं। सिक्कों के दोनो तरफ बारीक कलापूर्ण चित्र बने रहते हैं जिससे उनकी नकल न की जा सके। लेकिन इतनी उन्नति होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि जाली मुद्रा बनाने का काम खत्म हो गया है। अब भी लोग प्राय धोखा खा जाते हैं।

सिक्का ढलाई अथवा टकण
(Coinage)

टकण अथवा सिक्का ढलाई स्वतन्त्र हो सकती है या परिमित। जब लोगों को यह अधिकार होता है कि वे धातु ले जाकर सरकारी टकसाल मे किसी भी मात्रा मे सिक्के बनवा सकते हैं, तो उसे "स्वतन्त्र टकण व सिक्का ढलाई" (Free Coinage) कहते हैं। इसके विपरीत जब सिक्का ढलाई का काम केवल सरकारी खातों पर ही होता है और जनता सरकारी टकसाल से सिक्के नहीं बनवा सकती, तो उसे "प्रतिबन्धित टकण व सिक्का ढलाई" (Restricted coinage) कहते हैं।

यहा यह ध्यान रखना चाहिए कि "स्वतन्त्र सिक्का ढलाई" का यह अर्थ नही है कि सरकार टकण का काम मुफ्त करती है। जब सरकार सिक्का ढलाई के लिए लोगो से कुछ भी शुल्क (fee or charge) नही लेती तो उसे "नि शुल्क टकण" (gratuitous coinage) कहते हैं। जब यह शुल्क सिक्का बनाने में जो खर्च होता है उसी के बराबर होता है, तो उसे "टकण-शुल्क" (brassage) कहते हैं। जब सरकार वास्तविक खर्च से अधिक शुल्क लेती है तो उसे टकण-लाभ (seigniorage) कहते हैं।

पत्र व कागजी मुद्रा
(Paper Money)

पत्र व कागजी मुद्रा का चलन काफी पहले से चला आ रहा है, किन्तु आजकल इसका चलन बहुत बढ गया है। आज हर सभ्य देश में पत्र-

मुद्रा का उपयोग होता है। यहा तक कि अब इसका चलन सभ्यता का चिह्न माना जाता है। साधारणतया पत्र-मुद्रा को छापने का अधिकार देश के केंद्रीय बैंक को होता है, परन्तु कुछ देशो मे सरकार स्वय पत्र-मुद्रा को छापती है। सन् १९३५ से भारतवर्ष में पत्र-मुद्रा के छापने का पूर्णाधिकार रिजर्व बैंक को है जो यहा का केन्द्रीय बैंक है। इसके पहले सरकार की ओर से नोट छापे जाते थे।

कागजी मुद्रा निम्नलिखित तीन प्रकार की होती है —

(१) प्रतिनिधिक पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)—पत्र-मुद्रा का यह सबसे सरल रूप है। प्रतिनिधिक पत्र-मुद्रा जमा की हुई रकम, धातु या धातु-मुद्रा का एक प्रमाण-पत्र व सर्टिफिकेट होती है। नोटो का अकित मूल्य खजाने में सुरक्षित धातु के बराबर होता है। अर्थात् जितना सोना-चादी या धातु-मुद्रा कोष व खजाने म जमा की जाती है, उतने ही मूल्य के नोट छापे जाते है। इस तरह की पत्र-मुद्रा को, जो खजाने मे जमा किए हुए मूल्य के प्रमाण-पत्र होती है, प्रतिनिधिक पत्र-मुद्रा कहते है। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के अच्छे उदाहरण अमरीकी स्वर्ण तथा रजत प्रमाण पत्र (American gold and silver Certificates) है जिनके बदले में उतनी ही रकम का सोना या चादी अमरीकी खजाने मे रखा जाता था।

(२) परिवर्तनीय-पत्र मुद्रा (Convertible or Fiduciary Paper Money)—इसका आशय उस पत्र-मुद्रा से है जिसे किसी भी समय माग करने पर प्रामाणिक मुद्रा या सोना-चादी में बदला जा सकता है। लोगो को यह अधिकार प्राप्त होता है कि जब भी चाहे वे पत्र-मुद्रा को धातु-मुद्रा में बदलवा या भुना सकते है। लेकिन इस परिवर्तन के लिए यह जरूरी नहीं है कि जितने मूल्य के नोट चलन में हो, उसी के बराबर धात्विक मुद्रा खजाने मे रक्खी जाय क्योकि सभी लोग पत्र-मुद्रा को एक साथ भुनाने के लिए न आयेगे। उसका एक

थोड़ा भाग ही एक समय में परिवर्तन के लिए लाया जायगा। इसलिए बैंक या सरकार, जितने मूल्य के नोट छापती है, उसका केवल एक भाग या अंश ही धातु-मुद्रा या धातु के रूप में रखती है। फिर भी उनके परिवर्तन या भुनाने में कोई दिक्कत नहीं होती।

(३) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible or Fiat Paper Money)—इसका आशय उस प्रकार की पत्र-मुद्रा से है जो अपरिवर्तनीय होती है, जिनको धातु-मुद्रा या सोना-चाँदी में बदला या भुनाया नहीं जा सकता। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के बदले में सरकार धातु या धातु-मुद्रा देने के लिए कानूनन बाध्य नहीं होती। इस तरह की पत्र-मुद्रा अधिकतर आर्थिक संकट या युद्ध के समय में सरकार द्वारा चलाई जाती है। यह मुद्रा सरकार के हुक्म से चलती है। इसका चलन और मूल्य सरकार की आज्ञा पर निर्भर रहता है। इसलिए इसे "हुक्मी मुद्रा" (Fiat Money) भी कहा जाता है। लोग इसे इसलिए स्वीकार करते हैं कि सरकार पर उनका विश्वास होता है।

पत्र-मुद्रा के लाभ और हानियाँ

(Advantages and Disadvantages of Paper Money)

पत्र-मुद्रा के उपयोग से विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। सर्व-प्रथम इससे बड़ी बचत होती है। इसके उपयोग से सिक्कों की घिसाई बच जाती है। साथ ही सिक्कों के बनाने में जो श्रम और पूँजी लगानी पड़ती है, उसमें भी काफी बचत होती है क्योंकि पत्र-मुद्रा के बनाने में बहुत थोड़ी लागत लगती है। इस प्रकार से बचे हुए श्रम, पूँजी और अन्य साधनों को दूसरे आवश्यक और लाभप्रद स्थानों में लगाया जा सकता है। इसके अलावा नोट बहुत हल्के होते हैं। इनको आसानी से और कम खर्च में दूर-दूर ले जाया जा सकता है। तीसरे, ये किसी भी मूल्य के बनाये जा सकते हैं। इसलिए इनके गिनने, रखने और ले जाने में बड़ी सुविधा होती है। बड़ी से बड़ी रकमों का भुगतान आसानी से पत्र-मुद्रा के द्वारा

किया जा सकता है। चौथे, पत्र-मुद्रा में बहुत अधिक लोच शक्ति होती है। माग के अनुसार इसकी मात्रा आसानी से घटाई-बढाई जा सकती है। धातु-मुद्रा के साथ ऐसी बात सम्भव नही है ।

लेकिन पत्र-मुद्रा से कुछ असुविधाये भी होती है। खास तौर से जब इसकी उचित ढग से व्यवस्था नही की जाती। सबसे बडा भय इसके अत्यधिक प्रसरण (over issue) का है। इसके छापने मे लागत बहुत कम लगती है। इससे बराबर खतरा लगा रहता है कि कही सरकार इसे अधिक मात्रा में न छाप दे। सकट के समय सरकार के सामने मनचाही मात्रा में नोट चलाने का लालच रहता है। जब नोट अत्यधिक मात्रा में चलने लगते है, तो ये अपरिवर्तनीय हो जाते है। फलस्वरूप इनका मूल्य तेजी से गिरने लगता है। व्यापार में हलचल मच जाती है। चीजों की कीमतें निरन्तर बढने लगती है जिसके कारण मजदूर वर्ग, उपभोक्ताओ और बधी आय पाने वाले व्यक्तियो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। सट्टेबाजी का बाजार गर्म हो जाता है। व्यवसाय का नैतिक आधार टूट जाता है और इस तरह अन्त में सभी को हानि पहुचती है।

इसके अलावा पत्र-मुद्रा के प्रचलन का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। जिस देश की वह मुद्रा होती है, वही पर वह चलती है, उसके बाहर नही। दूसरे देश के लोगो के लिए इसका कोई मूल्य नही होता। वे इसे भुगतान में स्वीकार नही करते। इस कारण विदेशी व्यवसाय मे कठिनाई पडती है। यही नही, पत्र-मुद्रा का और कोई दूसरा उपयोग नहीं होता। यदि मुद्रा का रूप इससे छीन लिया जाय तो इसका मूल्य कुछ भी न रह जायगा। इसमें अविनाशिता का गुण नही है। तेल या पानी से भीग जाने पर नोट शीघ्र खराब हो जाते है। इसके अतिरिक्त धातु-मुद्रा की अपेक्षा पत्र-मुद्रा में मूल्य-स्थिरता की कमी है। मुद्रा-प्रसार के कारण इसका मूल्य स्थायी नही रहता, अपितु बदलता रहता है।

मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

मुद्रा का कई दृष्टि से वर्गीकरण किया जा सकता है। यहां हम केवल दो-तीन भेदों पर ही विचार करेंगे।

(१) वास्तविक तथा हिसाब की मुद्रा (Actual Money and Money of Account)--वास्तविक मुद्रा उसे कहते हैं जो प्रचलन में है और जिसको देकर सब भुगतान चुकाये जाते हैं। इसी के द्वारा सब कर्ज और ठेके आदि का भुगतान होता है, और इसी के रूप में क्रय-शक्ति (purchasing power) रक्खी जाती है। दूसरी ओर हिसाब की मुद्रा वह है जिसमें हिसाब-खाता रक्खा जाता है, जिसमें कर्ज, ठेकों और कीमतों को अंकित या प्रकट किया जाता है। वास्तविक और हिसाब की मुद्रा का भेद इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है। हिसाब की मुद्रा एक वर्णन या नाम है और वास्तविक मुद्रा स्वयं वह वस्तु है जिसका वर्णन किया जाता है। हिसाब की मुद्रा में सब कर्जों और कीमतों को प्रकट किया जाता है, लेकिन उनका भुगतान वास्तविक मुद्रा में चुकाया जाता है।

(२) कानून ग्राह्य और ऐच्छिक मुद्रा (Legal Tender Money and Optional Money)--जिस मुद्रा को स्वीकार करने के लिए लोग कानूनन बाध्य होते हैं, उसे कानून व विधि-ग्राह्य मुद्रा (legal tender money) कहते हैं। कानून अथवा विधि-ग्राह्यता सीमित हो सकती है और असीमित भी। जब कोई मुद्रा किसी भी मात्रा में कानूनन चुकाई जा सकती है और लेने वाले मना नहीं कर सकते, तो उसे असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा कहते हैं। किन्तु यदि वह एक खास रकम तक ही कानून-ग्राह्य है, उसके बाद नहीं, तो वह सीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा कहलायेगी। भारतवर्ष में रुपया असीमित कानून ग्राह्य मुद्रा है। जिस भी मात्रा में लोग चाहें, इसके द्वारा अपना हिसाब

चुका सकते हैं। देश में इसे स्वीकार करने से कोई भी मना नहीं कर सकता। इकन्नी तथा दुवन्नी केवल १० रुपये तक ही कानून-ग्राह्य है। इससे अधिक मात्रा में लोग लेने में इन्हें इन्कार कर सकते हैं।

एच्छिक मुद्रा (optional money) वह है जो विनिमय का माध्यम होती है, जो भुगतान चुकाने में साधारणतः काम आती है लेकिन कानून की दृष्टि से ग्राह्य नहीं होती। इसको स्वीकार करने के लिए किसी को कानून से बाध्य नहीं किया जा सकता। यह तो लोगों की इच्छा पर निर्भर है कि कर्ज आदि का भुगतान करते समय उसे ले या न लें। बैंक-नोट, चेक, आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण है। वर्तमान समय में इस प्रकार की मुद्रा का काफी चलन है।

(३) प्रामाणिक और साकेतिक मुद्रा (Standard and Token Money)—प्रामाणिक मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है। यह मूल्य का मान होती है। सब कर्ज, ठेके और वस्तुओं के मूल्य इसी में अंकित और निश्चित किये जाते हैं। वास्तव मे यह हिसाब की मुद्रा होती है। रुपया भारतवर्ष का प्रामाणिक मुद्रा है। साधारणतः यह सोना या चादी का बना हुआ सिक्का होता है। यह असीमित कानून ग्राह्य होता है और इसका अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य के बराबर होता है।

इसके विपरीत साकेतिक मुद्रा वह होती है जिसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। इसके बनाने का अधिकार केवल सरकार को ही होता है। सरकार द्वारा इसका प्रचलन होता है और इसका मूल्य स्थिर रखने के लिए इसे सीमित मात्रा मे चलाया जाता है। प्रायः यह सीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा होती है।

इस दृष्टि से हमारे रुपये की दशा अजीब है। यह देश की प्रधान मुद्रा है। सब मूल्य इसी मे अंकित और निश्चित किये जाते हैं। हिसाब वगैर भी इसी में रखे जाते हैं। यह असीमित मात्रा मे कानून ग्राह्य है। ये सब प्रामाणिक मुद्रा के लक्षण हैं। लेकिन साथ ही इसमें सांकेतिक

मुद्रा के भी कुछ लक्षण मौजूद हैं। जैसे इसका अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य में कहीं अधिक है। इसमें केवल ५० फीसदी ही चांदी है, बाकी मिलावट है। इसकी ढलाई स्वतन्त्र नहीं है। सरकार द्वारा ही इसका प्रचलन होता है। इन्हीं कारणों से रुपये को प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का कहा जाता है।

ग्रेशम का मुद्रा सम्बन्धी सिद्धान्त
(Gresham's Law of Money)

'ग्रेशम के मुद्रा सम्बन्धी सिद्धान्त को, संक्षेप में, इन शब्दों में व्याख्या की जा सकती है "बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से भगा देती है।" सर टामस ग्रेशम इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ के अर्थ-सलाहकार थे। कहा जाता है कि उन्होंने ही इस सिद्धान्त की स्थापना की थी। लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। ग्रेशम के पहले और कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त का उल्लेख किया था, खास तौर से निकोलस ओरेस्मे ने जो फ्रांस के चार्ल्स पंचम बादशाह के मन्त्री थे। किसी तरह इसका नाम "ग्रेशम का सिद्धान्त" पड़ गया। मुख्य रूप से मेक्ल्यूड (Maclude) ने इसे ग्रेशम के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित किया।

इस सिद्धान्त के अनुसार "जब किसी देश में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएं एक साथ चलन में होती हैं और दोनों पूर्ण कानून ग्राह्य होती हैं, तब बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से भगा देती है, अर्थात् उसका चलन खत्म कर देती है।" यहां यह ध्यान रहे कि बुरी मुद्रा का अर्थ जाली व खोटे सिक्कों से नहीं है। इसका आशय उन मुद्राओं व सिक्कों से है जिनका धातु-मूल्य हल्का, कम व सस्ता होता है। उदाहरण के लिए यदि चांदी के सिक्के चलन में हैं तो नये व भारी सिक्कों को अच्छी मुद्रा कहेंगे और पुराने, घिसे हुए सिक्कों को बुरी मुद्रा। अब प्रश्न यह है कि बुरी मुद्रा किस तरह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से भगा देती है ? इसको समझना कठिन नहीं है। सर्वप्रथम, यदि घिसे हुए सिक्कों के देने में कोई

अडचन नहीं है, तो लोग अच्छे और नए सिक्के अपने पास रखने की कोशिश करेंगे और पुराने तथा घिसे हुए सिक्कों को प्रचलन में रक्खेंगे। जिस किसी को मूल्य-सचय करने की इच्छा होगी, वह अवश्य ही नये और भारी सिक्कों को ही चुनकर सग्रह करेगा। फलस्वरूप कुछ भारी सिक्के लोगों के सचय व जमा करने के कारण प्रचलन से हट जायगे। दूसरे, जब अच्छी और बुरी दोनो मुद्राए एक साथ चलन मे होती है तब लोग अच्छी मुद्राओ को प्राय पिघला डालते है और फलस्वरूप बुरी मुद्रा ही प्रचलन में रह जाती है और अच्छी मुद्रा पिघलाने के कारण खत्म हो जाती है। यदि किसी को मुद्रा पिघला कर धातु की आवश्यकता है तो वह निश्चय ही नये और भारी सिक्कों को ही पिघलायेगा क्योंकि उनसे पुराने सिक्कों की अपेक्षा अधिक धातु-मूल्य होता है। पुराने सिक्कों का वजन घिसने इत्यादि के कारण कुछ कम हो सकता है। तीसरे, भारी व नये सिक्के विदेशी व्यापार के भुगतान मे उपयोग होकर प्रचलन से बाहर हो जाते है। इसका कारण यह है कि एक देश की मुद्रा को विदेशी उसके लिखित मूल्य पर नहीं बल्कि उसके धातु-मूल्य के हिसाब से लेते है, अर्थात् वे तौलकर वजन के हिसाब से सिक्के लेते है। अच्छी और पुरानी मुद्रा का लिखित व विनिमय मूल्य तो एक ही होता है, लेकिन उनके वास्तविक व धातु-मूल्य मे थोडा अन्तर होता है। यदि विदेशी व्यापारियो को नये सिक्कों में भुगतान किया जाय तो भारी हानि के कारण अपेक्षाकृत कुछ कम सिक्को में ही काम चल जायगा। इसलिए लोग पूरे वजन के नये सिक्के बाहर भेजेंगे। इस प्रकार अच्छी मुद्रा जमा करने, पिघलाने तथा विदेशी माल के भुगतान करने मे लुप्त हो जाती है और प्रचलन में बुरी मुद्रा ही रह जाती है। इसी के आधार पर यह कहा जाता है कि बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से हटा देती है।

यह सिद्धान्त कुछ परिस्थितियों मे लागू नहीं होता। एक तो उस समय जबकि अच्छी और बुरी मुद्रा की कुल पूर्ति मुद्रा की कुल माग से कम हो। यदि मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी कुल माग से कम है अर्थात् जितनी मुद्रा की

समाज मे आवश्यकता है उससे मुद्रा की मात्रा व पूर्ति कम है, तो अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की मुद्राए एक साथ प्रचलन मे बनी रहेंगी। ग्रेशम का सिद्धान्त क्रियाशील न हो सकेगा। दूसरे, यदि सब लोग बुरी मुद्रा को स्वीकार करने से मना करने लगे तो उस दशा में भी यह सिद्धान्त क्रियाशील न होगा। उस परिस्थिति में बुरी मुद्रा स्वय प्रचलन से बाहर हो जायगी।

मुद्रा का महत्त्व
(Importance of Money)

आधुनिक आर्थिक समाज म मुद्रा को महान् महत्त्व प्राप्त है। वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का ढाचा बहुत-कुछ इसी पर आश्रित है। मुद्रा आज हमारे जीवन का इतना आवश्यक अग बन गई है कि इसके बिना शायद कोई भी काम ठीक प्रकार से नही चल सकता। निस्सदेह इसकी अनुपस्थिति मे प्रगति धीमी पड जायगी और सभ्य जीवन की अनेक अच्छाइयो और विशेषताओ से हमे हाथ धोना पडेगा।

उपभोग, विनिमय, वितरण आदि सभी क्षेत्रो में मुद्रा के उपयोग से बहुत सहायता मिलती है। इसके माध्यम द्वारा उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुए जब और जितनी मात्रा मे चाहे खरीद सकता है और इस प्रकार वह अपनी आय से अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकता है। अधिकाधिक तृप्ति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार खरीद की जाय, अर्थात् खरीदी गई हुई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताए एक समान हो। यह कार्य मुद्रा के द्वारा ही ठीक प्रकार से सम्भव हो सकता है। मुद्रा ने वस्तु-विनिमय की अनेक कठिनाइयो को दूर कर दिया है। वस्तुओ और सेवाओ का विनिमय, उनके मूल्यो का निर्धारण और तुलना मुद्रा के माध्यम द्वारा बहुत सरल और सुविधाजनक हो गया है। इसके कारण मण्डियो का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। मुद्रा के उपयोग के कारण तथा विनिमय पद्धति में सुधार होने से ही बडे-बडे कारखाने तथा बडे पैमाने पर उत्पादन

सम्भव हो सका है और उद्योगों में श्रम-विभाजन का अधिकाधिक सहारा लिया जा सका है। आजकल अनेक व्यक्तियों को मिलाकर, अनेक साधनों को जुटाकर उत्पादन-कार्य चलाया जाता है। व्यक्तियों अथवा साधनों का यह एकत्रीकरण मुद्रा के द्वारा ही सम्भव हुआ है। श्रम, पूंजी, आदि की सेवाओं का मूल्य मुद्रा के रूप म आसानी से दिया जा सकता है। इसके अलावा मुद्रा के द्वारा पूंजी के निर्माण मे बहुत सहायता मिलती है और उसकी गतिशीलता भी बढ जाती है। पूंजी की वृद्धि और गतिशीलता देश की आर्थिक उन्नति और विकास के लिए कितनी आवश्यक है, यह सभी को मालूम है। इसके बिना उत्पादन कार्य ठीक तरह से नहीं चल सकता और न ही देश आर्थिक उन्नति के पथ पर तेजी से बढ सकता है।

मुद्रा से एक और लाभ है। इसके द्वारा लोगों की माग का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है और उसके अनुसार यह निश्चित किया जा सकता है कि कौन-कौन सी वस्तुए, कब और कितनी मात्रा में तैयार की जायें। इस तरह माग और पूर्ति के बीच उचित तालमेल अथवा सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, मुद्रा के उपयोग से स्पर्धा तथा अनुबन्ध (Contract) ने रूढियों को बहुत-कुछ हटा दिया है और फलस्वरूप मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र बना दिया है। अस्तु, मुद्रा का महत्व तथा इसके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले लाभ स्पष्ट है। इसे आर्थिक उन्नति और सभ्यता का चिह्न माना जाने लगा है।

कहने का साराश यह नहीं है कि मुद्रा में कोई दोष नहीं है। इतने सब लाभ होते हुए भी मुद्रा म कुछ दोष अवश्य है। आर्थिक कार्यों का आधार तथा मूल्य का मान होने के कारण, इसके मूल्य के थोड़े-से भी उतार-चढाव से समाज पर भयकर परिणाम होता है। बाजार की तेजी-मदी, दोषपूर्ण वितरण तथा व्यापारिक अनैतिकता आदि बातो मे मुद्रा का

काफी हाथ होता है। फिर भी मुद्रा कोई बुरी वस्तु नहीं है। इसके दोषो को समुचित व्यवस्था द्वारा दूर किया जा सकता है।

QUESTIONS

1 What is money ? Explain its main functions
2 What are the qualities of good money ? Why are gold and silver regarded as good money ?
3 What are the chief merits and demerits of paper money ?
4 State and explain Gresham's Law of money Under what conditions does it not hold good ?
5 Distinguish between standard and token money Examine in this respect the position of the Indian Rupee
6 Write short notes on —

   (a) Actual money and money of account

   (b) Legal tender money and optional money
7 Bring out the importance of money in the present day economic society

अध्याय ३५

मुद्रा का मूल्य

(Value of Money)

किसी वस्तु के मूल्य का अर्थ यह होता है कि उसके बदले या विनिमय में दूसरी वस्तु कितनी मिल सकती है। जैसे यदि एक मेज के बदले म दो कुर्सिया मिलें तो हम कहेंगे कि मेज का मूल्य दो कुर्सियों के बराबर है। ठीक यही अर्थ मुद्रा के मूल्य का होता है। इसका आशय मुद्रा की क्रय-शक्ति (purchasing power) मे है। जो कुछ चीज मुद्रा के बदले मे मिल सकती है या खरीदी जा सकती है, वही मुद्रा का मूल्य है। मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी खरीदने की शक्ति मूल्य-स्तर (price level) पर निर्भर होती है। यदि मूल्य-स्तर ऊंचा है, तो मुद्रा की एक इकाई से कम चीज खरीदी जा सकेगी। फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम होगा। और यदि मूल्य-स्तर नीचा है, तो मुद्रा की एक इकाई से अधिक मात्रा मे चीजे मिल सकेंगी। इस कारण मुद्रा का मूल्य अधिक होगा। इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य या क्रय-शक्ति और मूल्य-स्तर मे विरोधी सम्बन्ध होता है। जब एक घटता है तब दूसरा बढता है।

सूचक-अंक

(Index Numbers)

मुद्रा मूल्य का मापक है। सब वस्तुओ का मूल्य इसी में निश्चित किया जाता है और मूल्यों की तुलना आदि भी इसी के द्वारा होती है। फिर भला मुद्रा के मूल्य को कैसे मापा जाय? प्रत्यक्ष रूप मे यह सम्भव नहीं है क्योंकि मुद्रा स्वय ही मूल्य का माप है। कोई ऐसी एक वस्तु नही है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे मुद्रा के मूल्य की माप और तुलना की जा

सके। हां, परोक्ष रूप में मूल्य-स्तर अथवा कीमत को मालूम करके मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूल्य-स्तर और मुद्रा के बीच उल्टा सम्बन्ध है। जब मूल्य-स्तर गिरता है, तो मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है और जब मूल्य-स्तर बढ़ता है तो मुद्रा का मूल्य गिरता है। अस्तु, मूल्य-स्तर के रुख को देखकर मुद्रा के मूल्य का बोध हो सकता है। इस तरह से मुद्रा के मूल्य को मालूम करने के तरीके को अर्थशास्त्र में 'सूचक-अंक' अथवा 'मूल्य-निर्देशांक' कहते हैं।

सूचक-अंक मूल्य-स्तरों की एक सूची होती है जिससे मूल्य-स्तर में जो समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं मालूम किए जा सकते हैं और फिर उनके द्वारा मुद्रा के मूल्य का पता चल सकता है। यह एक कोष्ठक के रूप में तैयार किया जाता है। तैयार करते समय एक आधार-काल (base period) ले लिया जाता है और कुछ चीजें चुन ली जाती हैं। उन चीजों के सामने उनके मूल्य लिख लिए जाते हैं और उनका औसत निकाल लिया जाता है। फिर अन्य कालों के मूल्यों को उस आधार-काल के मूल्यों से तुलना करके मूल्य-स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को मालूम किया जा सकता है। एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा।

वस्तुएँ	१९३५ (आधार काल)		१९५३	
	कीमत	सूचक अंक	कीमत	सूचक अंक
गेहूँ	४ रु० प्रतिमन	१००	१८ रु० प्रति मन	४५०
घी	४० ,, ,,	१००	२०० ,, ,, ,,	५००
दूध	५ ,, ,,	१००	३० ,, ,, ,,	६००
कपड़ा	८ आना प्रति गज	१००	२ ,, प्रति गज	४००
ईंधन	१२ ,, प्रति मन	१००	३ ,, प्रति मन	४००
चीनी	१० रु० प्रति मन	१००	३५ ,, ,, ,,	३५०
औसत		६०० ÷ ६ = १००		२७०० ÷ ६ = ४५०

इस सूचक-अंक मे सन् १९३५ और सन् १९५३ के कुछ वस्तुओ के मूल्यो की तुलना की गई है। सन् १९३५ में वस्तुओं का मूल्य १०० के बराबर था और सन् १९५३ मे यह बढकर ४५० हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि मूल्य-स्तर में ३५० प्रतिशत की वृद्धि हुई, अर्थात् मुद्रा के मूल्य मे ३५० प्रतिशत की घटी हुई। इस तरह विभिन्न कालो मे मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनो को मालूम किया जा सकता है।

सूचक-अंक तैयार करने मे अनेक कठिनाइया सामने आती है। इस कारण इनको तैयार करते समय बहुत देखभाल और सावधानी की जरूरत होती है। सर्वप्रथम कठिनाई आधार-काल को चुनते समय उठती है। यह बहुत जरूरी है कि आधार काल पूर्ण रूप से साधारण और सामान्य हो। दूसरी कठिनाई वस्तुओं के चुनाव के सम्बन्ध में होती है। दिक्कत इस बात में होती है कि सूचक-अंक तैयार करने के लिए कौन-कौन और कितनी वस्तुए चुनी जाय। निःसदेह वस्तुओं को चुनते समय हमें यह देखना होगा कि सूचक-अंक किस बात के लिए, किस वर्ग के लोगो के लिए तैयार किये जा रहे है। उसी के अनुसार वस्तुओं का चुनाव करना होगा। यह आवश्यक है कि जो वस्तुए चुनी जाय, वे उस वर्ग के लोगो के उपयोग में आने वाली वस्तुओ का उचित रूप से प्रतिनिधित्व कर सकें। उन्ही वस्तुओ को सूचक-अंक में शामिल करना चाहिए जिनकी उस वर्ग के लोगो मे अधिकाधिक माग हो। फिर कीमतो के सम्बन्ध मे भी कठिनाई उत्पन्न होती है। वह यह है कि थोक मूल्यो को लिया जाय या फुटकर मूल्यों को? यहा भी हमें यही देखना होगा कि सूचक-अंक किस उद्देश्य से बनाये जा रहे है, यदि सूचक-अंक जीवन-स्तर का खर्च मापने के लिए बनाये जा रहे है तो फुटकर मूल्यो को लेना अच्छा होगा। कारण, साधारण उपभोक्ता वस्तुओ को फुटकर मूल्यो पर खरीदते है, थोक मूल्यो पर नही। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त औसत निकालने की कठिनाई रहती है कि कौन सी पद्धति का प्रयोग किया जाय। औसत निकालने की भिन्न-भिन्न विधिया है और उनसे भिन्न-भिन्न परिणाम निकल सकते है।

मूल्य-निर्देशाक अथवा सूचक-अक के बनाने से विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते है। इनकी सहायता से मूल्य-स्तर अथवा क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तन मालूम किये जा सकते है। इन परिवर्तनो की जानकारी बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा भिन्न-भिन्न समय पर लोगो के जीवन-स्तर के परिवर्तनो को जाना जा सकता है। इसमें यह मालूम हो सकता है कि लोगो की आर्थिक दशा सुधर रही है या नही और उसके अनुसार आर्थिक नीति मे समुचित परिवर्तन लाया जा सकता है। जनता की आय तथा श्रमिको के वेतन मे क्रय-शक्ति के परिवर्तन से क्या-कितना अन्तर पडता है, इसकी जानकारी मे मजदूरी एव आय मे आवश्यक समायोजन (adjustmant) करना सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार दीर्घकालीन ऋणो के न्यायपूर्ण भुगतान करने मे भी सूचक-अक सहायक हो सकते है क्योकि इनके द्वारा क्रय-शक्ति की कमी या बढती का माप मिलता है। कीमतो के परिवर्तन के कारण व्यापार और उद्योग पर क्या प्रभाव पडता है, इसकी जानकारी सूचक-अक से हो सकती है, और फिर इसके आधार पर मूल्य-स्तर स्थिर रखने तथा व्यापार मे स्थायित्व लाने के लिए उचित नीति अपनाई जा सकती है। अस्तु, हर दृष्टि से सूचक-अक बहुत उपयोगी होते है। यही कारण है कि आज सभी सभ्य देशो में विभिन्न प्रकार के सूचक-अक तैयार किये जाते है।

मुद्रा का मूल्य-निर्धारण

(Determination of Value of Money)

मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है। ठीक इसी तरह मुद्रा का मूल्य भी निर्धारित होता है। अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी माग और पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है। लेकिन मुद्रा की माग और पूर्ति में कुछ खास बाते है जिनके कारण मुद्रा के मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त को एक अलग वर्ग में रक्खा जाता है। सक्षेप में, हम

यहा मुद्रा की माग और पूर्ति का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

मुद्रा की माग—मुद्रा विनिमय का माध्यम है। इससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जा सकती है। इसलिए मुद्रा की माग विनिमय की आवश्यकता के कारण अथवा अन्य वस्तुओ की माग के कारण होती है। जितनी कम या अधिक विनिमय की आवश्यकता होगी या व्यापार का परिमाण होगा, मुद्रा की माग उतनी ही कम या अधिक होगी। व्यापार के परिमाण में वृद्धि होने से मुद्रा की माग बढेगी और व्यापार के कम होने पर, मुद्रा की माग घटेगी। लेकिन जितनी वस्तुए उत्पन्न की जाती है, उन सभी का मुद्रा द्वारा विनिमय नही होता। कुछ तो उत्पादक स्वय ही उपभोग कर लेते है और कुछ का प्रत्यक्ष रूप से विनिमय हो लेता है। इनसे मुद्रा की माग पैदा नही होती। उत्पादन के केवल उसी भाग से मुद्रा की माग निश्चित होती है जिसका विनिमय मुद्रा से होता है। मुद्रा की माग के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि मुद्रा की माग की लोच समानुपात (unitary) होती है। अन्य वस्तुओ की माग की लोच म इस विशेषता का होना आवश्यक नही है। इसका अर्थ, सक्षेप मे, यह होता है कि मुद्रा की पूर्ति और उसकी क्रय-शक्ति का गुणनफल एक समान रहता है। इसी के आधार पर मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त स्थापित है।

मुद्रा की पूर्ति—मुद्रा की कुल मात्रा को मुद्रा की पूर्ति कहते है। इसमें सिक्के, नोट, और बैंको के जमा भी शामिल है। साथ ही हमे मुद्रा के चलन के वेग (velocity of circulation) को भी ध्यान में रखना होगा। जितनी बार मुद्रा की एक इकाई का एक निश्चित काल में विनिमय अथवा हस्तातरकरण होता है, वह चलन का वेग कहलाता है। मुद्रा की मात्रा जो चलन में है, उसको चलन के वेग से गुणा करने पर जो गुणनफल निकलेगा, वही मुद्रा की वास्तविक पूर्ति होगी। जैसे यदि १०० रु० चलन मे है, और प्रत्येक रुपया पाच बार उपयोग

अथवा हस्तान्तरित होता है, तो मुद्रा की कुल पूर्ति १००×५=५०० रु० होगी।

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

(Quantity Theory of Money)

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति और उसके मूल्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बतलाता है कि अन्य बातों के यथास्थिति रहने पर मुद्रा का मूल्य मुद्रा की पूर्ति के उलटे अनुपात में घटता-बढ़ता है। मुद्रा की पूर्ति यदि २० प्रतिशत मे बढ़ा दी जाय, तो अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर मुद्रा का मूल्य २० प्रतिशत से घट जाएगा और मूल्य-स्तर २० प्रतिशत से बढ़ जायगा। इसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति आधी कर दी जाय तो मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा और वस्तुओं की कीमतें आधी हो जायगी।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लो चलन में कुल १०० रु० हैं और बिक्री के लिए लाई हुई वस्तुओं की संख्या भी १०० है। साथ ही यह भी मान लो कि प्रत्येक वस्तु का क्रय-विक्रय मुद्रा में होता है और हर रुपया केवल एक बार हस्तान्तरित होता है। ऐसी दशा में औसत कीमत एक रुपये होगी। मान लो कि अब रुपये की मात्रा दुगुनी हो जाती है और वस्तुओं की मात्रा या संख्या उतनी ही रहती है। ऐसा होने पर औसत कीमत २ रुपये हो जायगी और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा। यदि रुपये की मात्रा घटाकर ५० कर दी जाय, तो मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा और औसत कीमत आधी रह जायगी। इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन होने से मुद्रा के मूल्य में उसी अनुपात में लेकिन विरोधी दिशा में और वस्तुओं की कीमतों में उसी अनुपात में सीधा परिवर्तन होता है। संक्षेप मे, मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त यही बतलाता है।

साधारणत इस सिद्धान्त को बीजगणित के समीकरण के रूप मे

स्पष्ट किया जाता है। *पहले इसका रूप इस प्रकार था—

$$म\ व = प\ ट, \text{ अथवा } प = \frac{म\ व}{ट}$$

यहां म का अर्थ मुद्रा की मात्रा से, व का चलन के वेग से, प का मूल्य-स्तर से और ट का व्यापार की मात्रा से है। इस समीकरण के दो पक्ष हैं (१) मुद्रा का पूर्ति-पक्ष (म व) और वस्तुओं अथवा माग का पक्ष (प ट)। ये दोनों पक्ष अवश्य ही बराबर होंगे। व्यापार की मात्रा को कीमतों से गुणा करने पर जो गुणनफल आयेगा (अर्थात् प ट) वह निश्चय ही मुद्रा की कुल पूर्ति (अर्थात् म व) के बराबर होगा। लेकिन धातु-मुद्रा के अलावा बैंक-मुद्रा भी विनिमय के कार्यों में उपयोग होती है। इसलिए बैंक-मुद्रा और उसके चलन के वेग को भी मुद्रा की कुल पूर्ति म शामिल करना आवश्यक है। यदि बैंक-मुद्रा म१ है और उसके चलन का वेग व१ है तो इस सिद्धान्त को इस रूप में रक्खा जा सकता है

$$म\ व + म^1\ व^1 = प\ ट$$

$$\text{अथवा} \quad प = \frac{म\ व + म^1\ व^1}{ट}$$

इस समीकरण मे प परिणाम है और बाकी सब अश कारण हैं। मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त यह बतलाता है कि एक निश्चित समय में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से ट, व और व१ म कोई परिवर्तन नहीं होता। वे स्थायी रहते है, बदलते नहीं। साथ ही म और म१ के बीच का अनुपात भी वैसा ही बना रहता है। इस कारण म म जो परिवर्तन होगा, ठीक वही परिवर्तन प अर्थात् मूल्य-स्तर में होगा। और चूंकि मूल्य-स्तर और मुद्रा

---

*$M\ V = P\ T$, or $P = \frac{M\ V}{T}$

बाद मे इसका रूप $MV + M'V' = P\ T$

$$\text{or } P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

का मूल्य एक दूसरे के विपरीत घटते-बढ़ते हैं, इसलिए मुद्रा के मूल्य में उल्टे अनुपात में परिवर्तन होगा। समझने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है।

मान लो म=३००, व=३, म^1=१०० व^1=२ और ट=४०० है। चूंकि म व+म^1 व^1=प ट, इसलिए २००×३+१००×२=प×४०० होगा। समीकरण के दोनों पक्ष बराबर तो होने ही, फलस्वरूप प=२ होगा। प पर प्रभाव देखने के लिए म और म^1 को दुगुना कर दो लेकिन अन्य बातों (व, व^1 और ट) में कोई परिवर्तन न हो।

४००×३+२००×२=४×४००

दोनों पक्षों को बराबर रखने के लिए प को अवश्य ही दुगुना होना पड़ेगा। अस्तु *अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से मूल्य-स्तर म सीधे उसी अनुपात म परिवर्तन होगा और मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात म उल्टी दिशा म बदलेगा।*

कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की बड़ी कड़ी आलोचना की है। सबसे प्रधान आलोचना यह है कि इसम यह मान लिया जाता है कि अन्य बातें एक-सी रहती है जो वास्तविक जीवन में एक-सी नहीं रह पाती। म म परिवर्तन होने से व, व^1 और ट म भी परिवर्तन होता है। प के परिवर्तनों का प्रभाव ट और व पर पड़ता है। वास्तव म समीकरण के विभिन्न अंश स्वतंत्र नहीं हैं। वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। इसलिए यह मान लेना कि म का व या ट पर प्रभाव न पड़ेगा ठीक नहीं है। इसी प्रकार म और म^1 म हमेशा एक-सा सम्बन्ध नहीं रहता, लेकिन परिमाण सिद्धान्त म यह मान लिया जाता है कि दोनों के बीच एक स्थायी सम्बन्ध होता है। और फिर परिमाण-सिद्धान्त में जो मुद्रा की मात्रा और मूल्य स्तर म आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, इन आंकड़ों के आधार पर सत्य नहीं ठहरता। अर्थात् मुद्रा की मात्रा को दुगुना करने

से मूल्य-स्तर हमेशा दुगुना नहीं हो जाता। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यह सम्बन्ध दीर्घकाल में दिखाई देगा। लेकिन दीर्घकाल में तो हम सब मर भी सकते है।

इस सिद्धान्त में एक यह भी कमजोरी है कि इसमें पूर्ति-पक्ष पर अत्यधिक बल दिया गया है। साथ ही यह स्पष्ट नहीं होता कि मुद्रा की मात्रा का प्रभाव मूल्य-स्तर पर किस तरह से पड़ता है।

यह सब मानते हुए भी यह कहना ठीक न होगा कि यह सिद्धान्त बिलकुल गलत या व्यर्थ है। इस सिद्धान्त से हमें यह मालूम पड़ता है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का क्या-कैसा प्रभाव होता है। इसके द्वारा मूल्य-स्तर को स्थिर रखने का एक रास्ता मालूम पड़ जाता है।

मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों के परिणाम

(Effects of Changes in the Value of Money)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुद्रा मूल्य का मापक है, यह मूल्य-संचय तथा स्थगित देयमान का भी काम करती है। अतः इसके मूल्य में होने वाले परिवर्तन* आर्थिक और सामाजिक जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव सब पर एक-सा न पड़ कर, भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों पर अलग-अलग पड़ता है। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति पर विभिन्न दिशाओं में मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का परिणाम भिन्न-भिन्न होता

---

*इस सम्बन्ध में मुद्रा-स्फीति (inflation) और मुद्रा-संकोच (deflation) के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। जब मुद्रा की माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति अधिक होने के कारण वस्तुओं का मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है और मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है, तब उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं। इसके विपरीत जब माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति कम होने से वस्तुओं का मूल्य-स्तर गिरने लगता है और मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगता है, तब उसे मुद्रा-संकोच कहते हैं। अर्थात् मुद्रा-स्फीति की दशा में मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है और मुद्रा-संकोच की दशा में मूल्य-स्तर घटने लगता है।

है। सामान्य रूप से मुद्रा के मूल्य के घटने-बढ़ने* का अथवा कीमतों के उतार-चढ़ाव का परिणाम अन्तत बुरा ही होता है। इससे आर्थिक क्षेत्र में अनिश्चितता आ जाती है, सघर्ष बढ़ता है, और विश्वास उठने लगता है। कुछ की आशाए निराशाओ म परिणित हो जाती है और कुछ बिना बोये ही काट पाते हैं। इन सब बातों से व्यापार और व्यवसाय को बहुत धक्का लगता है और आर्थिक उन्नति रुक जाती है। साथ ही अनेक सामाजिक समस्याए पैदा होती हैं जिनके शिकजों से बाहर निकलना दुश्वार हो जाता है। सक्षेप म, हम यहा यह देखगे कि मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का ऋणी, ऋणदाता, उत्पादक, व्यापारी, श्रमिक आदि वर्गों पर क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है।

जिस समय मुद्रा का मूल्य गिरता है अर्थात् कीमत बढ़ती है, उस समय कर्जदार को लाभ होता है और कर्ज देने वाले को हानि। यह इसलिए नहीं कि कर्जदार कम रकम लौटाते हैं। रकम तो व पूरी लौटाते हैं,

---

* यहाँ यह पूछा जा सकता है कि मुद्रा का मूल्य कब और क्यो घटता-बढ़ता है। अन्य वस्तुओ के मूल्यों की तरह, मुद्रा का भी मूल्य माग और पूर्ति म परिवर्तन होने के कारण घटता-बढ़ता है। जब उत्पादन, व्यापार आदि में वृद्धि होने से मुद्रा की माग बढ़ जाती है और मुद्रा का परिमाण उतना ही रहता है अथवा मुद्रा की माग के उतने ही रहने पर साख, पत्र-मुद्रा या धातु-मुद्रा के कम होने के कारण मुद्रा का कुल परिमाण पहले से कम हो जाता है, तब मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और कीमतें गिरने लगती हैं। इसके विपरीत जब साख, पत्र-मुद्रा व धातु-मुद्रा की मात्राएँ बढ़ने से मुद्रा का कुल परिमाण बढ़ जाता है और उत्पादन, व्यापार आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् मुद्रा की माग उतनी ही रहती है अथवा जब मुद्रा के परिमाण मे कमी न होते हुए, उत्पादन आदि के घटने के कारण मुद्रा की माग गिर जाती है, तब मुद्रा का मूल्य कम होने लगता है अथवा कीमतें बढ़ने लगती हैं।

लेकिन उसका वास्तविक मूल्य पहले की अपेक्षा कम होता है। जो कुछ साहूकार को मिलता है उससे वह उतना नहीं खरीद सकता जितना कि कर्ज देते समय वह खरीद सकता था क्योंकि कीमतों के बढ़ने से मुद्रा की क्रय शक्ति गिर गई है। इसके विपरीत जब कीमत गिरती है तब कर्जदार को हानि होती है और साहूकार लाभ में रहता है। कर्जदार उतनी ही रकम लौटाते हैं पर वस्तुओं अथवा क्रय शक्ति के रूप में वे अधिक लौटाते हैं। मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाने से साहूकार को लाभ होता है क्योंकि अब वे उससे अधिक वस्तुएं खरीद सकते हैं।

बढ़ती हुई कीमतों के समय व्यवसायी अथवा उत्पादक को लाभ होता है और गिरती हुई कीमतों के समय में उन्हें हानि होती है। जब कीमतें बढ़ती हैं तब उत्पादक को लाभ होता है क्योंकि उत्पादन व्यय न तो इतनी तेजी से और न उस सीमा तक बढ़ता है जितनी कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं। इसके अलावा अधिकतर वे उधार ली हुई पूंजी से काम करते हैं अर्थात वे कर्जदार होते हैं और चूंकि कर्जदार इस समय में लाभ में रहते हैं इसलिए उनका लाभ और भी बढ़ जाता है। लाभ की मात्रा बढ़ जाने से वे उत्पादन का परिमाण बढ़ा देते हैं जिससे लोगों को अधिक काम मिलने लगता है। जब कीमतें गिरती हैं तब इसका उल्टा प्रभाव पड़ता है। उनका लाभ कम हो जाता है उन्हें हानि होने लगती है फलस्वरूप उत्पादन घटा दिया जाता है जिससे बेकारी बढ़ने लगती है।

मजदूर वर्ग को चढ़ती हुई कीमतों के समय में बड़ा कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि कीमतों के हिसाब से मजदूरी कम और धीरे धीरे बढ़ती है। अपनी मजदूरी से वे पहले जितना चीज नहीं खरीद पाते। लेकिन इस समय में काम अधिक मिलता है लाभ में वृद्धि होने के कारण उत्पादक उत्पादन की मात्रा बढ़ा देते हैं जिससे मजदूर वर्ग को काम अधिक मिलता है। दूसरी ओर जब कीमत गिरती है तो मजदूरी की दर उतनी नहीं गिरती इसलिए मजदूर वर्ग को इस बात से लाभ

होता है। लेकिन ऐसे समय उत्पादक को हानि होती है और वे काम घटा देते हैं। फलस्वरूप मजदूरों को काम कम मिल पाता है और बेकारी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार बंधी व निश्चित आय पाने वाले व्यक्तियों और उपभोक्ताओं को बढ़ती हुई कीमतों के काल में हानि होती है और घटती हुई कीमतों के समय में ये लोग लाभ में रहते हैं।

कीमतों की घटी-बढ़ी का प्रभाव उत्पादन पर भी बहुत पड़ता है। बढ़ती हुई कीमतों के समय में व्यवसाय को अनावश्यक उत्तेजना मिलती है। व्यवसायी का लाभ बढ़ जाता है और वह इस कारण उत्पादन में अधिक पूंजी और अन्य साधन लगाता है। अन्त में बाजार माल से लद जाता है और लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है। कीमतें गिरने लगती हैं और बेकारी में वृद्धि होती है। व्यवसाय में अनिश्चितता छा जाती है, तथा जोखिम का अंश बहुत बढ़ जाता है और जब कीमतें गिरती हैं तब व्यवसाय के क्षेत्र में अनावश्यक मंदी का सामना करना पड़ता है। व्यवसाय का काम ढीला हो जाता है और बेकारी तेजी से फैलने लगती है।

मूल्य-परिवर्तनों का सामाजिक जीवन पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अस्थिर मूल्यों के समय समाज में एक तरह की तनातनी और अशान्ति छा जाती है। श्रम और पूंजी का संघर्ष जटिल रूप धारण कर लेता है। हड़ताल और तालाबन्दी से समाज का गला घुटने लगता है। ऐसे समय में हर प्रकार की उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि मूल्य-परिवर्तनों का प्रभाव व्यक्ति और समाज पर अन्तत बुरा ही होता है। इनके कारण अनेक आर्थिक, सामाजिक और नैतिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनके प्रभाव से सारी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसलिए कोशिश इस प्रकार करनी चाहिए जिससे मुद्रा की क्रय-शक्ति जहां तक हो सके स्थिर रहे तथा उसमें तेजी से और अनावश्यक परिवर्तन न हो।

QUESTIONS

1 What is meant by the value of money? Can it be measured?

2 What are index numbers? How are they constructed?

3 Explain the value of money and show how it is determined

4 State and explain briefly the quantity theory of money

5 Examine the effects of changes in the value of money

6 How and in what manner do rising and falling prices affect the following —

(a) Creditors and debtors,

(b) Producers and labourers

अध्याय ३६

साख और बैंक

(Credit and Banks)

आधुनिक युग मे साख और बैंक का विशेष महत्त्व है। उद्योग, व्यापार आदि अनेक आर्थिक क्षेत्रो मे इनकी विशेष आवश्यकता पडती है। वास्तव मे देश की औद्योगिक एव व्यापारिक उन्नति बहुत-कुछ साख और बैंक की व्यवस्था पर निर्भर करती है। अत इनकी जानकारी आवश्यक है।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि साख है क्या अथवा साख किसे कहते है? साख किसी भी व्यक्ति की उस शक्ति को कहते है जिसके बल पर वह दूसरो से कुछ समय के लिए आर्थिक वस्तुए अथवा धन राशि उधार ले सकता है। अर्थात् किसी भी व्यक्ति की ऋण लेने वाली शक्ति, विशेषता या गुण को अर्थशास्त्र मे 'साख' कहते है। साख का आधार विश्वास है। साधारणत एक व्यक्ति किसी को ऋण देने के लिए तभी तैयार होता है, जब उसे यह विश्वास होता है कि उधार ली गई सम्पत्ति नियत समय पर लौटा दी जायगी। यह विश्वास कर्जदार की भुगतान करने की शक्ति और उसकी मशा पर निर्भर है। कुछ लोगो मे ऋण चुकाने की शक्ति तो काफी होती है लेकिन उनकी नियत अच्छी नही होती। मौका पडने पर वे पूरी रकम को हडप करने से नही चूकते। ऐसे व्यक्तियो की साख, अथवा उधार पाने की शक्ति बहुत कम होती है।

साख-पत्र

(Credit Instruments)

साख के आधार पर जितने सौदे किये जाते है, उनके पूरा होने मे

कुछ समय लगता है। इसलिए यह आवश्यक है कि उनका पूरा ब्यौरा लिख लिया जाय जिससे भविष्य में हिसाब व लेन-देन करते समय कोई भूल या आपत्ति न हो। जिन कागजों पर यह सब लिखा जाता है, उन्हे 'साख-पत्र' कहते हैं। साख-पत्रों के कई रूप होते हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

हुण्डी (Bills of Exchange)—यह एक शर्त रहित चिट्ठी है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को आदेश देता है कि मांगने पर एक निश्चित समय के पश्चात् उसमें लिखी हुई रकम लिखने वाले या किसी विशेष व्यक्ति को, या उसके लाने वाले को दे दे। हुंडिया केवल व्यापार और उद्योग-धन्धे सम्बन्धी कार्यों के लिए ही प्रयोग की जाती है। माल बेचने वाले हुंडी लिखकर खरीदार के पास भेजते हैं। खरीदार उसके अनुसार भुगतान करते हैं। हुंडिया दो प्रकार की होती हैं—(१) दर्शनी हुण्डी (sight bills) और (२) मियादी या मुद्दती हुण्डी (time bills)। दर्शनी हुण्डी वह है जिसका रुपया मांगने पर अथवा हुण्डी दिखलाते ही मिल जाता है। मुद्दती हुण्डी उसे कहते हैं जिसका रुपया एक निश्चित समय के बाद ही मिल सकता है। अवधि समाप्त होने पर तीन दिन से लेकर पांच दिन का और समय दिया जाता है। इन हुण्डियों पर मूल्यानुसार टिकट लगाये जाते हैं।

दर्शनी हुंडी चार प्रकार की होती है—(१) धनी जोग (२) शाह जोग, (३) फरमान जोग, और (४) देखाडनार जोग। धनी जोग हुण्डी वह हुण्डी है जिसका रुपया केवल उसी को मिल सकता है जिसके हक में वह लिखी गयी हो। शाह जोग हुण्डी का रुपया केवल नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति या शाह को ही दिया जा सकता है। फरमान जोग हुण्डी का रुपया रकम पाने वाले को, या उसकी आज्ञानुसार दिया जा सकता है। देखाडनार जोग हुण्डी 'बेयरर चेक' के समान होती है। इस का रुपया हुण्डी ले जाने वाले व्यक्ति को दिया जा सकता है।

हुण्डिया के प्रयोग से व्यापार व्यवसाय म बहुत सुविधा होती ह। वतमान आर्थिक जगत म इनका महत्त्वपूर्ण स्थान ह। व्यवसाय सम्बन्धी लेन देन का भगतान अधिकतर इन्ही के द्वारा किया जाता ह। हुण्डियो के उपयोग से धात्विक मुद्रा के चलन म भी काफी बचत होती ह।

चक (Cheque)—चेक बक के नाम एक शत रहित-लिखित आना पत्र ह जिसक द्वारा ग्राहक अपन बक को यह आदेश देता ह कि मागन पर उसे अथवा उस व्यक्ति को जिसका नाम चक पर लिखा ह लिखित रुपया दे दिया जाय। मागन पर चेक का रुपया देन के लिए बक बाध्य होता ह। चक दो प्रकार के होत ह—बयरर (bearer) तथा आडर (order)। बयरर चेक का रुपया जो भी व्यक्ति चाहे बक म ले जाकर रुपय ले सकता ह। लेकिन आडर चक का रुपया केवल उसी व्यक्ति को मिल सकता ह जिसको देन के लिए बक को आना दी गइ हो। जब चेक पर दो समानान्तर रेखाए खीच दी जाती ह तो उस क्रास्ड चेक (crossed cheque) कहत ह। ऐसा करन पर बक नकद रुपया न देकर ग्राहक के खात म जमा कर देता ह। उसे भनाया नही जा सकता।

चेक और हुण्डी म बहुत अन्तर ह। चेक बक के नाम पर ही लिखा जा सकता ह किन्तु हुण्डी किसी के ऊपर की जा सकती ह चाहे वह व्यक्ति हो या फम। चेक का रुपया मागन पर बक को तुरन्त देना पड़ता ह पर सब हुण्डियो के साथ यह बात लागू नहा होती। मुद्दती हुण्डी का रुपया एक नियत समय क पश्चात देना पड़ता ह। इसके अतिरिक्त हुण्डी म मल्यानुसार टिकट लगाना पडता ह किन्तु चेक म इसकी कोई आवश्यकता नही पड़ती।

चेक के उपयोग से अनक लाभ होत ह। व्यापार क्षत्र म इसस बड़ी सहायता मिलती ह। चेक द्वारा जो भुगतान किया जाता ह उसका पूरा हिसाब लिखा रहता ह—जस कितना रुपया किस कारण कब और किसको दिया गया है। यदि भविष्य म किसी बात पर झगड़ा उठ तो

उसकी पुष्टि आसानी से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त चेक द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर द्रव्य भेजने में बड़ी सुविधा होती है और खर्च भी कम लगता है। तीसरे, चेक के प्रयोग से धात्विक मुद्रा की कम आवश्यकता पड़ती है। इस कारण श्रम और पूंजी में काफी बचत होती है। इन बचे हुए साधनों को अन्य आवश्यक और लाभप्रद क्षेत्रों में लगाकर आर्थिक उन्नति की जा सकती है। इन्हीं सब कारणों से आज सभी सभ्य और उन्नतिशील देशों में चेक का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है।

प्रामिजरी नोट (Promissory Note)—यह एक शर्तरहित लिखित साख-पत्र है जिसके अनुसार एक विशेष व्यक्ति को या जिसको वह कह या जो उसे ले जाय उसमें लिखी हुई रकम मांग करने पर अथवा एक निश्चित समय पर चुकाने की प्रतिज्ञा करता है। केवल यह अन्तर छोड़कर कि यह ऋणी द्वारा लिखा जाता है प्रामिजरी नोट की बाकी सब विशेषताएं हुण्डी से मिलती हैं। यह किसी व्यक्ति संस्था या सरकार द्वारा लिखा जा सकता है। हुण्डियों की तरह इसका भी विनिमय या हस्तान्तरकरण हो सकता है।

बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—यह एक आज्ञा पत्र है जो एक बैंक दूसरे बैंक को अथवा अपनी शाखा को लिखता है कि एक खास रकम उस व्यक्ति को दे दे जिसका नाम उस पत्र में लिखा है। भुगतान करने का यह एक बहुत सस्ता और सुरक्षित साधन है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान भी इसके द्वारा किया जाता है। कोई भी व्यक्ति बैंक में रुपया जमा करके बैंक ड्राफ्ट लिखवा सकता है। इस काम के लिए बैंक को कुछ कमीशन या फीस देनी पड़ती है।

साख का महत्त्व
(Importance of Credit)

साख आधुनिक व्यापार का प्राणस्वरूप है। वर्तमान उत्पत्ति प्रणाली इतनी जटिल हो गई है कि साख की सहायता बिना इस ढांचे को बनाये

रखना कठिन है। हर पग पर इसकी आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि जिन व्यक्तियों की साख अच्छी नहीं होती, वे व्यापार-व्यवसाय में उन्नति नहीं कर पाते। सक्षेप में, साख से निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(१) इससे धात्विक मुद्रा के चलन में बहुत बचत होती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक व्यापार का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि उसकी आवश्यकताएं केवल धात्विक मुद्रा से ही अच्छी तरह पूरी नहीं की जा सकती।

(२) इसकी सहायता से उत्पादन बड़े परिमाण पर किया जा सकता है और इस तरह बड़े परिमाण पर उत्पादन के जितने लाभ हैं, वे उपलब्ध हो सकते हैं।

(३) साख द्वारा पूंजी उन क्षेत्रों में सुगमता से भेजी जा सकती है जहां उसका उपयोग अधिक अच्छे ढंग से होना सम्भव है। इससे पूंजी की क्षमता या उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

(४) भुगतान करने का यह एक बहुत ही सुविधाजनक साधन है। यही नहीं, इसकी सहायता से मनुष्य कुछ समय के लिए आर्थिक कष्टों से बच सकता है।

(५) साख की उचित व्यवस्था से कीमतों के उतार-चढ़ाव को, जिसके कारण अनेक आर्थिक और सामाजिक बुराइयां उत्पन्न होती हैं, बहुत-कुछ रोका जा सकता है।

लेकिन साख से नई दोषों व आपत्तियों के उत्पन्न होने का भी भय रहता है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१) यदि साख पर बहुत आसानी से द्रव्य मिलने लगता है, तो लोग अपनी शक्ति से बाहर ऋण लेने लगते हैं। उनमें तरह-तरह की फिजूलखर्ची की आदत पड़ जाती है और अन्त तक वे इस रोग से मुक्त नहीं हो पाते। इसके फलस्वरूप बेईमानी, चालबाजी आदि अन्य बुराइयां पैदा होती हैं जिनके कारण व्यापार का नैतिक आधार टूट जाता है।

(२) साख द्वारा कुछ समय के लिए किसी फर्म या कारखाने की कमजोरियां आसानी से छिपाई जा सकती हैं। इस कारण जन-साधारण

को उसकी वास्तविक दशा का ज्ञान नहीं हो पाता। लेकिन इस प्रकार की धोखे की टट्टी बहुत दिन तक चल नहीं पाती। फर्म की कमजोरियाँ दिन प्रति दिन बढ़ती जाती हैं और जब उसका अन्तिम दिवाला पिटता है, तो जनता को पहले से कहीं अधिक हानि उठानी पड़ती है। इस तरह धोखा खाकर लोगों का विश्वास उठ जाता है जिससे अन्य औद्योगिक संस्थाओं को वित्त अथवा साख की प्राप्ति में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(३) सबसे बड़ी आपत्ति का भय साख के अत्यधिक प्रसरण का है। इससे तरह-तरह की जटिल समस्याएं उत्पन्न होती हैं। वस्तुओं की कीमतें तेजी से बढ़ने लगती हैं। जुवे और सट्टेबाजी का आधिपत्य सारे व्यावसायिक क्षेत्र में छा जाता है। संघर्ष और अशान्ति की लहर लहराने लगती है। फलस्वरूप लोगों का जीवन अनिश्चित और दुःखमय बन जाता है।

अस्तु, साख से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी उचित ढंग से व्यवस्था हो तथा उस पर सरकारी नियन्त्रण हो। यह काम आजकल केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है।

बैंक
(Bank)

बैंक उस व्यक्ति या संस्था को कहते हैं जिसका कार्य सर्वसाधारण से धन व मुद्रा लेकर जमा करना और उधार देना होता है। यह साख का व्यवसाय करता है। अर्थात् साख, धन और मुद्रा का लेन-देन करने वाली संस्था को बैंक कहते हैं। बैंक आधुनिक युग की देन नहीं है। बहुत प्राचीन काल से बैंक का कारोबार चला आ रहा है। हाँ, यह बात अवश्य है कि समय के साथ-साथ इसमें अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। यदि आज हम बैंक के पुराने और वर्तमान रूप, कार्य और व्यवस्था की तुलना करें, तो शायद ही कोई समानता दिखाई देगी। आधुनिक बैंक का पूरा ढाँचा ही बदल गया है। यही कारण है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे बैंक

का नाम आधुनिक युग में ही हुआ हो। बैंक कार्य अब बहुत नये और वैज्ञानिक ढंग से होता है। अन्य क्षेत्रों की तरह बैंक-व्यवसाय में भी विशिष्टीकरण का नियम जोर पकड़ रहा है। भिन्न भिन्न कार्यों के लिए अलग अलग बैंक होते हैं। जैसे कुछ कृषि की आवश्यकताएं पूरी करते हैं, कुछ व्यापार की देखभाल करते हैं, कुछ उद्योग धन्धों का काम संभालते हैं और कुछ विदेशी विनिमय का। भिन्न भिन्न काम करने वाले बैंकों को पृथक्-पृथक् नाम दिए गये हैं—जैसे व्यावसायिक बैंक, औद्योगिक बैंक, सहकारी बैंक, विदेशी विनिमय बैंक इत्यादि।

बैंक के कार्य
(Functions of Bank)

बैंक अनेक लाभप्रद कार्य करता है। इसका सबसे प्रमुख कार्य जनता की बचत को इकट्ठा करना है। यह काम बैंक लोगों की जमा स्वीकार करके करता है। बैंक कई प्रकार के खाते खोलता है जिनमें लोग अपनी बचत जमा करते हैं। चालू खाते (current account) में जमा कराने से बैंक अपने ग्राहकों को यह अधिकार देता है कि जब वे चाहें जमा किया हुआ रुपया निकाल लें। इस खाते में जमा किये हुए रुपये को बैंक स्वतन्त्र रूप से उपयोग में नहीं ला सकता क्योंकि पता नहीं ग्राहक कब रुपया माँग बैठे। यही कारण है कि चालू खाते की रकम पर बैंक सूद नहीं या बहुत कम देता है। मुद्दती जमा खाते (fixed account) में रुपया एक निश्चित समय के लिए जमा किया जाता है। उस समय से पहले उसमें से रुपया नहीं निकाला जा सकता। बैंक उस समय तक जमा किए हुए रुपये को लाभप्रद स्थानों में आसानी से लगा सकता है क्योंकि उसे पहले से ही इस बात का पूरा पता होता है कि ग्राहक कब उस रकम को निकाल सकते हैं। इस कारण बैंक इस खाते में जमा की हुई रकम पर यथोचित सूद देता है। सूद की दर मंडी की स्थिति और कितने काल के लिए रकम जमा की गई है उस पर निर्भर होती है।

बैंक का दूसरा मुख्य कार्य ऋण या उधार देना है। अनुभव द्वारा

यह बात सिद्ध है कि ग्राहक अर्थात जमा करने वाले सब एक साथ बैंक से अपना रुपया नहीं निकालेंगे । इसलिए कुछ जमा का केवल थोड़ा ही भाग नकदी (cash) में रख कर बैंक अपने ग्राहकों की माँग पूरी कर सकता है। बाकी रकम उधार देने के लिए उपयोग की जा सकती है। कितना भाग नकदी के रूप में निधि व रिजर्व में रखना चाहिए इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक बैंक को अपनी विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह निश्चय करना पड़ता है कि जमा किए हुए धन का कितना प्रतिशत भाग रिजर्व में रखा जाय जिससे ग्राहकों की माँग की पूर्ति करने में कोई अड़चन न हो। यदि बैंक आवश्यकता से अधिक भाग रिजर्व या निधि में रखता है तो ऋण देने के लिए बैंक के पास बहुत कम भाग बच रहेगा। इस कारण उसका लाभ घट जायगा। दूसरी ओर यदि बैंक बहुत कम रिजर्व रखता है तो ग्राहकों की माँग पूरी न हो सकेगी। ऐसी परिस्थिति में जनता का विश्वास उस पर से उठ जायगा और शीघ्र ही उसे अपना कारोबार बन्द करना पड़ेगा। अतएव बैंक को एक ऐसा रिजर्व रखना पड़ता है जो न तो अधिक हो और न कम। जो बैंक ऐसा कर पाता है उसे ही सफलता प्राप्त होती है।

रिजर्व व निधि का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद बैंक शेष पूंजी से ऋण देने का कार्य चलाता है। चूँकि बैंक की अधिकतर पूंजी ग्राहकों द्वारा चालू की हुई होती है इसलिए उसके प्रयोग करने में बैंक को बहुत सावधानी से काम करना पड़ता है। ऋण देने के पहले बैंक कई बातों की अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल करता है। उसे यह देखना पड़ता है ऋण माँगने वाला कौन है, कितने समय और किस काम के लिए ऋण चाहता है, उसकी आर्थिक स्थिति कैसी है, किस प्रकार की जमानत देने के लिए वह व्यक्ति तैयार है, इत्यादि ? इन सब बातों की जाँच करने के पश्चात बैंक यह निर्णय करता है कि कब और किसे कितना उधार दिया जाय जिससे पूंजी सुरक्षित रहे और साथ ही साथ उसे लाभ

भी हो। अपनी ऋण-नीति से बैंक इन दोनों उद्देश्यो की पूर्ति करने की कोशिश करता है।

उधार देने का काम बैंक कई प्रकार से करता है जैसे हुण्डी भुनाना, माल और ऋण-पत्रो की जमानत पर कर्ज देना अथवा जमा की गई रकम से अधिक रकम देना जिसे "ओवर-ड्राफ्ट" (over draft) कहते है। कभी-कभी बैंक बिना किसी जमानत के भी कर्ज दे देते है। लेकिन यह तभी किया जाता है जब कि बैंक को उस व्यक्ति पर पूरा-पूरा भरोसा होता है, उसकी ईमानदारी और सामर्थ्य पर विश्वास होता है, अन्यथा नही।

अस्तु, बैंक एक पक्ष से जमा के रूप से कर्ज लेता है और दूसरे पक्ष को विभिन्न ढग से उधार देता है। अर्थात् यह दलाल या मध्यस्थ का कार्य करता है। जमा की रकम पर बैंक थोडा सूद देता है और उधार मागने वालो से अधिक सूद लेता है। सूद के इन दोनो दरो में जो अन्तर होता है, वही बैंक की मुख्य कमाई होती है।

इन दोनों प्रधान कार्यों के अतिरिक्त बैंक और भी कई प्रकार के लाभदायक काम करता है। बैंक अपने ग्राहकों के लिये एजेन्ट का काम करता है। वह अपने ग्राहको की तरफ से उनके बिल, चेक, टैक्स, मुनाफा, चन्दा, बीमा आदि की किश्ते लेता और देता है। इससे ग्राहकों को बडी सुविधा होती है। ग्राहकों के ट्रस्टो और वसीयतो का प्रबन्ध भी बैंक करता है। उनके कीमती माल को वह सुरक्षित रखता है और उनके हिस्सा-पत्रो (shares) की देख-रेख करता है। कई प्रकार के उपयोगी साख-पत्र भी वह देता है जिससे ग्राहको को बडा सुभीता होता है। इसके अलावा बैंक विनिमय के लिए सस्ते साधन प्रदान करता है जैसे चेक, नोट, आदि। इनकी सहायता से बडी-बडी रकमें दूर-दूर के स्थानों तक आसानी से और कम खर्च में भेजी जा सकती है। विदेशी व्यवसाय के लिए पूजी व वित्त सम्बन्धी सहायता भी इससे मिलती है। बैंक अपने ग्राहकों की

विदेशी विनिमय की हुण्डियों को लेते और भुनाते है जिससे विदेशी व्यापार सम्बन्धी भुगतान करने मे बडी सुविधा होती है।

बैंक की महत्ता
(Importance of Bank)

बैंक के विभिन्न कार्यों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है, जिससे पता चलता है कि वर्तमान आर्थिक ससार मे बैंक का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। बैंक द्वारा लोगो मे पूजी सचय करने की आदत पड जाती है। बैंको मे थोडी बचत को भी जमा किया जा सकता है जिस पर बैंक यथोचित सूद देता है। इस तरह पूजी जमा करने के कार्य मे लोगो को बैंक द्वारा सुविधा ही नही बल्कि प्रोत्साहन भी मिलता है। और यह तो हमें भली भाति मालूम ही है कि आधुनिक आर्थिक उन्नति का आधार पूजी है। इसलिए यह हम कह सकते हैं कि बैंक पूजी की मात्रा मे वृद्धि लाकर देश की आर्थिक उन्नति मे पर्याप्त सहायता पहुचाता है। बैंक द्वारा पूजी की गतिशीलता भी बढ जाती है। जिन स्थानों पर पूजी की अधिक आवश्यकता होती है, वहा पर बैंक की सहायता से पूजी आसानी से पहुचाई जा सकती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनके पास पूजी की कमी तो नही होती, पर उनमे उसे उचित ढग से प्रयोग करने की शक्ति और बुद्धि नही होती। दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी लोग है जो उद्योग-धधो के सचालन का काम खूब अच्छे ढग से कर सकते है, किन्तु उनके पास आवश्यक पूजी नही होती। इस कारण वे अपनी व्यावसायिक कुशलता अथवा योग्यता का पूरा-पूरा लाभ नही उठा पाते। बैंक इस तरह की कमी को दूर करने की भरसक कोशिश करता है। जनता की बचत को एकत्रित करके बैंक उन सुयोग्य व्यक्तियो के पास पहुचाता है जो उसे लाभप्रद ढग से काम मे लगा सकते है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति और समाज की आर्थिक उन्नति बहुत तीव्र गति से होती है।

बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म भी बहुत सुविधा होती है। आज कल एक दूसरे देश का लेन-देन इसी के द्वारा किया जाता है। इसके

अलावा बैंक से चैक-मुद्रा का चलन बढता है जिसमे धात्विक मुद्रा के प्रयोग मे काफी बचत होती है। यही नही, चेक-मुद्रा में बहुत लोच-शक्ति होती है जिससे व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति बिना किसी कठिनाई के हो सकती है।

अस्तु, वर्तमान आर्थिक जीवन मे बैंक का बहुत ऊचा स्थान है। राष्ट्र की आर्थिक उन्नति बहुत-कुछ अश तक इसी पर निर्भर करती है। भारतवर्ष आर्थिक क्षेत्र मे बहुत पिछडा हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि यहा पर बैंकों की सख्या बहुत कम है और उनका सचालन भी ठीक ढग से नही होता।

QUESTIONS

1 Define credit. Bring out its significance
2 Explain briefly the main forms of credit instruments
3 What are the main differences between a cheque and a bill of exchange?
4 What is a 'bank'? What are its important functions?
5 In what ways can bank help in the economic development of a country?
6 Bring out the importance of banks in the present day economic society
7. Write short notes on the following :—
   (a) *Bills of Exchange*
   (b) Bank Drafts
   (c) Promissory Notes
   (d) Cheques.

(Distribution)

अध्याय ३७

वितरण और उसकी समस्या
(Distribution and its Problem)

उपभोग, उत्पत्ति और विनिमय सम्बन्धी बातों का विवेचन किया जा चुका है। अब केवल एक विभाग का अध्ययन शेष है, वह है धन का वितरण। इस विभाग में यह अध्ययन किया जाता है कि किस प्रकार धन का वितरण उन सब साधनों के बीच होता है जो उसके उत्पादन में सहायता देते हैं। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को उत्पादन का क्या भाग मिलता है, किस सिद्धान्त के अनुसार उनका पारिश्रमिक निर्धारित होता है, उनके पारिश्रमिकों के बीच आपस में क्या-कैसा सम्बन्ध होता है, इन सब प्रश्नों का विचार वितरण विभाग के अन्तर्गत किया जाता है।

प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति अपने उपभोग की सभी वस्तुए स्वयं ही तैयार करता था। उत्पादन-कार्य में जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती थी, वह अपने आप ही प्रदान करता था। अस्तु, उस समय में वितरण का कोई प्रश्न न था, क्योंकि जो कुछ भी एक व्यक्ति उत्पादन करता था उस पर केवल उसी का अधिकार होता था, किसी दूसरे का नहीं। जब तक व्यक्तिगत रूप से उत्पादन का कार्य चलता रहा, वितरण की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। कुछ समय बाद उत्पत्ति का यह रूप न रह सका। कारण, मनुष्य की आवश्यकताए इतनी बढ़ गई कि उत्पत्ति के इस सीधे और सरल रूप द्वारा उनकी तृप्ति करना असम्भव हो गया।

अतएव उत्पादन-क्षेत्र में समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन होते रहे, विशेषकर पिछले दो सौ वर्षों में। आज वर्तमान युग में उत्पादन-प्रणाली का पूरा ढाचा ही बदल चुका है। उसने एक नया रूप धारण कर लिया है। अब उत्पत्ति व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि सामूहिक ढग से की जाती है। उत्पादन का परिमाण इतना बढ गया है कि अब किसी के लिए यह साधारण रूप से सम्भव नही है कि वह सब आवश्यक साधनो को स्वय ही प्रदान कर सके। उत्पादन के साधनो को जुटाने के लिए अब भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो की सहायता लेनी पडती है। उनकी सहायता के बिना उत्पत्ति का कार्य एक पल भी नही चल सकता। जो कुछ उत्पन्न होता है, वह उन्ही सब के सहयोग का फल होता है। इसलिए सहयोग देने वाले अनेक साधनो के बीच उत्पादित धन का वितरण करना आवश्यक हो गया है। बिना वितरण के उत्पत्ति निरर्थक है और उपभोग असम्भव। आजकल उपभोग तभी सम्भव हो सकता है जबकि उत्पादन का सहकारी साधनो के बीच वितरण हो। यही कारण है कि वर्तमान आर्थिक ससार मे वितरण को एक विशेष स्थान प्राप्त है।

वितरण अर्थशास्त्र का एक बहुत महत्त्वपूर्ण विभाग है। इसका अध्ययन बहुत आवश्यक और साथ ही साथ मनोरजक भी है। हम सब किसी न किसी रूप मे धनोत्पत्ति मे हाथ बटाते है। इसलिए हम इस बात को जानने के लिए बहुत उत्सुक होते है कि कुल उत्पत्ति मे हमारा हिस्सा कैसे निर्धारित होता है। इस बात की जानकारी वितरण के सिद्धान्त द्वारा होती है। इससे आय के कारण और परिमाण का स्पष्टीकरण हो जाता है। वितरण-समस्या का अध्ययन रुचिकर तो अवश्य है, लेकिन कुछ स्थानो पर इसमे विशेष कठिनाइयों का सामना करना पडता है। उत्पादन-क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न साधनो को इस तरह मिलाकर काम लिया जाता है कि निश्चित रूप से यह कहना कि कुल उत्पत्ति का कितना भाग किस साधन के उद्योग का फल है, बहुत कठिन है। इस कारण साधनो का

पारिश्रमिक निर्धारित करते समय अनेक झगड़ों की बातों को तय करना पड़ता है। यदि किसी साधन को अधिक पारिश्रमिक दिया गया, तो अवश्य ही अन्य साधनों के लिए कम रह जायगा। फलस्वरूप वितरण-विभाग का अध्ययन तरह-तरह की जटिल समस्याओं से भरा हुआ है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि वितरण की व्यवस्था का समाज के आर्थिक जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। देश की आर्थिक उन्नति, सुख-समृद्धि काफी अंश तक वितरण पर निर्भर है। जितना न्यायपूर्ण और उचित वितरण का आधार होगा, उतना ही अधिक वह समाज सुखी और उन्नतशील होगा। यदि वितरण पद्धति दूषित है, तो निस्सदेह उत्पादन उतना न होगा जितना कि सम्भव हो सकता है। उत्पादक उत्पत्ति में अपनी पूरी शक्ति लगाने के लिए उस दशा में तैयार न होंगे। धीरे-धीरे उनकी कार्य क्षमता गिरती जायगी। व्यापार और उद्योग-धन्धों में शिथिलता आ जायगी। उत्पादन कम हो जायगा। इसके फलस्वरूप समाज का आर्थिक ढाचा लड़खड़ाने लगेगा और तरह-तरह के आर्थिक और सामाजिक सकट उपस्थित होने लगेंगे। ऐसी दशा में जनता का जीवन-स्तर नीचा ही बना रहेगा। इन सब बातों के कहने का साराश यह है कि यदि वितरण की व्यवस्था ठीक नहीं है, तो आर्थिक जीवन का कार्य सुचारुरूप से नहीं चल सकता। लेकिन अभाग्यवश आज बहुत-से देशों में धन-वितरण की व्यवस्था अत्यन्त ही दूषित है जिसके कारण लोगों को अनेक जटिल आर्थिक और सामाजिक सकटों से मुठभेड़ करना पड रहा है। वितरण की अव्यवस्था के कारण वर्ग-सघर्ष की गति और भीषणता दिन पर दिन तीव्र होती जा रही है। भारतवर्ष में भी धन का वितरण इसी प्रकार दूषित है। अनुमान लगाया जाता है कि राष्ट्रीय आय का एक तिहाई भाग से भी अधिक केवल दो प्रतिशत लोगों के पास चला जाता है। यही कारण है कि देश की सम्पत्ति मुष्टिमेय लोगों में सचित होती जा रही है। यहा के गिरे हुए जीवन-स्तर का यह एक मुख्य कारण है। देश की

आर्थिक दशा सुधारने के लिए वर्तमान वितरण पद्धति को बदल कर उसे एक नया रूप प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। अस्तु, वितरण विषय का अध्ययन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

वितरण की समस्याएँ

(Problem of Distribution)

वितरण सम्बन्धी समस्याएं बहुत जटिल है और उनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इसलिए उनको कई भागो में विभक्त करके उनका अलग-अलग विश्लेषण एवं अध्ययन करने मे ही सुविधा होगी। सर्व-प्रथम प्रश्न यह है कि वितरण किस चीज का होता है? इसका उत्तर बहुत सरल है। वितरण राष्ट्रीय आय (national income) का होता है। राष्ट्रीय आय की परिभाषा कई ढंग से की गई है। प्रो० मार्शल ने जो परिभाषा दी है, वह इस प्रकार है—"राष्ट्रीय आय का आशय उन तमाम वस्तुओ और सेवाओ से है, चाहे वे भौतिक हो या अभौतिक, जो किसी देश के श्रम, पूंजी और प्राकृतिक साधनो की सहायता से एक वर्ष मे उत्पन्न की जाती है।" शुद्ध व वास्तविक राष्ट्रीय आय (net national income) को मालूम करने के लिए कुल आय में से टूट-फूट का खर्चा आदि निकाल देना चाहिए। दूसरी ओर प्रो० फिशर का कहना है कि जितनी वस्तुएं एक वर्ष मे तैयार की जाती है, उन सबको राष्ट्रीय आय मे शामिल नही करना चाहिए। उत्पादित पदार्थो के केवल उसी भाग को इनके अनुसार राष्ट्रीय आय मे शामिल करना चाहिए जिसका प्रत्यक्ष रूप मे उस वर्ष मे उपभोग किया गया हो। एक उदाहरण द्वारा इन दोनो परिभाषाओं मे जो अन्तर है, वह आसानी से मालूम किया जा सकता है। मान लो साल भर मे एक मशीन तैयार की गई। मार्शल के अनुसार टूट-फूट का खर्चा काटकर उस मशीन की कुल कीमत राष्ट्रीय आय में शामिल कर ली जायगी। लेकिन फिशर की परिभाषा

के अनुसार मशीन की कुल कीमत का केवल वही भाग राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जायगा जिसका उस वर्ष में वास्तव में उपभोग हुआ है। यह तो शायद मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से प्रो० फिशर की परिभाषा अधिक ठीक है। लेकिन इस ढग से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। यह हिसाब लगाना एक तरह से असम्भव-सा है कि किस वस्तु का कौन-सा भाग एक वर्ष में उपभोग में लाया गया और उसका कितना मूल्य आका जाना ठीक होगा। अस्तु, फिशर के ढग से राष्ट्रीय आय के परिमाण को निश्चित करना बहुत कठिन है। सरलता और सुविधा इसी में होगी कि एक वर्ष के अन्दर जितनी वस्तुएं उत्पन्न हो, उनकी एक सूची तैयार कर ली जाय और इसके आधार पर राष्ट्रीय आय के परिमाण का अनुमान लगाया जाय। अस्तु, वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय दृष्टि से बहुत युक्ति-सगत न होते हुए भी प्रो० मार्शल की परिभाषा अधिक उपयुक्त है।

राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के तीन मुख्य तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि कुल उत्पत्ति का मूल्य जोड कर उसमें से टूट-फूट का खर्चा घटा दिया जाय। राष्ट्रीय आय के मापने का दूसरा तरीका यह है कि सब लोगो की आमदनी को जोड लिया जाय चाहे वे आय-कर (income tax) देते हो या नही। अनुमान लगाने का तीसरा तरीका यह है कि देश में जितने धधे हो, उनकी गणना कर ली जाय जिसमे उनमें काम करने वालो की कुल आमदनी का पता चल सके। इस तरह के जोड से जो सख्या आयेगी, वह राष्ट्रीय आय के बराबर होगी।

राष्ट्रीय आय की माप करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि एक ही रकम अनेक बार न जोड ली जाय। साथ ही राष्ट्रीय आय में उन चीजों की कीमत को शामिल नही करना चाहिए जिनके पाने के लिए किसी प्रकार की सेवा नही की गई है—जैसे दान की वस्तुए। इसी तरह वह रकम जो वृद्धावस्था में पेंशन के रूप में मिलती है अथवा जो

धोखवाजी से पैदा की जाती है, राष्ट्रीय आय में समावेशित नहीं होती।

इस तरह हम देखते है कि एक ओर तो राष्ट्रीय आय उत्पत्ति के साधनो की सेवाओ का फल है और दूसरी ओर यह इन साधनो के पारिश्रमिक देने का स्रोत व कोष भी है। पर इसका यह अर्थ नही कि साल भर राष्ट्रीय आय को जमा किया जाता है और फिर उसके बाद उसका वितरण होता है। (राष्ट्रीय आय का उत्पादन और उसका वितरण साथ-साथ चलता रहता है।। राष्ट्रीय आय एक बहते हुए सागर के समान है जिसमें एक ओर से जल भरता रहता है और दूसरी ओर से खाली होता रहता है। अर्थात् राष्ट्रीय आय एक स्थायी-निधि नही है। यह एक धारा या प्रवाह है जो सदा चालू रहता है क्योंकि प्रत्येक समय वस्तुओ तथा सेवाओ की उत्पत्ति का ताता बधा रहता है।

अस्तु, पहले प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। वितरण राष्ट्रीय आय का होता है। अन्य बातो के समान रहने पर, यह निश्चय है कि राष्ट्रीय आय का परिमाण जितना अधिक होगा, उत्पत्ति के साधनो का हिस्सा उतना ही बडा होगा।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय आय का वितरण किनके बीच होता है? इसका उत्तर और भी सरल है। यह हम पहले कह चुके है कि उत्पादन में मुख्यत चार साधनो की आवश्यकता पडती है—भूमि, श्रम, पूजी और सगठन या साहस। जो कुछ उत्पादन होता है, उसमें इन सबका हाथ होता है। इसलिए कुल उत्पत्ति का वितरण इन्ही चारो साधनो के बीच होता है। इन साधनो के प्रतिफल को भिन्न-भिन्न नाम दिये गये है। श्रम की सेवाओ के बदले मे जो कुछ दिया जाता है उसे 'मजदूरी' या 'वेतन' (wages) कहते हैं। भूमि प्रदान करने वाले के हिस्से मे जो आता है, उसे 'लगान' अथवा भाटक (rent) कहा जाता है। पूजी के प्रतिफल स्वरूप जो प्राप्त होता है, वह 'सूद' या 'ब्याज' (interest) कहलाता है। सगठन और जोखिम का भार उठाने

वाले को जो कुछ मिलता है, उसे 'लाभ' (profit) कहते हैं। जब तक आवश्यक साधनो को उनकी सेवाओ के बदले कुछ न कुछ पारिश्रमिक न दिया जायगा, तब तक ये धनोत्पत्ति में हाथ बटाने के लिए तैयार न होंगे। इन साधनो के पारिश्रमिक सम्बन्धी बातों का अगले अध्यायो में पृथक्-पृथक् अध्ययन किया जायगा। यहा पर केवल इतना ही विचार करना काफी होगा कि सामान्य रूप से इन साधनों का पारिश्रमिक कैसे निर्धारित होता है।

यह तो स्पष्ट है कि जो कुछ उत्पत्ति के किसी साधन को मिलता है, वह एक तरह से उस साधन की सेवाओ के मूल्य के समान है। यदि यह ठीक है, तो प्रश्न यह उठता है कि बेचने और खरीदने वाले कौन है? बेचने वाला तो साधन का स्वामी होता है और खरीदने वाला व्यवस्थापक, उपक्रमी या साहसी व्यवसायी। उत्पत्ति विभाग मे यह बताया जा चुका है कि आवश्यक साधनो के जुटाने का काम व्यवस्थापक अथवा उपक्रमी करता है। व्यवसाय का पूरा उत्तरदायित्व व्यवस्थापक पर ही होता है। वही यह निर्णय करता है कि कौन-सा धन्धा शुरू किया जाय, किस ढग से वह धन्धा चलाया जाय, कितनी मात्रा मे और कहा पर वस्तुए तैयार की जाय? इस तरह की अनेक बातों की जिम्मेदारी उसी पर होती है। वह उसी व्यवसाय या धन्धे की ओर झुकता है जिसमे उसे लाभ की आशा दिखाई देती है। उसका लाभ दो बातो पर निर्भर होता है— उत्पादन व्यय और मूल्य। यदि उत्पादन व्यय कम है और मूल्य अधिक है तो उसे काफी लाभ होगा। इसलिए उसे इस बात पर विचार करना पड़ेगा कि जिस वस्तु को वह तैयार करना चाहता है, उसका उत्पादन-व्यय लगभग कितना होगा और भविष्य में उस वस्तु का कितना मूल्य होगा? जिस धन्धे मे उसे अधिक लाभ दिखाई देगा, उसे ही वह चुनेगा। उसके इस प्रकार के निर्णय करने से उत्पत्ति के साधनो की माग पैदा होती है। वह आवश्यक साधनों के खरीदने अथवा जुटाने की कोशिश करेगा क्योंकि वह जानता है कि उनकी सहायता बिना वह अपने इच्छित काम को

चला न सकेगा। अस्तु, उत्पत्ति के साधनों की सेवाओं की खरीदारी व्यवस्थापक व उपक्रमी करता है। व्यवस्थापक साधनों की सेवाओं को अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए नहीं खरीदता। वह उनकी सेवाओं को इसलिए खरीदता है जिससे कि उन वस्तुओं का उत्पादन हो सके जिनकी समाज की ओर से माग होती है। अस्तु, एक तरह से उत्पत्ति के साधनों की माग समाज द्वारा ही होती है। व्यवस्थापक तो केवल समाज की तरफ से एक एजेण्ट के तौर पर काम करता है। वह अन्य साधनों की सेवाओं को खरीदता है और उनका पारिश्रमिक मजदूरी, ब्याज आदि के रूप में बांटता है। सफल होने पर उसे लाभ प्राप्त होता है।

अब हमें यह देखना है कि व्यवस्थापक साधनों को खरीदते समय किस बात का ध्यान रखता है और अधिक से अधिक किसी साधन को पारिश्रमिक के रूप में कितना मूल्य देने को तैयार हो सकता है। यह तो सभी को भली भांति मालूम है कि प्रत्येक खरीदार का यह ध्येय होता है कि वह अपनी खरीदारी इस तरह से करे जिससे उसे अधिक से अधिक तृप्ति प्राप्त हो। उपभोग सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि उपभोक्ता को उसी समय अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकती है जब वह अपनी आय को भिन्न-भिन्न पदार्थों पर इस प्रकार खर्च करे कि खरीदी गई हुई सब वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ एक समान हों। कुशल उपभोक्ता सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम के अनुसार खरीदारी करने की कोशिश करता है। वह इस बात को ध्यान में रखता है कि अलग-अलग वस्तुओं पर जो रुपये की अन्तिम इकाई खर्च हो उसकी उपयोगिता सब स्थानों पर बराबर रहे क्योंकि और किसी दूसरे तरीके से अधिकतम तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अस्तु, खरीदते समय उपभोक्ता का ध्यान वस्तु की सीमान्त उपयोगिता पर रहता है। वह किसी वस्तु के लिए अधिक से अधिक मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर दे सकता है। यही नहीं, वह एक वस्तु को खरीदते समय अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं को भी ध्यान में रखता है। ठीक

इसी प्रकार का काम व्यवस्थापक करता है। उसका भी यही अधिक से अधिक लाभ उठाने का उद्देश्य होता है। उत्पत्ति के साधनों की सेवाओं को खरीदते समय वह उनकी उत्पादन-शक्ति अथवा उत्पादिता (productivity) का अनुमान लगाता है और उसी के आधार पर उनकी कीमत तय करता है। चूंकि सब साधन एक साथ मिलकर काम करते हैं, इसलिए कुल उत्पत्ति में से यह मालूम करना कि कितना भाग किस साधन के कारण तैयार हुआ है, सम्भव नहीं है। फिर किस तरह किसी साधन की उत्पादिता का अनुमान लगाया जा सकता है? इसका एक हल है। यह कहना तो ठीक है कि हमारे लिए यह मालूम करना सम्भव नहीं है कि पूंजी के कारण कितनी उत्पत्ति हुई है और कितनी भूमि अथवा श्रम के कारण। लेकिन इस बात का अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि किसी एक साधन की सीमान्त उत्पादिता (marginal productivity) कितनी है।

उदाहरण के लिए मान लो कि उत्पत्ति के साधनों को किसी विशेष अनुपात में मिलाया गया है जिसमें श्रम की संख्या १०० है और कुल उत्पत्ति ५०० इकाई के बराबर है। अन्य साधनों की मात्राएं उतनी ही रखते हुए, मान लो श्रम की संख्या १०० से बढ़ाकर १०१ कर दी जाती है और इस कारण कुल उत्पत्ति ५१० इकाई हो जाती है। कुल उत्पत्ति में इस तरह जो १० इकाई की वृद्धि हुई है, वही श्रम की सीमान्त उत्पादिता होगी। व्यवस्थापक श्रम को अधिक से अधिक १० इकाई के मूल्य के बराबर पारिश्रमिक दे सकता है, इससे अधिक नहीं। अगर मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य से अधिक है तो व्यवस्थापक को हानि होगी। इस कारण वह मजदूरों की संख्या तब तक कम करता जायगा जब तक कि सीमान्त उत्पादिता मजदूरी के बराबर नहीं आ जायगी। अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि व्यवस्थापक की ओर से (अर्थात् मांग की ओर से) किसी साधन की सेवा का मूल्य अधिक से अधिक उसकी सीमान्त उत्पादिता के बराबर हो सकता है।

उत्पत्ति के साधनो पर जिनका स्वामित्व होता है, वे अपने साधनो के बदले में कुछ मूल्य चाहते हैं क्योकि वे जानते हैं कि उन साधनो की कमी है और उनमें उत्पादन-शक्ति भी है। भिन्न-भिन्न व्यवसाय-धन्धो में उनकी माग होती है। इसलिए साधनो के मालिक बिना कुछ मूल्य पाये उन साधनो अथवा उनकी सेवाओ को बेचने के लिए तैयार नही होते। जिन स्थानो पर अधिक मूल्य पाने की सभावना होती है, वही पर वे अपने साधनो को लगाने की कोशिश करते हैं। उन साधनो को ठीक ढग से बनाये रखने के लिए उन्हे कुछ खर्च करना पडता है। अर्थात् अन्य वस्तुओ की तरह इन साधनो का भी कुछ उत्पादन-व्यय होता है जो इनके मूल्य की न्यूनतम सीमा होती है। यदि किसी साधन का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय से कम है तो साधारणत उस साधन की सेवाए उत्पादन के लिए उपलब्ध न हो सकेगी।

इस तरह विचार करने से पता चलता है कि वस्तुओ के मूल्य की तरह साधनो के मूल्य व पारिश्रमिक के सम्बन्ध में भी दो सीमाए होती हैं—एक तो अधिकतम सीमा जो माग की ओर से सीमान्त उत्पादिता के आधार पर निर्धारित होती है और दूसरी न्यूनतम सीमा जो पूर्ति की तरफ से सीमान्त उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित होती है। इन्ही दोनो सीमाओ के बीच, माग और पूर्ति की विशेष परिस्थितियो के अनुसार, किसी साधन का पारिश्रमिक निर्धारित होगा।

इस बात से यह निष्कर्ष निकलता है कि विनिमय और वितरण के सिद्धान्तो में कोई अन्तर नही है। जिस प्रकार वस्तुओ का मूल्य निर्धारित होता है, उसी प्रकार साधनो का मूल्य भी निर्धारित होता है। यह निस्सदेह ठीक है। फिर भी साधनो के पारिश्रमिक व मूल्य-निर्धारण को अलग अध्ययन किया जाता है क्योंकि साधनो की पूर्ति और माग पूरी तरह से वस्तुओ की पूर्ति और माग के समान नही है। उदाहरणार्थ, भूमि की पूर्ति बिल्कुल निश्चित है, इसे मूल्य के अनुसार घटाया-बढ़ाया

नही जा सकता । अन्य साधनो की पूर्ति मे कमी-वेशी लाई जा सकती है, लेकिन उस तरह से नही जिस प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति म परिवर्तन लाया जा सकता है । श्रम की पूर्ति अन्तत जनसख्या पर निर्भर करती है और इसमें जल्दी परिवर्तन नही लाया जा सकता। इसके अलावा साधनो के उत्पादन-व्यय को आसानी से ठीक-ठीक मालूम नही किया जा सकता। अस्तु, यद्यपि वस्तुओ और साधनो के मूल्य-निर्धारण म कोई मौलिक व सैद्धान्तिक भेद नही है, दोनो का मूल्य अन्तत माग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होता है, फिर भी साधनो के सम्बन्ध में कुछ विशेष बाते देखने मे आती है । अत इनका अलग अध्ययन करना ही अच्छा होगा । हम अगले अध्यायो मे साधनो के पारिश्रमिक सम्बन्धी बातो पर अलग-अलग विचार करेंगे ।

QUESTIONS

1 How and when does the problem of distribution arise ? Is the distribution of income of any social significance ?

2 What is national dividend ? How is it calculated ?

3 How is the share of the factors of production determined ? Explain briefly

अध्याय ३८

मजदूरी

(Wages)

श्रमिकों को उनके काम या सेवाओं के बदले में जो पारिश्रमिक दिया जाता है, उसे मजदूरी (wages) कहते हैं। "श्रम" शब्द के अन्तर्गत हम सब प्रकार के श्रमिकों को सम्मिलित करते हैं। इसलिए श्रमिक का कार्य चाहे कुशल हो या साधारण उसके पारिश्रमिक को मजदूरी ही कहेंगे।

वैसे तो काम लेने और मजदूरी देने के अनेक तरीके हैं लेकिन इनमें दो मुख्य हैं— एक तो समय के अनुसार मजदूरी या समय-मजदूरी (time wages) और दूसरे काम के गुण-परिमाण के अनुसार मजदूरी या अनुकर्म मजदूरी (piece wages)। पहले तरीके में एक खास समय के आधार पर मजदूरी दी जाती है जैसे ५०० रु० प्रति माह या ५ रु० प्रतिदिन। दूसरे तरीके में कार्य के गुण-परिमाण के विचार से मजदूरी निश्चित की जाती है। इसमें यह तय कर लिया जाता है कि इतने और इस तरह के काम के लिए इतनी मजदूरी दी जायगी। मजदूरी देने के इन दोनों तरीकों के अपने खास गुण और अवगुण हैं जिन पर संक्षेप में नीचे विचार किया जाता है।

समयानुसार मजदूरी

(Time Wages)

वर्तमान समय में इस प्रणाली का अधिक प्रचार है। बहुत प्राचीन काल से यह प्रणाली चली आ रही है। मजदूरी देने का यह तरीका बहुत

सरल और सीधा है। इसके समझने में किसी को कठिनाई नहीं होती। और फिर कुछ कार्य ऐसे है जहा केवल इसी तरीके से मजदूरी देना सम्भव है, जैसे मैनेजर, निरीक्षक आदि के कार्य। निरीक्षक का काम ऊपरी प्रबन्ध और देख-रेख होता है। इस काम को पूरी तरह से मापने के लिए कोई मापदण्ड नहीं है। इस कारण किये हुए काम के गुण और परिमाण के आधार पर निरीक्षक को मजदूरी देना सम्भव नहीं है। इसी तरह यह तरीका उन स्थानो पर विशेषतया सुविधाजनक है जहा कार्य की पूर्णता और सुचारुता अत्यन्त आवश्यक है अथवा जहा बड़ी कीमती मशीनो को प्रयोग मे लाया जाता है। यह तरीका कार्य करने में जल्दबाजी को रोककर काम को खराब नहीं होने देता। मजदूरी भुगतान करने का यह ढग श्रमिको के दृष्टिकोण से भी काफी लाभप्रद है। उन्हें इस बात का पहले से ही ज्ञान होता है कि एक निश्चित समय में उन्हें कितनी मजदूरी मिलेगी। इसके आधार पर वे अपने व्यय की उचित व्यवस्था कर सकते है। साथ ही वे इस चिन्ता से भी बचे रहते है कि अगले दिन उन्हें कितनी मजदूरी मिल सकेगी।

इन सब अच्छाइयो के होते हुए भी इस प्रणाली मे एक बड़ा अवगुण है। वह यह है कि मजदूरो को औरो से अधिक और अच्छा काम करने के लिए कोई विशेष प्रोत्साहन नही मिलता। निपुण श्रमिक को अधिक काम करने के बदले में कोई विशेष पुरस्कार नही मिलता। फलस्वरूप वह भी साधारण मजदूरो के धरातल पर आ जाता है। इसके अतिरिक्त मजदूरी निश्चित होने के कारण श्रमिको मे शिथिलता आ जाती है, उनमे काम टालने की आदत पड जाती है। इस कारण मालिक को मजदूरो पर देख-रेख करने के लिए कई निरीक्षको को नियुक्त करना पडता है। इससे उत्पादन-व्यय बढ जाता है।

कार्यानुसार मजदूरी
(Piece Wages)

आजकल अनुकर्म व कार्य-मजदूरी प्रणाली का अधिक प्रचार होता

जा रहा है। बहुत-कुछ अश तक मजदूर और मालिक दोनो के लिए यह प्रणाली लाभप्रद है। जितना अधिक और अच्छा काम कोई श्रमिक करेगा, उतनी ही अधिक उसे मजदूरी मिलेगी। अस्तु, यह प्रणाली योग्यता और परिश्रम से काम करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन देती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिक योग्यता व कार्यक्षमता प्रदर्शित करके कुशल और अनुभवी श्रमिक को अधिक मजदूरी प्राप्त करने का पूरा अवसर मिल जाता है। इससे श्रमिकों को ही नही बल्कि मालिक को भी लाभ होता है। जो कुछ मजदूरी वह अपने मजदूरो को देता है, उसे उसका पूरा फल मिल जाता है और साथ-साथ देख-रेख का खर्च भी बहुत कम पडता है। *किन्तु कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली में भी कई हानियां व दोष हैं।* सबसे बडा दोष यह है कि श्रमिक ज्यादा से ज्यादा मजदूरी कमाने के लिए काम में जल्दबाजी करने लग जाते हैं जिससे काम खराब और घटिया किस्म का होता है। अधिक और जल्दी से काम करने में केवल काम ही खराब नहीं होता बल्कि श्रमिको के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पडता है। ज्यादा काम करने के कारण उनकी कार्य-शक्ति गिर जाती है और जीवन अवधि भी घटने लगती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के फलस्वरूप श्रमजीवियो म परस्पर होड और ईर्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण मजदूर-सघ कमजोर पड जाता है और इस प्रकार मजदूरो के हितो की पूरी रक्षा नही हो पाती।

मजदूरी देने के सतोषजनक तरीके के लिए उपर्युक्त दोनो प्रणालियों का मिश्रण आवश्यक है जिससे दोनो की अच्छाइयो से लाभ उठाया जा सके। उस दशा म निश्चितता भी होगी और योग्य श्रमजीवियो को अपनी विशेष योग्यता का लाभ उठाने का अवसर भी मिल सकेगा।

नकदी तथा वास्तविक मजदूरी
(Money and Real Wages)

साधारणत वर्तमान समय म मुद्रा क रूप म ही मजदूरी दी जाती है। जो कुछ मजदूरी किसी श्रमिक को रुपये-पैसे या मुद्रा के रूप में

मिलती है, उसे मौद्रिक, नकदी या नाममात्र की मजदूरी (money or nominal wages) कहते हे । यह तो सभी जानते है कि मुद्रा द्वारा आवश्यकताओ को सीधे तौर से तुष्ट नही किया जा सकता। मुद्रा तो केवल विनिमय का एक साधन है। इससे अन्य वस्तुए खरीदी जा सकती हैं। अस्तु, श्रमिको के लिए जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह नही कि उन्हे कितनी नकदी मजदूरी मिलती है, बल्कि यह कि नकदी मजदूरी के बदले मे उन्हे कितनी अन्य वस्तुए और सेवाए प्राप्त हो सकती हैं। दूसरे शब्दो मे, श्रमिक के लिए नकदी मजदूरी का स्वत कोई महत्व नही होता। नकदी मजदूरी तो वह इसलिए स्वीकार करता है ताकि उसके बदले मे वह आसानी से अपनी इच्छानुसार वस्तुए खरीद सके। इससे यह स्पष्ट है कि मजदूरो की यथार्थ आर्थिक स्थिति नकदी मजदूरी पर नही, बल्कि वास्तविक मजदूरी पर निर्भर होती है। "वास्तविक मजदूरी"-(real wages) से अभिप्राय उन तमाम वस्तुओ और सेवाओ से है, जो किसी श्रमिक को उसके काम के बदले मे प्राप्त होती हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों में से किसी एक को चुनते समय श्रमिक मुख्यत वास्तविक मजदूरी को ही देखता हैं। अत उन बातो पर विचार करना आवश्यक है जिनसे वास्तविक मजदूरी निर्धारित होती है। मुख्यरूप से वास्तविक मजदूरी निम्नलिखित बातो द्वारा निश्चित होती है —

(१) मूल्य-स्तर—वस्तुओ का मूल्य सब स्थान और समय पर एक समान नही होता। कुछ स्थानो पर वस्तुओ का मूल्य कम होता है, और कुछ स्थानो पर अधिक। इसका प्रभाव वास्तविक मजदूरी पर बहुत पडता है। यदि किसी स्थान पर वस्तुए सस्ती हैं, तो वहा के श्रमिको की वास्तविक मजदूरी, महगे स्थानो के श्रमजीवियो की मजदूरी की अपेक्षा, अधिक होगी। उदाहरण के लिए दो मजदूरो को ले लो जिनकी नकदी मजदूरी बराबर है। मान लो इनमे से एक मेरठ मे रहता है और दूसरा दिल्ली मे। छोटा शहर होने के कारण मेरठ मे दिल्ली की अपेक्षा रहन-सहन का खर्चा कम है। वहा चीजे सस्ती हैं। इस कारण बराबर नकदी-

मजदूरी होते हुए भी, गेरठ वाले मजदूर की वास्तविक मजदूरी अधिक होगी ।

(२) भुगतान का ढंग व रूप—यद्यपि साधारणतया मजदूरों को नक्दी मजदूरी दी जाती है, फिर भी प्राय उनमें से कुछ को उसके अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ, सुविधाएं आदि भी मिलती हैं, जैसे खेतिहर मजदूरों को प्राय बिना मूल्य अथवा सस्ते भाव पर अनाज, दूध, घी, आदि वस्तुएं मिल जाती हैं । इसी प्रकार खानों में काम करने वालों को सस्ता कोयला और मछेरों को मछलियां मिल जाती हैं । कुछ काम ऐसे होते हैं जहां अवधि समाप्त होने पर पेंशन मिलती है । वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय हमें इस प्रकार के सब लाभों की गणना करनी होगी । ऐसी दशा में नकदी मजदूरी के कम रहने पर भी वास्तविक मजदूरी बहुत अधिक हो सकती है ।

(३) कार्य का रूप—कार्य का रूप भी विशेष महत्त्व रखता है । कुछ काम बहुत ही कठिन और खतरनाक होते हैं जिनके करने में शरीर और मस्तिष्क पर बहुत जोर पड़ता है, मृत्यु या चोट लग जाने का डर रहता है और उनमें तरह-तरह के जोखिमों का सामना करना पड़ता है । इन कारणों से वहां के श्रमिकों की कार्य करने की अवधि घट जाती है । फिर कुछ काम ऐसे भी हैं जो बहुत गन्दे और अरुचिकर होते हैं, जो उन्नति और सम्मान में बाधक होते हैं । ऐसे धन्धों में नक्दी मजदूरी अधिक होने पर भी वास्तविक मजदूरी कम ही ठहरती है । इसके विपरीत जिन कार्यों में सम्मान प्राप्त होता है, जो रुचिकर और स्वास्थ्यकर होते हैं, उनमें वास्तविक मजदूरी अपेक्षाकृत अधिक बैठती है ।

(४) कार्य का स्थायीपन और नियमितता—वास्तविक मजदूरी का हिसाब लगाते समय काम की नियमितता और स्थायीपन पर ध्यान देना आवश्यक है । कुछ पेशों में लगातार काम नहीं मिलता,—जैसे खेती, गृह-निर्माण अथवा गुड़ पेरने का काम । मछलीगाहों और जहाजी

व्यवसाय में जो काम मिलता है, वह भी निश्चित नही होता। इस प्रकार के धन्धों मे श्रमजीवियों को कभी काम मिल जाता है और कभी उन्हें बेकार बैठना पड़ता है। काम निश्चित तथा लगातार न होने के कारण इन धन्धों मे वास्तविक मजदूरी अपेक्षाकृत कम होती है।

(५) **पूरक आय के अवसर**—इस सम्बन्ध में पूरक आय के अवसरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ काम इस ढग के होते हैं जहाँ श्रमिकों को काफी अवकाश मिलता है जिसका उचित उपयोग करके वे अपनी आय अन्य साधनों द्वारा बढा सकते हैं। उदाहरणत एक अध्यापक खाली समय में पुस्तकें लिख कर अथवा विद्यार्थियों को अलग पढ़ा कर अपनी आय बढा सकता है। इस प्रकार के अवसरों से कम नकदी मजदूरी होने पर भी वास्तविक मजदूरी बढ सकती है। किन्तु हर एक काम मे ऐसे अवसर प्राप्त नही होते।

(६) **सफलता और उन्नति की आशा**—भविष्य मे उन्नति और अधिक मजदूरी मिलने की सभावना से श्रमिक शुरू में अन्य स्थानों से कम मजदूरी पर भी काम करने को तैयार हो जाते हैं क्योंकि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से इस तरह के काम में वास्तविक मजदूरी अधिक होती है। जिन धन्धों में उन्नति के अवसर कम अथवा बिलकुल नही होते उनमे वास्तविक मजदूरी कम होती है।

(७) **काम सीखने का समय और खर्चा**—कुछ पेशों जैसे डाक्टरी, इन्जीनियरिंग आदि मे बहुत लम्बी और महंगी शिक्षा तथा ट्रेनिंग की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, खोदने का काम, ईंट ढोने का काम आदि ऐसे धन्धे हैं जिनमें किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नही होती। श्रमिक छोटी उम्र से ही इन कामों को करने लग जाते हैं। लेकिन डाक्टर, वकील आदि के लिए यह सम्भव नहीं है। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

(८) **व्यापार सम्बन्धी व्यय**—कुछ पेशों में दूसरों की अपेक्षा व्यापार-सम्बन्धी व्यय अधिक होते हैं। वकीलों को पूरा दफ्तर रखना

पड़ता है, पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं और कचहरी में एक विशेष वेश-भूषा में उपस्थित होना पड़ता है अर्थात् उन्हें एक खास प्रकार की सजावट और साज-सामान की जरूरत पड़ती है। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को इन सब की कोई आवश्यकता नहीं होती। वास्तविक मजदूरी मालूम करते समय नकदी मजदूरी में से इस प्रकार के खर्चे घटा देने चाहिए। नकदी आय अधिक होने पर भी यदि व्यावसायिक-व्यय भी अधिक करना पड़ा तो वास्तविक आय अपेक्षाकृत कम ही होगी।

(९) **काम करने का काल**---वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय प्रतिदिन कार्य करने के घण्टे और छुट्टियों की गिनती का भी ध्यान रखना आवश्यक है। जब हम प्रातः ९ बजे से रात्रि तक कार्य करने वाले बैंक के कर्मचारी की तुलना दो अथवा तीन घण्टे नित्य पढ़ाने वाले और बहुत अधिक छुट्टियाँ पाने वाले कालेज के प्रोफेसर से करते हैं, तब यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। नकदी आय थोड़ी कम होने पर भी *प्रोफेसर की वास्तविक आय इस कारण अधिक ही ठहरेगी।*

भिन्न-भिन्न स्थान तथा उद्योग-धन्धों में काम करने वाले मजदूरों की आर्थिक स्थिति की तुलना करते समय नकदी और वास्तविक मजदूरी का अन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है। यदि किसी मजदूर को ५०० रुपये मासिक वेतन मिलता हो और दूसरे को केवल ४५० रुपये मासिक, तो यह कोई आवश्यक नहीं कि ५०० रु० पाने वाले मजदूर की आर्थिक स्थिति दूसरे की अपेक्षा अधिक अच्छी ही हो। किसी मजदूर की आर्थिक स्थिति का निर्णय उसकी वास्तविक मजदूरी से ही किया जा *सकता है, न कि उसकी नकदी मजदूरी द्वारा।* नकदी मजदूरी कम होने पर भी वास्तविक मजदूरी अधिक हो सकती है और नकदी मजदूरी अधिक होने पर भी वास्तविक मजदूरी अपेक्षाकृत कम हो सकती है।

मजदूरी-निर्धारण

(Wage-Determination)

मजदूरी सम्बन्धित समस्याओं में से हम यहाँ केवल दो पर ही विचार

करेंगे। प्रथम यह कि मजदूरी की दर कैसे निर्धारित होती है और दूसरे विभिन्न श्रमिकों की मजदूरी की दरों में इतना अन्तर क्यों होता है ? पहले मजदूरी-निर्धारण को ही ले लिया जाय।

अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न समय पर मजदूरी निर्धारित करने के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनमें से मुख्य ये हैं जीवन-निर्वाह-मजदूरी-सिद्धान्त, मजदूरी-कोष-सिद्धान्त, अवशिष्ट अधिकार सिद्धान्त और सीमान्त उत्पादिता-सिद्धान्त-। इनको असन्तोषजनक सिद्ध होने के कारण अब इनका स्थान आधुनिक सिद्धान्त ने ले लिया है जिसे मजदूरी की माग और पूर्ति सिद्धान्त कहते हैं। मजदूरी के निर्धारण का यह सिद्धान्त सर्वथा वैसा ही है जैसा कि मूल्य-निर्धारण का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं के मूल्य की भांति मजदूरी भी श्रम की माग और उसकी पूर्ति के परस्पर प्रभाव के फलस्वरूप निर्धारित होती है। मजदूरी की दर उस स्थान पर निर्धारित होती है जहा पर श्रम की माग और पूर्ति बराबर होती है। यदि श्रम की माग पूर्ति से अधिक है तो मजदूरी की दर ऊंची होगी, और यदि श्रम की पूर्ति माग से अधिक है तो मजदूरी की दर कम व नीची होगी। अब हम यहा पर श्रम की माग और पूर्ति का अलग-अलग अध्ययन करके यह देखेंगे कि दोनों के पारस्परिक प्रभाव से किस प्रकार मजदूरी की दर निर्धारित होती है।

श्रम की माग
(Demand for Labour)

हम किसी वस्तु की माग इसलिए करते है कि उसमें उपयोगिता होती है और यही कारण है कि हम उस वस्तु के बदले मे कुछ मूल्य देने के लिए तैयार होते है। अधिक से अधिक मूल्य जो हम किसी वस्तु के लिए देने को तैयार हो सकते है, वह उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा। इससे अधिक मूल्य देने मे हमे हानि होगी। अतएव हम उस वस्तु को न खरीदेंगे। ठीक यही बात श्रम की माग के लिए लागू है। श्रम की माग व्यवसायी करता है क्योंकि उत्पादन कार्य मे श्रम की आवश्यकता

पड़ती है। दूसरे शब्दों में, श्रम की मांग उसके उत्पादन-शक्ति के कारण होती है। अब प्रश्न यह है कि एक व्यवसायी कहां तक मजदूरों को काम पर लगाता जायगा और कितनी मजदूरी देने को तैयार हो सकेगा। इसका उत्तर देना सरल है। व्यवसायी उस समय तक श्रम को काम पर लगाता जायगा जब तक कि उसे ऐसा करने में लाभ होगा। यह लाभ श्रम की उत्पादिता और उसकी मजदूरी पर निर्भर है। यदि उत्पादिता मजदूरी से अधिक है, तो व्यवसायी को मजदूरों की संख्या बढ़ाने से लाभ होगा। किन्तु यह दशा बराबर बनी नहीं रह सकती, क्योंकि यह अनुभव सिद्ध बात है कि यदि उत्पत्ति के अन्य साधन वैसे ही रखे जाय और किसी विशेष साधन की मात्रा लगातार बढ़ाई जाय, तो एक अवस्था के बाद उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू होने लगता है, अर्थात् उस साधन की सीमान्त उत्पादिता क्रमश घटने लगती है। इसलिए अगर व्यवसायी मजदूरों की संख्या बढ़ाता जायगा, तो उसे भी इस बात का अनुभव करना पड़ेगा। श्रम की सीमान्त उत्पादिता कुछ समय के बाद घटने लगेगी। आगे चलकर एक ऐसी अवस्था भी आ पहुंचेगी जबकि सीमान्त उत्पत्ति क्रमश घटते-घटते मजदूरी के बराबर हो जायगी। यदि व्यवसायी को हर बात का पूरा-पूरा ज्ञान है, तो वह इस सीमा के बाद और मजदूरों को काम पर न लगायेगा क्योंकि ऐसा करने से सीमान्त उत्पत्ति मजदूरी से कम हो जायगी जिससे उसे हानि होगी। जिस श्रमिक को काम पर लगाने से सीमान्त उत्पादन अथवा उसका मूल्य मजदूरी के बराबर हो जाता है, उसे "सीमान्त श्रमिक" कह सकते हैं। इस श्रमिक को अधिक से अधिक सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर मजदूरी दी जा सकती है। जब हम श्रमिकों के किसी एक समूह के बारे में विचार कर रहे हैं, तो उस समूह के सीमान्त और अन्य श्रमिकों की उत्पादन शक्ति को एक समान मान सकते हैं। फलस्वरूप उस समूह के प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी बराबर होगी। यह मजदूरी वह होगी जो व्यवसायी सीमान्त श्रमिक को देने के लिए तैयार हो सकता है। अस्तु, जहां तक श्रम की मांग

के पक्ष का प्रश्न है, मजदूरी सीमान्त उत्पादिता पर निर्भर करती है। व्यवसायी श्रम के बदले में अधिक से अधिक इसी के बराबर मूल्य व मजदूरी दे सकता है।

श्रम की पूर्ति
(Supply of Labour)

एक विशेष मूल्य पर काम के लिए प्रस्तुत की गयी श्रम-शक्ति को श्रम की पूर्ति कहते हैं। श्रम की पूर्ति के अन्तर्गत हम उन सब श्रमिकों की गणना करते हैं जो मजदूरी पर काम करने को तैयार हैं। इसके साथ इसके अन्तर्गत उन घण्टो की जितनी देर प्रत्येक श्रमिक कार्य करने को तैयार है और उसके काम करने की तेजी की भी गणना की जाती है। जिस प्रकार उत्पादन की लागत वह सीमा निश्चित करती है जिससे नीचे साधारणत: वस्तु का मूल्य नहीं जा सकता, उसी प्रकार मजदूरों का जीवन-स्तर वह सीमा है जिसके नीचे आम तौर से मजदूरी की दर नहीं गिर सकती। श्रमिक के जीवन-स्तर के अन्तर्गत हम उन सब आवश्यक, आराम तथा विलास की वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिनके उपभोग का वह आदी हो गया है। साधारण तौर पर कोई भी श्रमिक ऐसी मजदूरी स्वीकार करने को तैयार न होगा जिससे उसका जीवन-स्तर बना नहीं रह सकता। अत श्रम की पूर्ति-पक्ष म एक न्यूनतम सीमा है जिससे नीचे साधारणत मजदूरी नहीं जा सकती। यह सीमा श्रमिक के जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित होती है।

यद्यपि बहुत-सी बातो मे श्रम अन्य वस्तुओ के समान है, फिर भी श्रम की पूर्ति में कुछ ऐसी विशेषताए हैं जिनमें इसमे और अन्य वस्तुओं की पूर्ति में काफी अन्तर होता है। श्रम के परिच्छेद मे हम इन विशेषताओं की चर्चा कर चुके हैं। मजदूरी के बारे में माग और पूर्ति सिद्धान्त का प्रयोग करते समय इन विशेषताओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

माँग और पूर्ति का परस्पर प्रभाव
(Interaction of Demand and Supply)

हम ऊपर देख चुके हैं कि माग के पक्ष से सीमान्त उत्पादिता मजदूरी की उच्चतम सीमा निर्धारित करती है और पूर्ति के पक्ष से जीवन-स्तर न्यूनतम सीमा का निर्धारक है। मजदूर और मालिक के पारस्परिक सौदा करने की शक्ति के अनुसार इन्ही दोनो सीमाओ के बीच में मजदूरी की दर निश्चित होती है। यदि मालिक या व्यवसायी की सौदा करने की शक्ति अधिक है तो मजदूरी न्यूनतम सीमा की ओर झुकेगी और यदि श्रमिको की सौदा करने की शक्ति, मजदूर-संघ अथवा अन्य किसी कारण से अधिक है तो मजदूरी उच्चतम सीमा के निकट होगी। किन्तु साधारणत मालिक की अपेक्षा मजदूरो की सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। इसलिए मजदूरी अधिकतर जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित निम्नतम सीमा के निकट ही निश्चित होती है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर होगी।

मजदूरी में अन्तर
(Differences in Wages)

अभी तक हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे कि मजदूरी की दर कैसे निर्धारित होती है। अब हमारे सामने एक और प्रश्न है जिस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। वह है मजदूरी की दरो में अन्तर। हम देखते हैं कि अलग-अलग धन्धो मे काम करने वाले श्रमिको की मजदूरी की दरे भिन्न-भिन्न होती है। यही नही, एक ही व्यवसाय अथवा धन्धे में श्रमिको की मजदूरी की दरो मे काफी अन्तर होता है। मजदूरी की दरो मे इस भिन्नता के क्या कारण है? किसी एक व्यवसाय मे मजदूरी अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कम या अधिक क्यो होती है? मजदूरी की दरो की विभिन्नता के कुछ महत्वपूर्ण कारणो का विश्लेषण नीचे किया जाता है।

(१) उत्पादिता का मजदूरी पर विशेष प्रभाव पड़ता है। नियम के तौर पर श्रमिक की जितनी अधिक उत्पादन-शक्ति होगी, उतनी ही अधिक उसकी मजदूरी होगी। सब मजदूरों की उत्पादन-शक्ति बराबर नहीं होती। उदाहरणार्थ निपुण श्रमिक की उत्पादन-शक्ति साधारण मजदूर से बड़ी अधिक होती है। इसलिए दोनों की मजदूरी की दरों में काफी अन्तर होता है।

(२) भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रम के लिए माग की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ प्रकार के श्रम के लिए माग अधिक होती है, और कुछ के लिए कम। माग में अन्तर होने के कारण मजदूरी की दरों में भी अन्तर हो जाता है। यही नहीं, श्रम की माग सदा एक समान बनी नहीं रहती। फैशन, उत्पादन प्रणाली, लोगों की आय आदि में परिवर्तन होने से कुछ प्रकार के श्रमिकों की माग अधिक हो जाती है और कुछ की कम। माग में इस प्रकार की भिन्नता आ जाने से उनकी मजदूरी की दरों में भी भिन्नता आ जाती है।

(३) विभिन्न व्यवसायों व धन्धों में श्रम की पूर्ति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ धन्धों में श्रम की पूर्ति की मात्रा बहुत कम होती है, और कुछ में अधिक। अत पहले धन्धों में दूसरों की अपेक्षा मजदूरी की दर अधिक होगी। भिन्न-भिन्न धन्धों में श्रम की मात्रा की कमी अथवा अधिकता क्यों होती है, इसको मालूम करना कठिन नहीं है। कुछ धन्धों में ऐसे विशेष गुण रखने वाले मजदूरों की आवश्यकता होती है जो सख्या में बहुत कम होते हैं। इस कारण अधिक मजदूरी वाले धन्धों में काम करने की योग्यता न रखने के कारण बहुत-से मजदूरों को कम मजदूरी पर काम करना पड़ता है। किन्तु सबसे बड़ी बात है काम सीखने का खर्चा। कुछ धन्धों के सीखने में इतना अधिक खर्च पड़ता है कि बहुत ही थोड़े मजदूर उन्हें सीख पाते हैं। स्वाभाविक योग्यता होने पर भी बहुधा निर्धनता के कारण बहुत-से मजदूरों के लिए अधिक मजदूरी वाले पेशों में काम करने के लिए आवश्यक शिक्षा पाना असम्भव हो जाता है।

सुगमता और सस्ते में सीखे जाने वाले धन्धो की अपेक्षा इन महगे पेशो मे श्रम की पूर्ति की मात्रा बहुत कम होती है। इस कारण भिन्न-भिन्न व्यवसायो में मजदूरो की कमी या अधिकता होने से मजदूरी भिन्न-भिन्न होती है।

(४) किसी पेशे के रुचिकर अथवा अरुचिकर होने से भी मजदूरी की दरो म भिन्नता आ जाती है। सब काम एक बराबर रुचिकर नही होते। कुछ काम तो बहुत ही अरुचिकर, खतरनाक और अनिश्चित होते है। अधिक छुट्टियो वाले, मानप्रद, सुरक्षित और निश्चित पेशो की अपेक्षा ऐसे अरुचिकर पेशो मे मजदूरी की दरें अधिक होगी। यदि ऐसा न हो तो मजदूर उन जोखिम और अरुचिकर धन्धो में जाना क्यो पसन्द करेंगे। लेकिन प्राय यह देखा जाता है कि गन्दे पेशो म मजदूरी बहुत कम होती है जैसे भारतवर्ष में भगी का धन्धा। इसका कारण यह है कि इस काम के करने के लिए किसी विशेष योग्यता या शिक्षा की आवश्यकता नही पडती और काम करने वालो की सख्या बहुत होती है, क्योकि भारतीय समाज के रीति-रिवाज ऐसे है कि अन्य धन्धो में जाने के लिए भगी को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसलिए उनकी मजदूरी कम है।

(५) इसके अतिरिक्त कुछ धन्धो म दूसरे धन्धो से अधिक सगठित होने के कारण मजदूरो को अधिक मजदूरी मिलती है। सगठन द्वारा मजदूरो की शक्ति बढ जाती है और प्राय वे मजदूरी बढाने की माग को पूरा कराने मे सफल होते हैं। जिन पेशो मे मजदूरो में इस तरह की शक्ति नही होती, वहा मजदूरी की दरे बहुत कम होती है। मजदूरी की दरो की भिन्नता में कुछ हद तक रीति-रिवाज और परम्परा का भी हाथ होता है।

उपर्युक्त बातो से पता चलता है कि विभिन्न व्यवसायो या धन्धो मे मजदूरी की दरे भिन्न-भिन्न क्यो होती है। ऊपर कहा जा चुका है कि सब मजदूर एक समान योग्य, कुशल, पटु और शिक्षित नही होते और न ही उनमे आपस में पूर्ण प्रतियोगिता होती है। भिन्न-भिन्न व्यवसायो में प्रवेश

करने की पूर्ण स्वतन्त्रता श्रमिकों को नहीं होती और न उनमें पूर्ण गतिशीलता ही होती है। फलस्वरूप कुछ धन्धों में बहुत ऊंची मजदूरी होती है और कुछ में बहुत कम। पूर्ण प्रतियोगिता और गतिशीलता के अभाव के कारण मजदूरी की दरों में भिन्नता बनी रहती है। पर इसका यह आशय नहीं कि पूर्ण प्रतियोगिता और गतिशीलता के होने पर मजदूरी की दरों की भिन्नता दूर हो जायगी। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि सब मजदूर एक समान योग्य और कुशल है और प्रत्येक मजदूर को अपनी रुचि के अनुसार किसी व्यवसाय में प्रवेश करने की पूर्ण स्वतन्त्रता और सुविधा है, तो भी मजदूरी की दरें एक समान नहीं होंगी। इसका कारण यह है कि सब धन्धे एक जैसे नहीं होते। कुछ धन्धे रुचिकर होते है,कुछ अरुचिकर। किसी धन्धे मे उन्नति और सफलता की बड़ी गुंजायश होती है किसी मे कम। कुछ धन्धे ऐसे है जिनके सीखने में बहुत समय लगता है और खर्च भी बहुत होता है और इसके विपरीत कुछ धन्धो को बहुत शीघ्र और कम खर्च में आसानी से सीखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ धन्धो मे काम बराबर मिलता रहता है, काम करने वाले पर भरोसा किया जाता है, और उन कार्यों से समाज में सम्मान प्राप्त होता है। पर दूसरी ओर कुछ धन्धे घृणा की दृष्टि से देखे जाते है या उनमे लगातार काम नहीं मिलता। इन सब कारणों से विभिन्न व्यवसायो और धन्धो में मजदूरी की दरें भिन्न-भिन्न होती है। यदि ऐसा न हो तो अरुचिकर, जोखिम, नीरस और भारी धन्धो मे जाने के लिए कोई भी तैयार न होगा।

स्त्रियों की मजदूरी

(Women's Wages)

सामान्य रूप से स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी मिलती है। इसके कई कारण है। एक तो यह है कि साधारणतः उनकी शारीरिक-शक्ति और योग्यता पुरुषों से कम होती है। उन धन्धो में जहां शारीरिक शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है, स्त्रियों की उत्पादिता पुरुषों से कम

होती है। इस कारण उनको कम मजदूरी मिलती है। यह ठीक है कि कुछ ऐसे काम हैं, जैसे शिशुपालन आदि, जिनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक योग्य और कुशल होती हैं, किन्तु ऐसे कामों की संख्या बहुत कम है। इसलिए सामूहिक रूप से स्त्रियों की मजदूरी अपेक्षाकृत कम होती है। दूसरे, स्त्रियों को बहुत थोड़े कामों में से ही चुनाव करना पड़ता है। रीति-रिवाज, परम्परा, कानूनी अथवा अन्य प्रतिबन्धों के कारण स्त्रियों के लिए बहुत कम व्यवसाय या पेशे खुले होते हैं। फलस्वरूप स्त्रियों को थोड़े से धंधों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस सीमित कार्य-क्षेत्र में स्त्रियों में परस्पर अधिक होड़ होने के कारण मजदूरी कम हो जाती है। तीसरे, अधिकतर स्त्रियां स्थायी रूप से काम नहीं करतीं। वे केवल थोड़े समय तक के लिए ही काम करती हैं और विवाह आदि हो जाने पर काम छोड़ देती हैं। इस कारण वे अधिक मजदूरी वाले धन्धों के लिए लम्बी अवधि तक शिक्षा लेने को तैयार नहीं होतीं। और न मालिक ही उन्हें इस तरह के काम देने के लिए तैयार होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि स्त्रियां स्थायी रूप से काम न करेंगी। अतएव उन्हें इस प्रकार के काम सौंपे जाते हैं जो आसानी से सीखे और किये जा सकते हैं और जिनके रुकने से सारे काम को कोई विशेष धक्का नहीं लगता। फलस्वरूप उनको कम मजदूरी मिलती है। चौथे, प्रायः स्त्रियों के उत्तर-दायित्व पुरुषों से कम होते हैं। अक्सर उन्हें केवल अपना ही पालन करना होता है और कभी-कभी वे इस उत्तरदायित्व से भी मुक्त होती हैं। इस-लिए वे कम मजदूरी भी स्वीकार कर लेती हैं। पांचवें, मजदूर-संघ के रूप में सुसंगठित न होने के कारण स्त्रियों की सौदा करने की शक्ति पुरुषों से कम होती है। अतएव उन्हें प्रायः कम मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है।

मजदूरी और कार्य-कुशलता
(Wages and Efficiency)

ऊपरी तौर से यह मालूम पड़ता है कि यदि व्यवसायी श्रमिकों को कम से कम मजदूरी दें और ज्यादा से ज्यादा समय तक उनसे काम लें

तो उन्हें अधिक लाभ होगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। व्यवसायियों का अनुभव भी इस बात की पुष्टि करता है। यदि मजदूरी बहुत कम दी जाती है, तो श्रमिक अपना और अपने कुटुम्ब का पालन ठीक ढंग से न कर सकेंगे। उनका जीवन-स्तर नीचे गिरने लगेगा और इस कारण उनकी कार्यक्षमता में भी कमी आ जायगी। इसका प्रभाव उत्पादन पर अवश्य ही बुरा पड़ेगा। फलस्वरूप व्यवसायी के लिए कम मजदूरी देना लाभप्रद न होगा क्योंकि इससे उत्पादन कम और बुरा होगा। ठीक यही बात काम करने के घंटों के लिये लागू है। यदि कोई व्यवसायी अपने मजदूरों से खूब देर तक काम लेता है जिससे उत्पादन में वृद्धि होने से उसे लाभ हो तो सम्भव है कुछ दिनों तक ऐसा होता रहे। किन्तु अधिक समय तक यह बात नहीं चल सकती। लगातार कई घण्टों तक काम करने से मजदूरों की कार्य-शक्ति गिर जाती है। काम करते समय उन्हे आलसपन और नींद घेरे रहेगी। इस कारण उत्पादन में बार-बार त्रुटियां होंगी और साथ ही साथ काम करने की रफ्तार भी एक सीमा के बाद कम होती जायगी। इन सब बातों का प्रभाव व्यवसायी के लिए अहितकर होगा। अतएव यह सोचना कि कम मजदूरी देना या अधिक समय तक काम लेना सस्ता पड़ता है, भूल है। वास्तव में सस्ते मजदूर अन्त में महंगे पड़ते हैं। एक सीमा तक मजदूरी बढ़ाने से श्रमिक की उत्पादन-शक्ति में उस अनुपात से कहीं अधिक वृद्धि होगी। कार्य-शक्ति में वृद्धि होने से उत्पादन की मात्रा भी तेजी से बढ़ेगी। इस कारण ऊंची मजदूरी देने पर भी मजदूर महंगे नहीं पड़ते क्योंकि काम साफ और अधिक होने लगता है। उदाहरणत अमरीका के मिल-मजदूरों को हिन्दुस्तानी मजदूरों की अपेक्षा चौगुनी मजदूरी दी जाती है। फिर भी वे महंगे नहीं हैं। जहां पर कीमती मशीनें प्रयोग की जाती हैं अथवा काम की सफाई अधिक आवश्यक है, वहां पर ऊंची मजदूरी देना विशेष रूप से लाभप्रद होता है।

QUESTIONS

1 What are the relatıve merıts and demerits of tıme and pıece wages system ?

2 Dıstınguısh between nomınal and real wages Explaın the factors that determıne real wages

3 How ıs the wage rate determıned ?

4 How are wages related to (a) supply of labour and (b) efficıency of labour ?

5 Account for the wıde dıfferences ın wages

6 Dıscuss the causes of ınequalıty of wages Why are the wages of women lower than those of men ?

7 Is hıgh paıd labour dear labour ? Explaın fully

अध्याय ३९

ब्याज

Interest

....

जैसा कि पहले कहा जा चुका है आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में पूँजी का स्थान बहुत ऊँचा और महत्त्वपूर्ण है। कृषि, उद्योग, व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में पूँजी की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इसके उपयोग से श्रम की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है और उत्पादन विभिन्न प्रकार का तथा बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। एक सीमा तक जिस उत्पादन में जितनी ही अधिक पूँजी लगाई जा सकती है, वह उतना ही अधिक, अच्छा और सस्ता होगा। लोगों को उतना ही अधिक काम और सस्ते भाव पर तरह-तरह की चीजें मिल सकेंगी। पूँजी के अभाव में उत्पादन, व्यापार आदि किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में लोगों को काम मिलना मुश्किल हो जायगा और फलस्वरूप देश में बेकारी, गरीबी आदि जटिल समस्याएं फैलने लगेंगी। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवसाय की तेजी-मंदी, व्यक्ति और समाज की समृद्धि-दरिद्रता, उन्नति-अवनति बहुत अंशों में पूँजी के उपयोग पर निर्भर है। पूँजी का उपयोग मुख्यतः ब्याज के आधार पर निर्धारित होता है। यदि ब्याज की दर नीची है, तो साधारण रूप से नये उद्योगों के खोलने तथा पुराने व्यवसायों को फैलाने में पूँजी अधिकाधिक मात्रा में उपयोग की जायगी। फलस्वरूप उत्पादन का परिमाण बढ़ेगा। इसके विपरीत यदि ब्याज की दर ऊँची है, तो पूँजी कम मात्रा में लगाई जायगी और फलस्वरूप उत्पादन का कुल परिमाण कम होगा। ब्याज की दर के कम या

अधिक होने का प्रभाव केवल उत्पादन पर ही नही पडता बल्कि वितरण और सामाजिक क्षेत्रो पर भी पडता है। वास्तव मे ब्याज का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजकीय अर्थ-व्यवस्था, व्यवसाय-चक्र, आर्थिक आयोजन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो के साथ जुडा हुआ है। अत ब्याज का विश्लेषण और अध्ययन हर दृष्टि से बहुत आवश्यक है।

शुद्ध और कुल ब्याज
(Net and Gross Interest)

धनोत्पादन का वह भाग जो पूजी प्रदान करने वालो को उनकी पूजी की सेवाओ के बदले में दिया जाता है "ब्याज" या "सूद" (Interest) कहलाता है। अर्थात् ब्याज उस धन को कहते है जो पूजी के उपयोग के लिए दिया जाता है। इस सम्बन्ध मे शुद्ध और कुल ब्याज के बीच जो अन्तर है, उसे समझ लेना बहुत जरूरी है। "शुद्ध ब्याज" (Net Interest) का आशय उस धन से है जो केवल पूजी के उपयोग के लिए ही दिया जाता है। यदि पूजी के उधार देने में कोई जोखिम न हो और न ही उसमे कोई असुविधा, अतिरिक्त खर्च अथवा किसी प्रकार के कार्य की आवश्यकता हो, तो जो ब्याज उस दशा में मिलेगा वह केवल पूजी के उपयोग के लिए ही होगा। इस तरह के ब्याज को, जिसमे पूजी के उपयोग के अलावा अन्य किसी बात के लिये भुगतान की रकम शामिल नही रहती, अर्थशास्त्र में शुद्ध अथवा वास्तविक ब्याज कहते हैं। शुद्ध ब्याज का उदाहरण देना तो कठिन है क्योंकि सभी प्रकार के ऋणों मे कुछ न कुछ जोखिम व असुविधा तो होती ही है। फिर भी इसका अन्दाजा उस ब्याज से हो सकता है जो सरकार अपने कर्जो पर देती है। साधारणतः जो कर्ज सरकार को दिया जाता है, उसमें जोखिम और असुविधा नही के बराबर होती है। अत जो ब्याज सरकार द्वारा मिलता है, वह लगभग शुद्ध ब्याज के समान होता है।

"कुल" अथवा "सकल ब्याज" (Gross Interest) उस सारी रकम व धन को कहते है जो उधार लेने वाला साहूकार

अथवा ऋणदाता को लौटाता है। इसमें शुद्ध-ब्याज के अलावा अन्य भुगतानों की रकमें भी शामिल रहती हैं जैसे जोखिम के लिए बीमा की रकम, कष्ट और असुविधाओं के लिए मुआवजे की रकम इत्यादि। यदि हम कुल व सकल ब्याज का विश्लेषण करें तो देखेंगे कि इसमें मुख्यत निम्नलिखित भुगतानों की रकमें शामिल रहती हैं —

(१) **शुद्ध ब्याज** (Net Interest)—यह वह रकम है जो केवल पूंजी के उपयोग के बदले में दी जाती है।

(२) **जोखिम के लिए बीमे की रकम**—(Insurance against Risk)—साधारणत उधार देते समय ऋणदाता को कुछ जोखिम उठानी पड़ती है। अत वह शुद्ध ब्याज के अलावा जोखिम का भार अपने ऊपर लेने के लिए बीमे के रूप में कुछ रकम लेता है। किसी ऋण के देने में जितनी अधिक या कम जोखिम होगी, कुल ब्याज की दर उतनी ही अधिक या कम होगी। यह जोखिम दो प्रकार की होती है–(१) वैयक्तिक जोखिम (personal risks) और (२) व्यापारिक जोखिम (trade risks)। (जब कोई कर्जदार बेईमानी के विचार से या ऋण चुका सकने में असमर्थ होने के कारण ऋण नहीं चुकाता, तब जिस जोखिम का भार ऋणदाता को उठाना पड़ता है वह वैयक्तिक जोखिम कहलाता है)। अर्थात् वैयक्तिक जोखिम का सम्बन्ध उधार लेने वाले व्यक्ति के साथ होता है। यह इस कारण पैदा होती है कि कर्जदार बेईमान व निकम्मा निकल सकता है। ऋण देते समय साहूकार को डर लगा रहता है कि कहीं कर्जदार बेईमानी न कर बैठे अथवा निकम्मा न निकल जाय और इस कारण उसकी पूंजी लौट न सके। इस तरह के जोखिम को वैयक्तिक जोखिम कहते हैं। इसके विपरीत व्यापारिक जोखिम का सम्बन्ध उद्योग-धन्धे व व्यापार में उतार-चढ़ाव के साथ होता है। व्यापारिक जोखिम इस कारण पैदा होती है कि उत्पादन के समय अथवा उसके बाद माग बदल जाती है, कच्चे माल की कीमतें गिर जाती हैं अथवा नये सुधारों व आविष्कारों के कारण उत्पादन

व्यय कम हो जाता है और इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु के दाम कम हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों के कारण उधार दी हुई पूजी के मिलने में जो अडचन व बाधाए पडती है, वे सब व्यापारिक जोखिम के अन्तगत आ जाती है। सम्भव है कजदार सच्चा और ईमानदार हो लेकिन जिस व्यापार अथवा धन्धे मे उसने उधार ली हुई पूजी लगा रक्खी हो वह अनिश्चित हो उसमे उतार चढाव होता हो और फलस्वरूप साहूकार की पूजी खतरे मे पड जाय और वह वापिस न हो सके। इन सब खतरो व जोखिमो को अपने सिर पर लेने के लिए साहूकार शुद्ध ब्याज के अलावा अतिरिक्त धन कजदार से लेता है जो कुल ब्याज में शामिल रहता है।

(३) असुविधाओ के लिए भुगतान (Payment for Inconvenience)—जोखिम के अलावा ऋणदाता को ऋण देने में कुछ असुविधाए भी होती है जिनके मुआवजे के लिए वह कुछ रकम लेता है। उदाहरणार्थ जितने समय के लिए वह ऋण देता है उतने समय के लिए अपनी पूजी के उपयोग करने का उसका अधिकार जाता रहता है। सम्भव है उस बीच मे उसे और अधिक लाभप्रद ढग से पूजी लगाने का अवसर मिले अथवा कजदार ऐसे समय कर्ज अदा करे जो साहूकार के लिए बहुत असुविधापूर्ण हो अर्थात उस समय जबकि पूजी को फिर से किसी लाभ के काम मे लगाना कठिन या असम्भव हो। इन सब असुविधाओ के लिए भी साहूकार कर्जदार से कुछ रकम लेता है जो कुल ब्याज मे शामिल रहता है। *साहूकार को ऋण देने मे असुविधाए जितनी अधिक होंगी,* कुल ब्याज भी उतना ही अधिक होगा।

(४) कार्य और प्रबन्ध के लिए पारिश्रमिक (Payment for Work and Management)—प्रत्येक कर्ज के सम्बन्ध में साहूकार को कुछ काय और प्रबन्ध करना पडता है। उसे हिसाब रखना पडता है ब्याज की जो छोटी छोटी किश्त आती है उन्हे लिखना

पड़ता है, तकाजे भेजने पड़ते हैं और कभी कभी मुकदमेबाजी भी करनी पड़ती है। इन सब कार्यों के लिए भी साहूकार कुछ पारिश्रमिक चाहता है। कुल ब्याज में ऋण सम्बन्धी कार्य और प्रबन्ध के लिए जो रकम ली जाती है शामिल रहती है।

उपर्युक्त बातों में कुल और शुद्ध ब्याज का अन्तर स्पष्ट है। शुद्ध ब्याज कुल ब्याज का केवल एक अंश है। कुल ब्याज में, शुद्ध ब्याज के अतिरिक्त, अन्य अनेक प्रकार के भुगतानों की रकमें शामिल रहती हैं। इसलिए यह सम्भव है कि शुद्ध ब्याज के कम होने पर भी कुल ब्याज अधिक हो। इसके अलावा प्रतियोगिता के कारण एक खास समय और स्थान में शुद्ध ब्याज की दर के एक ही होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु अन्य भुगतानों की रकमों के भिन्न होने के कारण, एक ही समय और एक ही देश के विभिन्न भागों में कुल ब्याज की दर भिन्न-भिन्न पाई जाती है। अर्थात् कुल ब्याज की दरों में एक ही होने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती।

ब्याज की आवश्यकता और औचित्य

(Necessity and Justification of Interest)

ब्याज लेना उचित है या नहीं, यह मुख्यतः एक नैतिक प्रश्न है। फिर भी इसका एक आर्थिक पहलू है, इसलिए अर्थशास्त्र के अन्तर्गत इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों और धर्मों में ब्याज लेना अनुचित और निन्दनीय ठहराया जाता था। इसके अनेक कारण थे। एक तो उस समय के लोग पूंजी के विभिन्न लाभप्रद उपयोगों अथवा सेवाओं से परिचित नहीं थे। वे यह सोचते थे कि ऋण देने में न तो साहूकार किसी प्रकार का त्याग करता है और न कर्जदार को उसमें कोई लाभ पहुंचता है। इसके अलावा प्राचीन काल में उत्पादन का ढंग बहुत सीधा और सरल था। व्यापार और उद्योग-धन्धों का क्षेत्र बहुत सीमित था। अतः उस समय पूंजी से लाभ उठाने के मौके बहुत कम थे। अधिकतर लोग व्यापार-व्यवसाय के द्वारा लाभ उठाने के लिए

नहीं बल्कि जीवन-रक्षा के लिए ऋण लेते थे। अर्थात् अधिकांश ऋणों का सम्बन्ध उत्पादन से नहीं, बल्कि उपभोग से होता था। साधारणतः ऋण देने वाले धनी व्यक्ति होते थे और कर्जदार गरीब। इन सब बातों के कारण प्राचीन काल में ब्याज लेना निन्दनीय समझा जाता था।

किन्तु अब पुरानी बात और परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। वैज्ञानिक उन्नति के प्रभाव से उत्पादन प्रणाली का सारा ढांचा बदल गया है। कृषि व्यापार व्यवसाय यातायात आदि सभी आर्थिक क्षेत्रों में महान परिवर्तन हुए हैं। अब उत्पादन अधिकतर बड़े परिमाण पर बड़े-बड़े कारखानों में होता है जहाँ विभिन्न प्रकार की बड़ी बड़ी मशीनें उपयोग में लाई जाती हैं। उद्योग धन्धों की संख्या में बराबर वृद्धि होती रही है। व्यापार ने स्थानीय रूप छोड़ कर अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। इन सब परिवर्तनों के कारण आधुनिक आर्थिक जगत में पूँजी का स्थान बहुत ऊँचा हो गया है। इसके लाभप्रद उपयोगों का क्षेत्र आधुनिक समय में बहुत बढ़ गया है। कृषि उद्योग व्यापार व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में पूँजी के उपयोग के लाभप्रद अवसरों में बड़ी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। अब पूँजी अधिकतर उत्पादन कार्य में लगाने के लिए ली जाती है। इसकी सहायता से उत्पादन में बहुत वृद्धि होती है और कर्जदार को लाभ पहुँचता है। इस वृद्धि का एक भाग पूँजी देने वालों को ब्याज के रूप में दिया जाना उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक है। पूँजी के संचय और निर्माण में एक साधारण व्यक्ति को अपने वर्तमान सुखों का संतोष और तृप्ति का कुछ अंश तक त्याग करना पड़ता है। अतः यह उचित ही है कि उसकी पूँजी के उपयोग के बदले जिसके लिए उसे स्वार्थ त्याग और कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जिसके उपयोग से उत्पादन अथवा आय में वृद्धि होती है कुछ धन ब्याज के रूप में दिया जाय। यही नहीं यदि ब्याज न दिया जाय तो पूँजी संचय करने की इच्छा की तीव्रता काफी कम हो जायगी। फलस्वरूप पूँजी की मात्रा घट जायगी। पूँजी की इस कमी के कारण उत्पादन व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में अड़चन

पड़ेगी और आर्थिक उन्नति रुक जायेगी। अस्तु, यदि हम चाहते हैं कि लोग अधिक मात्रा में पूंजी सचय करें और वह उत्पादन कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके, तो ब्याज के रूप में लोगों को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। आधुनिक मत ब्याज लेने के विरुद्ध नहीं है और न यह काम अब घृणा अथवा निन्दा की दृष्टि से देखा ही जाता है।

ब्याज क्यों माँगा और दिया जाता है ?

(Why is Interest Demanded and Given?)

हम ऊपर कह चुके हैं कि पूंजी के उपयोग के बदले में जो रकम पूंजीपति को मिलती है ब्याज कहलाती है। अब प्रश्न यह है कि पूंजीपति व ऋणदाता ब्याज क्यों मांगते हैं और कर्जदार ब्याज देने के लिए किस कारण से तैयार हो जाते हैं? ऋणदाता को यह भली भांति मालूम रहता है कि पूंजी के उपयोग से अनेक लाभ प्राप्त हो सकते हैं। पूंजी में उपयोगिता है, इसमें उत्पादन-शक्ति है। इसकी सहायता से उत्पादन और लाभ बढ़ जाता है और कुछ समय के लिए आर्थिक सकटों का सामना किया जा सकता है। यदि इस अतिरिक्त उत्पादन व लाभ का कुछ भाग ऋणदाता को न मिलेगा तो वह अपनी पूंजी उधार देने के लिए तैयार न होगा। वह स्वय उसे प्रत्यक्ष रूप में उपयोग में लाकर लाभ उठाने का प्रयत्न करेगा। यही कारण है कि जब वह दूसरों को पूंजी ऋण के रूप में देता है तो ब्याज मांगता है। ऋण देने पर पूंजी से स्वय लाभ उठाने का अधिकार कुछ समय के लिए जाता रहता है। दूसरे, ऋणदाता को पूंजी-सचय करने और उधार देने में कुछ कष्ट होता है, सतोष और तृप्ति का त्याग करना पड़ता है, वर्तमान उपभोग को भविष्य के लिए स्थगित करना पड़ता है, अर्थात् कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इन सबके बदले में वह ब्याज के रूप में कुछ पारिश्रमिक व पुरस्कार मांगता है। कर्जदार भी इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए पूंजी के उपयोग के लिए ब्याज देने को तैयार रहते हैं। वे जानते हैं कि पूंजी में उपयोगिता और उत्पादन-शक्ति है और उसके उपयोग से लाभ होता है, सतोष और तृप्ति प्राप्त होती

है। इस बात का भी उन्हे ज्ञान होता है कि पूजी के सचय करने और उधार देने में कुछ असुविधाए होती हैं। अत जब तक ऋणदाता को कुछ पुरस्कार व प्रतिफल न दिया जायगा, तब तक पूजी के सचय करने तथा उसके उधार देने मे जो असुविधाए होती हैं, उनको सहने के लिए वे साधारणत तैयार न होंगे। अस्तु, व्याज मागने और दिये जाने के कारण स्पष्ट है।

व्याज-दर का निर्धारण

(Determination of the Rate of Interest)

व्याज-दर के निर्धारण के सम्बन्ध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने समय-समय पर अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इनमें से बहुत से सिद्धान्त व्याज-दर के निर्धारण की समस्या को भली प्रकार हल नही कर पाते। वे केवल इस समस्या के कुछ पहलुओं पर ही प्रकाश डालते हैं, सब पर एक साथ नही। वे एकागी हैं और फलस्वरूप अपूर्ण। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार माग और पूर्ति का सिद्धान्त सब से ठीक है। इसमे अनेक सिद्धान्तो का समन्वय हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्याज पूजी के उपयोग व सेवा का मूल्य है और अन्य मूल्यों की तरह पूजी का मूल्य भी अर्थात् व्याज, माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। जिस स्थान पर पूजी की माग और पूर्ति का साम्य होगा, वही पर व्याज की दर निर्धारित होगी। सक्षेप में, अब हम पूजी की माग और पूर्ति तथा इनके साम्य द्वारा किस प्रकार व्याज की दर निश्चित होती है, इन पर विचार करेंगे।

पूजी की माग (Demand for Capital)—पूजी की माग उसकी उपयोगिता अथवा उत्पादन-शक्ति के कारण होती है। व्यवसायी, व्यापारी आदि अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह पूजी की माग करते हैं क्योंकि इसके उपयोग से उन्हें लाभ होता है, उन्हे सतोष और तृप्ति प्राप्त होती है और यही कारण है कि वे पूजी के उपयोग के लिए व्याज के रूप मे कुछ धन देने को तैयार होते हैं। कोई व्यक्ति पूजी की कितनी मात्रा की माग करेगा अथवा उपयोग में लायेगा, यह पूजी की सीमान्त उत्पादिता

और ब्याज की दर पर निर्भर करता है। यदि सीमान्त उत्पादिता ब्याज से अधिक है, तो वह और अधिक मात्रा में पूजी को माग करेगा अर्थात् पूजी का उपयोग करेगा क्योंकि ऐसा करने से उसे लाभ होगा। लेकिन अन्य वस्तुओं की तरह पूजी के साथ भी घटती सीमान्त उपयोगिता व उत्पत्ति का नियम लागू होता है। यदि अन्य सब बाते पूर्ववत् रहे, तो एक सीमा के बाद पूजी की मात्रा बढ़ाने से उसकी सीमान्त उपयोगिता व उत्पादिता क्रमश कम होती जायगी। अस्तु, वह व्यक्ति तभी तक पूजी को अधिक मात्रा में उपयोग करता जायगा जब तक कि उसकी सीमान्त उत्पादिता उस रकम से अधिक है जो उसे पूजी के बदले म देनी पडती है अर्थात् ब्याज से। जहा पूजी की सीमान्त उत्पादिता ब्याज के बराबर हो जायगी, वही वह व्यक्ति रुक जायगा। उससे अधिक मात्रा में वह पूजी को माग न करेगा क्योंकि उसके आगे और अधिक पूजी उपयोग में लाने से उसे पूजी से कम सीमान्त उत्पादिता मिलेगी लेकिन उसके बदले में उसे अधिक ब्याज देना पड़ेगा। इस कारण उसे हानि होगी। अत' वह व्यक्ति पूजी को उस सीमा के बाद उपयोग मे न लायेगा जहा पर उसकी सीमान्त उत्पादिता ब्याज के बराबर हो जाती है। साम्य की स्थिति में पूजी की सीमान्त उत्पादिता ब्याज के बराबर होती है। अधिक से अधिक जो कुछ कोई व्यक्ति पूजी के उपयोग के बदले मे दे सकता है, वह पूजी की सीमान्त उत्पादिता के बराबर होगा। अस्तु, सक्षेप म हम कह सकते है कि पूजी की माग उसकी सीमान्त उपयोगिता व उत्पादिता पर निर्भर होती है और माग की तरफ से ब्याज अधिक से अधिक पूजी की सीमान्त उत्पादिता के बराबर हो सकता है। इससे अधिक ब्याज होने पर कोई भी व्यक्ति पूजी की सेवाओ को खरीदने के लिए तैयार न होगा।

पूजी की पूर्ति (Supply of Capital)—पूजी की मात्रा (जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन पूजी के अध्याय में किया जा चुका है) मुख्यत सचय करने की शक्ति और इच्छा पर निर्भर करती है। सचय-शक्ति मनुष्य की आय और उसके व्यय पर निर्भर रहती है और सचय

करने की इच्छा मनुष्य की दूरदर्शिता, कुटुम्ब-प्रेम आदि अनेक आन्तरिक और बाहरी बातो पर निर्भर करती है। कारण कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि पूजी बचत द्वारा सचय की जाती है और बचत करते समय मनुष्य को वर्तमान उपभोग भविष्य के लिए टालना पडता है। अस्तु, जब कोई व्यक्ति बचत द्वारा सचित पूजी को दूसरो को उधार देता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह वर्तमान वस्तु या तृप्ति को भावी वस्तु या तृप्ति के साथ विनिमय कर रहा है। किन्तु साधारणत मनुष्य भविष्य के लिए रुकना, ठहरना व प्रतीक्षा करना पसन्द नही करता। वह भविष्य की तुलना मे वर्तमान को अधिक महत्त्व देता है। भविष्य की चीजे उसे छोटी दिखाई देती है। भविष्य मे प्राप्त होने वाला सतोष, वर्तमान की अपेक्षा उसे कम आकर्षक जान पडता है। "नौ नकद न तेरह उधार" की कहावत इस बात की और पुष्टि करती है। अतएव पूजी देते समय मनुष्य को वर्तमान तृप्ति को भविष्य के लिए त्याग करना पडता है। साधारणत कोई भी व्यक्ति बिना किसी अतिरिक्त पुरस्कार व प्रतिफल की आशा के इस तरह का त्याग करने को तैयार न होगा। पूजी के सचय और उसके उधार देने मे जो त्याग करना पडता है, जो प्रतीक्षा करनी पडती है, उसे पूजी का उत्पादन-व्यय कह सकते है। यदि पूजी के उपयोग के बदले मे ऋणदाता को उसके उत्पादन-व्यय मे कम प्रतिफल व ब्याज मिलता है, तो वे अपनी पूजी को दूसरो को देने के लिए तैयार न होगे क्योकि उन्हे लाभ के बजाय हानि होगी। वे पूजी सचय करना कम कर देगे व छोड देगे और धन को अपने वर्तमान उपयोग मे लाने लगगे क्योकि ऐसा करने से उन्हे अधिक तृप्ति मिलेगी। इसमे कोई सन्देह नही कि यदि कुछ भी ब्याज न मिले तो भी कुछ लोग कुछ न कुछ बचत तो करेगे ही। लेकिन इस तरह जो पूजी की मात्रा प्राप्त हो सकेगी, वह बहुत कम होगी। उससे पूजी की कुल माग का बहुत थोडा भाग पूरा हो सकेगा। यदि माग के अनुसार पूजी की पूर्ति होनी है अर्थात् यदि पूजी की पूर्ति इतनी होनी है कि पूजी की माग पूरी हो सके, तो ब्याज की दर को

पूजी के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होनी पड़ेगी। यदि ब्याज पूजी के सीमान्त उत्पादन-व्यय से कम है, तो पूजी की पूर्ति घटती जायगी जब तक कि दोनों बराबर न हो जायेंगे। पूजी के सीमान्त उत्पादन-व्यय का आशय उस त्याग व उत्पादन-व्यय से है जो पूजी की सीमान्त इकाई के कारण होता है। अस्तु, जहा तक पूजी की पूर्ति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि पूजी की पूर्ति सीमान्त उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित होती है। साधारणत कोई भी ऋणदाता पूजी के उपयोग के बदले में सीमान्त व्यय से कम लेने के लिए तैयार न होगा। वह पूजी के मूल्य की अर्थात् ब्याज की न्यूनतम सीमा है।

माग और पूर्ति का साम्य (Equilibrium of Demand and Supply)—हम ऊपर पूजी की माग और पूर्ति पर विचार कर चुके है। इससे पता चलता है कि पूजी की माग उसकी सीमान्त उपयोगिता से और पूजी की पूर्ति उसकी सीमान्त लागत से निश्चित होती है। इन दोनो शक्तियो अर्थात् पूजी की माग और पूर्ति के परस्पर प्रभाव, घात-प्रतिघात से ब्याज की दर निर्धारित होती है। यह वह दर होती है जिस पर पूजी की माग और पूर्ति बराबर होती है, जिस पर पूजी की सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत खर्च बराबर होती है। यदि दोनो मे कुछ अन्तर होगा तो माग और पूर्ति मे अन्तर पडेगा और फलस्वरूप ब्याज की दर मे उतार-चढाव होगा। उदाहरण के लिए यदि सीमान्त उत्पादन-व्यय अधिक है, तो पूजी सचय करने वालो को हानि होगी। इस कारण पूजी की मात्रा कम हो जायगी। पूजी की मात्रा कम होने से पूजी की सीमान्त उत्पादिता बढ जायगी और फलस्वरूप ब्याज की दर भी। और अन्त मे फिर दोनों मे बराबरी आ जायगी। इसके विपरीत यदि सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पादिता अधिक हुई, तो पूजी को अधिक प्रतिफल मिलेगा, अर्थात् ब्याज की दर बढ जायगी। इसके प्रभाव से पूजी का सचय अधिक होगा और पूजी की मात्रा बढ जायगी। ऐसा होने से पूजी की सीमान्त उत्पादिता कम हो जायगी, माग घटने लगेगी और फलस्वरूप ब्याज

की दर घट जायगी। यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि पूजी की माग और पूर्ति में, सीमान्त उत्पादिता और सीमान्त उत्पादन-व्यय में साम्य स्थापित न हो लेगा, अर्थात् समानता न आ जायगी।

अस्तु अन्य वस्तुओं की तरह ही पूजी की माग और पूर्ति के घात-प्रतिघात द्वारा ब्याज की दर निश्चित होती है। पूजी की माग और पूर्ति मे परिवर्तन होने से ब्याज की दर मे भी परिवर्तन होता रहेगा और अन्त में ब्याज की दर वहा निश्चित होगी जहा माग और पूर्ति का साम्य होगा।

ब्याज की दरो मे विभिन्नता
(Differences in the Rates of Interest)

ब्याज की दरो म काफी विभिन्नता पाई जाती है। भिन्न-भिन्न देशो में ब्याज की दरे भिन्न-भिन्न होती है। यही नही, एक ही देश मे, एक समय मे, अलग-अलग ब्याज की दरो पर ऋण मिलता है और उन दरो में काफी अन्तर रहता है। जैसे हमारे देश म सरकार को २ या ३ प्रतिशत ब्याज पर ही ऋण मिल जाता है, शहर के व्यापारियो और उद्योगपतियो को साधारणत ६ प्रतिशत से कम ब्याज की दर पर ऋण नही मिल पाता और गाव के किसानो को तो १५ प्रतिशत से भी अधिक और कभी-कभी १०० प्रतिशत तक ब्याज देना पडता है। ब्याज की दरो में यह अन्तर क्यो होता है?

शुद्ध ब्याज की दर, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, पूजी की माग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। यदि प्रतियोगिता की परिस्थितिया है और विभिन्न स्थानो और उपयोगो के बीच पूजी पूर्णरूप से गतिशील है, तो एक समय में शुद्ध ब्याज की दर एक ही होगी, उसमे अन्तर नही हो सकता। इसका कारण यह है कि यदि एक स्थान या व्यवसाय मे शुद्ध ब्याज की दर अधिक होगी और दूसरे मे कम, तो जिस व्यवसाय या स्थान पर ब्याज की दर कम होगी वहा से लोग पूजी निकाल कर उस स्थान व व्यवसाय में लगाने लगेंगे जिसमे ब्याज की दर अधिक होगी।

इसका परिणाम यह होगा कि जिस व्यवसाय में दर कम होगी, उसमें पूंजी की मात्रा कम होने लगेगी और जिससे ब्याज को दर ऊंची होगी, उसमें पूंजी की मात्रा बढने लगेगी। अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर, जिस व्यवसाय व स्थान से पूंजी निकलने लगेगी, वहां ब्याज की दर बढने लगेगी और जिस व्यवसाय में पूंजी अधिक लगने लगेगी उसमें दर गिरेगी। एक व्यवसाय व स्थान से पूंजी निकाल कर दूसरे व्यवसाय व स्थान पर पूंजी लगाने का यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि दोनों स्थानों अथवा व्यवसायों में ब्याज की दरें बराबर न हो जायगी। अस्तु प्रतियोगिता के प्रभाव से शुद्ध ब्याज की दर एक समय में एक ही होगी। लेकिन यह तभी सम्भव होगा जबकि पूर्ण प्रतियोगिता हो, जबकि विभिन्न स्थानों और व्यवसायों के बीच पूंजी पूर्ण रूप से गतिशील हो, अर्थात् उसके निकालने व लगाने में किसी भी प्रकार की रुकावट व अड़चन न हो। वास्तव में प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, पूंजी स्वतन्त्र रूप से एक स्थान व व्यवसाय से दूसरे स्थान व व्यवसाय में आसानी से आ-जा नहीं सकती। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न स्थानों और व्यवसायों में, वहां की विशेष मांग और पूर्ति के अनुसार, ब्याज की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं। भिन्न भिन्न स्थानों पर पूंजी की मांग और पूर्ति अलग-अलग होती है। इस कारण उनके प्रभाव से जो ब्याज की दर निश्चित होती है, उनमें काफी विभिन्नता रहती है। प्रतियोगिता अपूर्ण होने के कारण, इन दरों में समानता नहीं स्थापित हो पाती। अस्तु, ब्याज की दरों में विभिन्नता का एक प्रमुख कारण अपूर्ण प्रतियोगिता का होना है।

ब्याज-दर में इस कारण भी अन्तर पड जाता है कि ऋण अलग-अलग समय के लिए लिये जाते हैं। जितने अधिक लम्बे समय के लिए ऋण लिया जायगा, ब्याज की दर उतनी ही अधिक ऊंची होगी क्योंकि साहूकार को अपनी पूंजी का काफी दिनों के लिए त्याग करना पड़ेगा। थोड़े समय के लिए दिये गये ऋण पर ब्याज की दर अपेक्षाकृत कम होती है।

ब्याज की दरों म जो अन्तर दिखाई पडता है वह मुख्यत कुल ब्याज की दरो म होता है शुद्ध ब्याज की दर म नही। इसका कारण यह है कि कुल ब्याज में जिन जिन चीजो को शामिल किया जाता है वे सब जगहो पर एक समान नही रहती। किसी व्यवसाय म अधिक जोखिम होती है और किसी म कम। इसी प्रकार विभिन्न ऋणो क सम्बध म असुविधाओं तथा प्रबन्ध काय म भिन्नता होती ह। किसी म असुविधाए अधिक होती ह और अधिक प्रबध काय करना पडता है और किसी म कम। इन सब बातो म अन्तर होन म कुल ब्याज की दर भिन्न भिन्न होती ह। जिस व्यवसाय म अधिक जोखिम होगी उसम ऋण क लिए कुल ब्याज की दर अधिक होगी। इसी प्रकार जिस ऋण म अधिक असुविधाए होगी अथवा जिसम अधिक प्रबध काय करना पडगा उसम कुल ब्याज की दर अधिक होगी। इसक विपरीत जिन ऋणो क देन म कम जोखिम होती है अथवा जिनक लिए कम असुविधाए उठानी पडती ह कम प्रबध काय करना पडता ह उनम कुल ब्याज की दर अपक्षाकृत कम होगी। उदाहरणाथ सरकार को जो ऋण दिया जाता ह वह बहुत सुरक्षित होता है उसम बहुत कम असुविधा होती ह और प्रबध काय नही क बराबर करना पडता है। इसलिए साहूकार सरकार को बहुत कम ब्याज पर ऋण देन को तैयार हो जात ह। व्यापारियो को ऋण देन म साहूकार को थोडी बहुत जोखिम उठानी पडती है और बही खाता आदि पर भी कुछ खच करना पडता है। फलस्वरूप व्यापारियो को सरकार की अपक्षा अधिक ब्याज दना पडता है। गाव क किसानो को तो इनसे भी कही अधिक ब्याज देना पडता ह। इसका कारण यह है कि हमारे किसान बहुत गरीब है। उनकी आय बहुत थोडा और अनिश्चित है और न व अच्छी जमानत द सकत ह। इसक अतिरिक्त उनका धधा अर्थात कृषि अत्यन्त अनिश्चित है। यदि वर्षा कम या अधिक हुई तो खती चौपट हो जाती है। ऐसी दशा म पूजी लौट आन की जो कुछ थोडी बहुत आशा रहती है वह भी टूट जाती है। इस जोखिम क अलावा साहूकार को गरीब और भूमिहीन किसानो

को ऋण देने में बहुत असुविधा भी होती है और प्रबन्ध-कार्य भी बहुत करना पड़ता है। इन विभिन्न बातों के कारण साहूकार किसानों को अपेक्षाकृत बहुत ऊंची ब्याज की दर पर ऋण देता है।

उन्नति का ब्याज पर प्रभाव
(Effect of Progress on Interest)

उन्नति का प्रभाव पूंजी की मात्रा और माग पर पड़ता है और फलस्वरूप इससे ब्याज की दर भी प्रभावित होती है। उन्नति के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताएं भी तेजी से बढ़ती जाती है। उनकी तृप्ति के लिए नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना करनी पड़ती है। व्यापार का क्षेत्र और बढ़ जाता है। इन सब कामों को सफलतापूर्वक करने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी। पूंजी की माग में इस तरह से वृद्धि होने से ब्याज की दर में बढ़ने की ओर प्रवृत्ति होगी। साथ ही व्यापार, व्यवसाय आदि क्षेत्रों में उन्नति होने से देश में धनोत्पादन बढ़ेगा। इस कारण लोगों में बचत करने की शक्ति अधिक होगी। बचत करने की इच्छा भी प्रबल हो जायगी क्योंकि उन्नति की अवस्था में मनुष्य में उत्तर-दायित्व, दूरदर्शिता आदि के गुण आ जायेंगे। फलस्वरूप पूंजी की मात्रा बढ़ेगी। इसके प्रभाव से ब्याज की दर में कम होने की प्रवृत्ति होगी। अस्तु, ब्याज पर उन्नति का प्रभाव मालूम करने के लिए हमें यह देखना होगा कि पूंजी की पूर्ति और माग में किस दर से वृद्धि होती है। यदि माग के बढ़ने की दर अपेक्षाकृत अधिक है, तो ब्याज ऊंचा होगा और यदि पूर्ति के बढ़ने की दर अपेक्षाकृत अधिक है, तो ब्याज कम होगा।

बहुत-से अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि माग की अपेक्षा पूर्ति में अधिक वृद्धि होती है। इसलिए उन्नति की अवस्था में ब्याज की दर में घटने की प्रवृत्ति होगी। पर क्या गिरते-गिरते ब्याज की दर भविष्य में शून्य के बराबर हो जायगी? यह तभी सम्भव है जब कि लोग बिना किसी प्रतिफल की आशा से बचत करने लगें अर्थात् पूंजी-संचय में कोई लागत

न हो और पूजी क लाभप्रद प्रयोग करने का कोई स्थान न रह जाय। यह अवस्था तभी आ सकती है जबकि पूजी की सीमान्त उत्पादिता शून्य हो जाय। अर्थात् पूजी क और अधिक उपयोग द्वारा उत्पादन मे अब और अधिक वृद्धि नही की जा सकती। इसका अर्थ यह होगा कि हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति पूर्ण रूप से हो चुकी है। ऐसी अवस्था की कल्पना तो की जा सकती है लेकिन वास्तविक जीवन में इस अवस्था तक पहुचना असम्भव सा ही है। मनुष्य की आवश्यकताओ का कोई अन्त नही है। उसे सदा नई-नई आवश्यकताए घेरे रहती हैं और पुरानी आवश्यकताओं की तृप्ति भी शायद ही कभी पूरी तरह से होती हो। इस कारण पूजी क लाभप्रद उपयोगो का भी कोई अन्त नही है। उसक उपयोग क अनकानक अवसर निकलत ही रहग जिसक कारण उसकी सीमान्त उत्पादिता कभी शून्य न होगी। फलस्वरूप सूद की दर भी शून्य तक न गिर सकगी, वह हमशा उसक ऊपर ही होगी।

QUESTIONS

1 What is interest ? On what grounds was it condemned in the past ?
2 Why is interest demanded and paid ? How do you justify the payment of interest ?
3 Analyse fully gross interest Show why does it differ from place to place and person to person ?
4 How is the rate of interest determined ? Show how it is related to the (a) growth of capital and (b) productivity of capital
5 Explain fully the causes of differences in the rates of interest
6 Show how under the influence of competition there will prevail only one rate of interest
7 How is interest affected by progress ? Will it sink down to zero ?

अध्याय ४०

लगान

(Rent)

भूमि के उपयोग के लिए जो रकम दी जाती है, उसे अर्थशास्त्र में लगान (Rent) कहते हैं। साधारण बोलचाल मे लगान का अर्थ उस रकम से होता है जो कोई किसान खेत के मालिक को देता है अथवा कोई किरायेदार किसी मकान-मालिक को देता है। इसमें अनेक प्रकार की भुगतानो की रकम शामिल रहती है जैसे प्रकृतिदत्त भूमि के उपयोग के लिए दी जाने वाली रकम अर्थात् लगान, भूमि के सुधार आदि में लगाई गई पूजी के लिए ब्याज, उसकी देख-रेख, प्रबन्ध आदि के लिए भू-स्वामी अथवा उसके प्रतिनिधियो के श्रम के लिए वेतन या मजदूरी तथा भूमि की उन्नति के लिए जोखिम उठाने के बदले म भू-स्वामी को कुछ लाभ की रकम। अत साधारणत जिसे लगान कहा जाता है, उसमें लगान की रकम के अलावा अन्य और कई प्रकार की रकमे शामिल रहती है। इसलिए इसे शुद्ध व आर्थिक लगान (net or economic rent) न कहकर "कुल लगान" कहना अधिक उपयुक्त होगा। शुद्ध व आर्थिक लगान का आशय उस रकम से होता है जो केवल भूमि के उपयोग के बदले में मिलती है। अर्थात् भूमि की मूल और अविनाशी प्रकृतिदत्त उत्पादक-शक्तियों के उपयोग से प्राप्त होने वाली रकम व आय को अर्थशास्त्र में लगान कहते है। भूमि म लगी हुई पूजी, किये गये श्रम तथा उस सम्बन्ध में जोखिम उठाने से जो आय प्राप्त होती है अथवा जो रकम मिलती है, उसे आर्थिक दृष्टि से लगान नहीं कह सकते क्योकि वह भूमि के उपयोग से नही बल्कि अन्य बातो के कारण प्राप्त होती है। लगान तो केवल

उसी रकम को कह सकते है जो भूमि के उपयोग के बदले मे प्राप्त होती है।

लगान के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण

(Explanation of Real Meaning of Rent)

यदि हम ऊपर दी हुई लगान की परिभाषा का ठीक प्रकार से अध्ययन और विश्लेषण करे तो देखेंगे कि इसका वस्तविक अर्थ बचत, अतिरेक व आधिक्य (surplus) मे है और अर्थशास्त्र मे बचत व आधिक्य के भाव में ही इसका प्रयोग होता है। यह अर्थ लगान के साधारण अर्थ से इतना भिन्न है कि लगान सम्बन्धी विषय को भली भाति समझने के लिए लगान के साधारण अर्थ को फिलहाल भूल जाना ही अच्छा होगा, अन्यथा भ्रम में पडने की सभावना बनी रहेगी। ऊपर दी हुई परिभाषा मे कहा गया है कि भूमि के उपयोग के बदले में जो कुछ प्राप्त होता है वही लगान है। अर्थशास्त्र में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रकृति-दत्त वस्तुओं को भूमि कहते है। भूमि प्रकृति की देन है। इसके उत्पादन मे मनुष्य का कोई हाथ नही होता। यह तो प्रकृति की ओर से मानव समाज को बिना किसी लागत के मुफ्त प्राप्त होती है। समाज की दृष्टि से इसके उत्पादन में कोई लागत नही लगती। इसका उत्पादन-व्यय शून्य है। अत जो कुछ भूमि के उपयोग के बदले मे मिलता है, वह एक बचत व आधिक्य है। और चूंकि भूमि के उपयोग के लिए मिलने वाली रकम को लगान कहते है, इसलिए लगान बचत स्वरूप है, यह एक बचत अथवा अतिरेक है। इस बात के आधार पर हम लगान के अर्थ व भाव को इन शब्दो में व्यक्त कर सकते है: लगान वह रकम है जो उत्पादन-व्यय के ऊपर प्राप्त होती है। अर्थात् उत्पादन-व्यय के ऊपर प्राप्त होने वाली बचत व अतिरेक को लगान कहते है।

लगान के इस विशिष्ट अर्थ को भूमि के अलावा अन्य साधनो के साथ भी प्रयोग किया जा सकता है। यह दिखाया जा सकता है कि केवल भूमि के सम्बन्ध मे ही लगान अर्थात् बचत की प्राप्ति नही होती, बल्कि

कुछ विशेष परिस्थितियों में अन्य साधनों को भी लगान प्राप्त हो सकता है, अर्थात् अन्य साधनों की आय में लगान का अंश हो सकता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि लागत के ऊपर जो बचत होती है, वह लगान है। लागत का आशय किसी साधन की न्यूनतम पूर्ति-कीमत (minimum supply price) से होता है। यह वह कीमत है जिसका मिलना उस साधन को वर्तमान कार्य में लगाये रखने के लिए जरूरी है। इसके न मिलने पर वह उस कार्य में न रुकेगा, वह उसे छोड़ देगा। यदि किसी साधन को उसकी न्यूनतम पूर्ति-कीमत से अधिक मिलता है, तो वह ऊपर वाली रकम बचत होगी और इस कारण उसे लगान कह सकते हैं क्योंकि लगान बचत को कहते हैं। उदाहरण के लिए मान लो कोई मजदूर ४ रुपये पर काम करने को तैयार है, अर्थात् उसकी न्यूनतम पूर्ति-कीमत ४ रुपये हैं। इससे कम मजदूरी पर वह काम न करेगा। दूसरे शब्दों में यह उसकी लागत है। यदि बाजार में श्रम की माँग इतनी है कि उन मजदूरों की भी जरूरत पड़ती है जिनकी पूर्ति-कीमत ६ रुपये है, तो ऐसी परिस्थिति में बाजार में मजदूरी की दर ६ रुपये होगी और पहले वाले मजदूर को भी यही मिलेगा। अतः उस मजदूर को (६ रु० — ४ रु०) = २ रुपये की बचत होगी। यह उसके लिए लगान स्वरूप है। इस तरह अन्य साधनों की आय में भी लगान का अंश हो सकता है। जैसे मान लो कोई ऋणदाता २ प्रतिशत ब्याज-दर पर ऋण देने को तैयार है, अर्थात् उसकी न्यूनतम पूर्ति-कीमत २ प्रतिशत है। यदि बाजार में ब्याज की दर ५ प्रतिशत है तो उसे भी ५ प्रतिशत की दर से ब्याज मिलेगा। ३ प्रतिशत की यह बचत उसके लिए लगान के स्वरूप है। उसकी दृष्टि से २ प्रतिशत ब्याज है और शेष ३ प्रतिशत लगान। देने वाले की दृष्टि में सबका-सब ब्याज है। अस्तु केवल भूमि के सम्बन्ध में ही लगान की प्राप्ति नहीं होती बल्कि हर साधन की आय में लगान का अंश हो सकता है। किसी साधन को लगान या बचत की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि उसकी पूर्ति पूर्णतः लोचदार न हो और साथ ही उसकी माँग इतनी हो

कि ऊंची पूर्ति-कीमत वाली इकाइयो की जरूरत पडे । भूमि में यह विशेषता पूर्णरूप से है । यही कारण है कि लगान का विचार साधारणत भूमि के साथ ही जुडा होता है ।

लगान-निर्धारण और रिकार्डो का सिद्धान्त

(Determination of Rent and Ricardian Theory)

अब हमें यह देखना है कि भूमि के सम्बन्ध मे लगान कब और क्यों प्रारम्भ होता है और कैसे इसकी मात्रा निश्चित व निर्धारित होती है। रिकार्डो का सिद्धान्त इन सब बातो पर यथोचित प्रकाश डालता है। यद्यपि इस सिद्धान्त पर अनेक प्रकार के आक्षेप लगाये गये है और कही-कही पर इसमे थोडा-बहुत सशोधन भी किया गया है, फिर भी इसका बहुत महत्त्व है। लगान सम्बन्धी आधुनिक विचारो का यह आधारस्वरूप है। इसकी सहायता से इस विषय को आसानी से समझा जा सकता है। अत इस सिद्धान्त के आधार पर हम इस विषय का अध्ययन करेगे।

रिकार्डो की विचारधारा का अनुसरण करते हुए हम एक उदाहरण लेकर यह स्पष्ट करेंगे कि लगान कब प्रारम्भ होता है तथा इसकी मात्रा कैसे निर्धारित होती है। मान लो कुछ लोग एक नये देश व स्थान में जाकर बसते है और वहा खेती आरम्भ करते है। शुरू में वे सबसे उत्तम व उपजाऊ भूमि पर खेती करेंगे। जब तक इस तरह की भूमि अर्थात् सबसे उपजाऊ भूमि प्रचुर मात्रा मे होगी और जो चाहे उसे आसानी से पा सकता है, तब तक भूमि के उपयोग के लिए कोई कुछ न देगा। ऐसी स्थिति म लगान का कोई प्रश्न नही उठ सकता, किसानों को भूमि के लिए लगान के रूप मे कुछ नही देना पडेगा क्योकि उत्तम भूमि प्रचुरता से सबको मिल सकती है। जिस वस्तु की पूर्ति माग के हिसाब से सीमित नही होती, उसके लिए कोई कुछ नही देता। धीरे-धीरे आबादी मे बढोतरी होने से सबसे उपजाऊ भूमि के बाकी हिस्सो मे भी खेती होने लगेगी। मान लो उस स्थान को जनसख्या और बढ जाती है अथवा बाहर से वहा और लोग आ जाते है। इसका परिणाम यह होगा कि वहा पर अन्न की आवश्यकता

न माग बढ जायगी । इसकी पूर्ति के लिए अब दूसरे दर्जे की जमीन पर खेती की जाने लगेगी क्योंकि पहले दर्जे की जमीन अब खाली नहीं है। उपजाऊपन में अन्तर होने के कारण दूसरे दर्जे के खेतों में पहले दर्जे के खेतों की अपेक्षा उपज कम होगी। उतने ही खर्च से दूसरे दर्जे की भूमि में कम पैदावार होगी क्योंकि पहले दर्जे की भूमि की तुलना में यह कम उपजाऊ है। उदाहरण के लिए मान लो कि एक विशेष रकम खर्च करने से प्रथम श्रेणी की भूमि में ३५ मन गेहूँ पैदा होता है और उतने ही खर्चे से दूसरे दर्जे की भूमि में केवल ३० मन ही गेहूँ पैदा होता है। मंडी में गेहूँ का मूल्य तो एक ही होगा चाहे वह किसी भी श्रेणी की भूमि में पैदा किया गया हो। गेहूँ के इस मूल्य को इतना होना पड़ेगा जिससे दूसरे दर्जे की भूमि का लागत खर्च निकल आये। यदि ऐसा न होगा तो लोग दूसरे दर्जे के खेतों को नहीं जोतेंगे। ऐसी स्थिति में प्रथम श्रेणी की भूमि पर ५ मन गेहूँ की बचत होगी क्योंकि दोनों श्रेणी के खेतों पर उत्पादन खर्च एक बराबर लगता है। यह ५ मन गेहूँ की बचत प्रथम श्रेणी की भूमि का लगान है, चाहे वह किसान के पास रहे या भूमि के मालिक के पास। दूसरे दर्जे की भूमि पर कोई बचत नहीं होती। इस भूमि पर जो उपज होती है, उसमें से उत्पादन-व्यय घटाने से कुछ शेष नहीं रहता, कुछ बचत नहीं होती। इसलिए इस भूमि पर कोई आर्थिक लगान नहीं होता। ऐसी भूमि को सीमान्त भूमि (marginal land) या बे-लगान भूमि (no-rent land) कहते हैं। यह लगान आंकने का आधार है। इसकी उपज से जितनी अधिक जिस भूमि की उपज होगी, उतना ही अधिक उस पर लगान होगा। इस उदाहरण में दोनों उपजों का अन्तर ५ मन है। अतः यह प्रथम श्रेणी की भूमि का लगान हुआ। अब मान लो जन-संख्या और बढ जाती है। ऐसा होने से अन्न की आवश्यकता में वृद्धि होगी जिसकी पूर्ति के लिए तीसरे दर्जे के खेत जोतने पड़ेंगे। इनकी उपज दूसरे दर्जे के खेतों से भी कम होगी। अब मूल्य को तीसरे दर्जे की भूमि के उत्पादन-व्यय के बराबर होना पड़ेगा, नहीं तो उस भूमि पर खेती न

की जायगी। अत यह भूमि अब सीमान्त भूमि होगी और इस पर कोई लगान व बचत न होगी। दूसरे दर्जे की भूमि की उपज इससे अधिक होने के कारण, इस पर अब लगान शुरू होगा और पहले दर्जे की भूमि का लगान और बढ जायगा। इस तरह जैसे-जैसे नीचे दर्जे की भूमि पर खेती की जाने लगेगी, उत्तम भूमि पर उपज का अन्तर अर्थात् लगान का परिमाण वैसे ही वैसे बढता जायगा।

एक उदाहरण लेकर इस बात को और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो 'अ', 'ब', 'स' तीन तरह की जमीनें हैं। 'अ' भूमि सबसे उपजाऊ है, 'ब' उससे कम और 'स' सबसे कम उपजाऊ है। सर्वप्रथम 'अ' भूमि पर खेती होगी क्योंकि वह सबसे अधिक उपजाऊ है। समय बीतने पर जनसख्या मे वृद्धि होने से क्रमश 'ब' और 'स' भूमि पर भी कृषि होने लगेगी। इन तीनो जमीनो की उत्पादकता मे अन्तर होने के कारण एक विशेष रकम खर्च करने पर तीनो की उपज बराबर न होगी। मान लो तीनो के अलग-अलग जुतने-बोने मे ६० रुपया खर्च किया जाता है जिसमे 'अ' भूमि पर २० मन अनाज पैदा होता है, 'ब' पर १५ मन और 'स' पर १० मन अनाज मिलता है। यदि कुल माग की पूर्ति के लिए 'स' भूमि की उपज की आवश्यकता है, तो मूल्य को ६ रुपये मन होना पडेगा, नही तो 'स' भूमि पर खेती न की जायगी। 'अ' और 'ब' भूमि की उपज भी इसी मूल्य पर बिकेगी। अस्तु, 'अ' भूमि के जोतने वाले को उपज की बिक्री से १२० रुपया मिलेगा, 'ब' भूमि वाले को ९० रु० और 'स' भूमि वाले को कुल ६० रु० ही मिलेगा। हम पहले मान चुके है कि प्रत्येक भूमि पर ६० रु० खर्च किया जा रहा है। इस कारण 'स' भूमि पर कुछ भी बचत न होगी। यह सीमान्त भूमि है। 'अ' पर ६० रु० की बचत होगी और 'ब' पर ३० रु० बचेगे। इस 'बचत' को अर्थशास्त्र मे लगान कहते है। इसे उपज के रूप मे आका जाता है। यहा केवल सुविधा के लिए बचत अथवा लगान को रुपयो मे दिखाया गया है।

ऊपर यह बताया गया है कि लगान क्या है, क्यों और कैसे उत्पन्न होता है और कैसे इसकी मात्रा निश्चित होती है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उत्पादन-व्यय के ऊपर जो बचत होती है, वही लगान कहलाता है। लगान आरम्भ होने का यह कारण बताया गया है कि भिन्न-भिन्न भू-भागों की उत्पादन-शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। जब तक सबसे अच्छी भूमि प्रचुरता से सब तरह के काम के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आसानी से मिल सकती है, तब तक लगान का प्रश्न नहीं उठता। लेकिन जब जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण अच्छी भूमि खत्म हो जाती है और दूसरे दर्जे की भूमि पर खेती की जाने लगती है, तो पहले दर्जे की भूमि पर बचत होने लगती है। यही लगान कहलाता है। इसी प्रकार जैसे-जैसे जन-संख्या बढती जाती है, वैसे ही वैसे क्रमशः नीचे दर्जे की जमीन काम में लाई जाने लगती है। खेती की उपज की सीमा घटती जाती है और लगान उत्तरोत्तर क्रमशः बढता जाता है।

किन्तु इसका यह आशय नहीं कि लगान केवल भूमि की उत्पादन-शक्ति की विभिन्नता के कारण उत्पन्न होता है। यदि सब भू-भाग एक समान उपजाऊ हो, उनके गुण से कोई अन्तर न हो, तो भी एक सीमा के बाद लगान प्रारम्भ होगा। जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण एक सीमा के पश्चात् भूमि की कमी पड जायगी और अधिक भूमि न मिल पाने के कारण गहरी खेती का सहारा लेना पड़ेगा। बढती हुई माग की पूर्ति के लिए उन्ही खेतो में श्रम और पूजी की और मात्राए लगाकर उपज बढानी पडेगी, लेकिन ऐसा करने से एक सीमा के पश्चात् क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने लगेगा। जैसे-जैसे किसी खेत मे और अधिक श्रम और पूजी की इकाइया लगाई जायेंगी, वैसे ही वैसे सीमान्त उत्पत्ति क्रमशः कम होती जायगी। यदि श्रम और पूजी की पहली इकाई से २० मन गेहू पैदा हुआ था, तो दूसरी इकाई के कारण उससे कम पैदा होगा। तीसरी इकाई से इससे भी कम मात्रा में अनाज होगी। सीमान्त उपज के

क्रमश घटने के कारण उत्पादन-व्यय बढेगा । मूल्य को भी इस कारण बढना पडेगा जिससे बढता हुआ सीमान्त उत्पादन-व्यय निकल सके । यदि मूल्य श्रम और पूजी की सीमान्त इकाई से जो उपज होती है उसके बराबर न होगा, तो उस इकाई को खेती में न लगाया जायगा । अस्तु, सीमान्त इकाई की उपज और मूल्य दोनो बराबर होगे । सीमान्त इकाई पर कुछ न बचेगा । लेकिन प्रारम्भ की इकाइयों में अधिक उपज होती है । इस कारण उन पर बचत होगी और बचत को ही आर्थिक लगान कहते हैं । अस्तु, लगान के प्रारम्भ होने के लिए यह आवश्यक नही है कि भिन्न-भिन्न भू-भागो की उत्पादन-शक्ति भिन्न-भिन्न हो । लगान प्रारम्भ होने के दो मौलिक कारण हैं (१) भूमि की परिमितता, उसकी बेलोचदार पूर्ति और (२) क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम । यदि भूमि परिमित न हो, उसकी पूर्ति लोच रहित न हो या क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू न हो, तो लगान न होगा । यदि भूमि की मात्रा माग के हिसाब से सीमित नही है तो लगान का सवाल न उठेगा । इसी प्रकार यदि क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू न हो, तो भी भूमि पर लगान न होगा क्योंकि फिर तो सबसे उत्तम भूमि के एक भाग मे ही जितनी जरूरत होगी उपज कर ली जायगी ।

लगान और मूल्य
(Rent and Price)

अब यह देखना है कि लगान और मूल्य में क्या-कैसा सम्बन्ध है ? साधारण तौर पर यह कहा जाता है कि मूल्य लगान द्वारा प्रभावित होता है । लगान के बढने से मूल्य बढता है और कम होने से मूल्य घटता है । प्राय हम किसानो को यह कहते हुए सुनते है कि अनाज की कीमत इस कारण ऊची है कि उन्हें बहुत ज्यादा लगान देना पडता है । दूसरे शब्दो में, साधारणत लगान मूल्य के कम या अधिक होने का एक कारण माना जाता है । पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है । लगान मूल्य को निर्धारित नही करता, बल्कि स्वय ही मूल्य द्वारा निर्धारित होता है । यह मूल्य का

कारण नही, बल्कि उसका फल है। इस बात के लिए जो दलील दी जा सकती है, उसे इस प्रकार रखा जा सकता है।

प्रतियोगिता की परिस्थिति मे अनाज का मूल्य एक समय म एक ही होगा। यह मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन-व्यय के बराबर होगा, क्योकि यदि मूल्य इतना नही है कि सीमान्त भूमि की लागत खर्च निकल सके तो कोई भी उस भूमि को नही जोतेगा। अतएव यदि सीमान्त भूमि की उपज की आवश्यकता है, तो मूल्य को उसके उत्पादन-व्यय के बराबर होना पड़ेगा। सीमान्त भूमि की चर्चा करते समय हम यह कह चुके है कि इस पर कोई बचत नही होती। इस कारण इस पर लगान नही होता क्योकि बचत को ही लगान कहते है। चूकि मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है और लगान इस उत्पादन-व्यय मे शामिल नही होता है, इसलिए हम यह कह सकते है कि लगान मूल्य में शामिल नही होता। लगान सीमान्त उत्पादन-व्यय व मूल्य का अश नही है। फलस्वरूप लगान मे घट-बढ होने के कारण मूल्य मे कोई अन्तर नही पडेगा। उदाहरण के तौर पर मान लो कि लगान कम कर दिया गया है या बिलकुल छोड दिया गया है। फिर भी मूल्य पर इसका कोई प्रभाव न पडगा। कारण यह है कि मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित होता है। लेकिन लगान कम करने अथवा हटा देने से इसके उत्पादन-व्यय पर कोई प्रभाव न पडेगा। यह वैसा ही रहेगा क्योकि इस पर लगान का कोई अश नही होता। जब तक सीमान्त भूमि की लागत खर्च में अन्तर न पडेगा तब तक मूल्य मे भी कोई अन्तर न होगा। चूकि लगान मे परिवर्तन लाने से सीमान्त लागत खर्च मे कोई अन्तर नही पडता, इसलिए मूल्य में भी इसके कारण कोई घट-बढ न होगी।

यही नही कि लगान कीमत निश्चित नही करता बल्कि यह कीमत का परिणाम है। कीमत द्वारा लगान की मात्रा निर्धारित होती है। कीमत में उतार-चढाव होने से लगान मे घट-बढ होता है। उदाहरण के तौर पर,

मान लो कि मूल्य बढ जाता है। ऐसा होने पर लोगो को और कम उपजाऊ भूमि को, जिस पर अभी तक खेती नही होती थी, कृषि-कार्य में लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। उत्तम भू-भागो पर और गहरी खेती की जाने लगेगी। इसका फल यह होगा कि कृषि की सीमा और आगे बढ जायेगी। जो पहले सीमान्त भूमि थी, उस पर अब बचत होने लगेगी और इससे अच्छी जमीनो पर की बचत और बढ जायगी। इस कारण लगान मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि मूल्य गिर जाता है, तो उसका प्रभाव उल्टा होगा। मूल्य घट जाने के कारण जो पहले सीमान्त भूमि थी, उस पर खेती न की जायगी क्योकि उसका उत्पादन-व्यय मूल्य से अधिक हो जायगा। जो जमीन इससे अच्छी थी और जिस पर पहले कुछ लगान या बचत होती थी, अब वह सीमान्त भूमि बन जायगी। अधिक उपजाऊ जमीनो पर बचत की मात्रा घट जायगी और इस कारण उन पर लगान की मात्रा भी। इस प्रकार मूल्य में परिवर्तन होने से लगान मे घट-बढ होता है। मूल्य के कम होने से लगान कम हो जाता है और मूल्य के बढने पर लगान बढ जाता है। अस्तु यह कहना सही नही है कि लगान अधिक होने के कारण अनाज महगा है अथवा कीमत ऊची है। बल्कि कहने का सही तरीका यह है कि अनाज का भाव ऊचा है, इसलिए लगान ऊचा व अधिक है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगान से मूल्य निर्धारित नही होता, बल्कि मूल्य से लगान निश्चित होता है। लगान उत्पादन-व्यय के ऊपर की बचत है। यह उत्पादन-व्यय का अश नही है, यह उसमे शामिल नही होता। मजदूरी, ब्याज और लाभ आवश्यक प्रतिफल है। यदि ब्याज न दिया जाय तो पूजी की पूर्ति बहुत घट जायगी। यही बात मजदूरी के साथ कही जा सकती है। मजदूरो को काम पर लगाने के लिए उन्हे मजदूरी देना आवश्यक है, वरना उनकी सेवाए प्राप्त न हो सकेगी। इसी तरह यदि व्यवस्थापक को लाभ न मिले तो वह जोखिम का भार उठाने के लिए तैयार न होगा। किन्तु भूमि के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा

सकती। चाहे जितना कम या अधिक लगान हो, भूमि की पूर्ति उतनी ही रहेगी। यदि लगान शून्य भी हो जाय, तो भी भूमि कहीं नहीं नहीं जायगी। वह तो प्रकृति की देन है। उसकी सेवाए बिना कुछ मूल्य दिये ही मिलती रहेगी। अर्थात् इस पर कुछ लागत नही होती। इसलिए भूमि के प्रतिफल को "बचत" कहते हैं और बचत होने के नाते यह उत्पादन-व्यय में शामिल नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि सामाजिक दृष्टि से तो लगान बचत है और उत्पादन-व्यय में शामिल नहीं होता, लेकिन व्यक्तिगत दृष्टि से यह उत्पादन-व्यय का एक अंश है और इस कारण मूल्य पर प्रभाव डालता है। इसके लिए वे यह दलील देते हैं कि भूमि समाज के लिए मुफ्त है, लेकिन व्यक्ति के लिए नहीं। भूमि के पाने के लिए व्यक्ति को कीमत चुकानी पड़ती है। जो कुछ भूमि के लिए उसे देना पड़ता है, वह उसके उत्पादन-व्यय में अवश्य शामिल होगा। जिस प्रकार वह मजदूरी, ब्याज आदि को लागत-खर्च में डालता है, उसी तरह लगान को भी वह उत्पादन-व्यय में शामिल करता है। उसके लिए इनके बीच कोई अन्तर नहीं होता। ये सब भुगतान उसके लिए आवश्यक हैं, और आवश्यक भुगतान उत्पादन-व्यय में शामिल होते हैं।

ऊपरी तौर से यह दलील बिल्कुल ठीक लगती है। भूमि समाज के लिए मुफ्त हो सकती है, लेकिन किसी व्यक्ति के लिए नहीं। व्यक्ति को भूमि मुफ्त नहीं मिलती, उसके लिए उसे दाम चुकाने पड़ते हैं। बिना दाम दिये उसे भूमि की सेवाए नहीं मिल सकती। इसलिए कहा जाता है कि लगान समाज की दृष्टि से तो बचत है लेकिन व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादन-व्यय का एक भाग है, व्यावहारिक दृष्टि से चाहे यह भले ही ठीक हो, लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ठीक नहीं है। जब हम लगान को बचत व आधिक्य के अर्थ में प्रयोग करते हैं, तो फिर कैसे इसे उत्पादन व्यय में शामिल कर सकते हैं। वास्तव में जो रकम एक व्यक्ति लगान के रूप में देता है, वह लगान नहीं होता, वह और कुछ होता है। सच तो यह है कि

लगान दिया नहीं जाता, वह मिलता है। अर्थात् देने वाले की दृष्टि से नहीं बल्कि लेने वाले की दृष्टि से यह निश्चित होता है कि अमुक रकम लगान है कि नहीं। देने वाले की दृष्टि से वह बचत नहीं है, इसलिए उसे लगान नहीं कह सकते। फिर उसे उत्पादन-व्यय में शामिल करने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

लगान पर कुछ बातों का प्रभाव
(Influence of Certain Things on Rent)

ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र मे "लगान" शब्द को बचत व आधिक्य के अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। अस्तु, जिस बात या कारण से बचत की मात्रा में वृद्धि या घटी होगी, उससे लगान में भी वृद्धि या घटी होगी। बचत की मात्रा मूल्य और उत्पादन-व्यय पर निर्भर करती है। यदि उत्पादन-व्यय उतना ही रहता है, तो मूल्य के बढ़ने से बचत में वृद्धि होगी और मूल्य के घटने से बचत में कमी होगी। इसलिए हम कह सकते है कि मूल्य के बढ़ने के साथ लगान बढ़ता है और मूल्य के गिरने के साथ लगान गिरता है। अस्तु, यदि लगान पर किसी बात का प्रभाव देखना है तो हमें यह मालूम करना होगा कि मूल्य और उत्पादन-व्यय पर उसका क्या-कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उसके कारण दोनों के बीच का अन्तर बढ़ता है, तो लगान में वृद्धि होगी और यदि अन्तर कम हो जाता है तो लगान मे घटी होगी। उदाहरण के लिए लगान पर कुछ विशेष बातों के प्रभाव का विश्लेषण नीचे किया जाता है।

(१) **जन-संख्या और लगान**—जनसंख्या में वृद्धि होने से लगान में भी वृद्धि होगी। जनसंख्या के बढ़ने पर भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों की माग बढ़ेगी और साथ ही उनकी कीमतें भी। इस प्रकार बढ़ी हुई माग की पूर्ति के लिए और निम्न श्रेणी की भूमि उपयोग मे लाई जायगी। साथ ही उत्तम भूमि पर और अधिक गहरी खेती की जायगी। दोनों ही परिस्थितियों में कृषि की सीमा गिरेगी और फलस्वरूप लगान में वृद्धि होगी। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जन-संख्या

के बढ़ने से भूमि की कमी बढ़ेगी और इसलिए लगान में वृद्धि होगी।

(२) **कृषि-सुधार और लगान**—कृषि-सुधार के कारण भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी। इससे कुल उपज की मात्रा में वृद्धि होगी। ऐसी दशा में यदि उपज की माग न बढी, तो मूल्य गिर जायगा और मूल्य के गिरने मे लगान कम हो जायगा। मूल्य के घटने से जो पहले सीमान्त भूमि थी, वह कृषि से निकल जायगी क्योकि उसकी उपज से लागत-खर्च न निकाल सकेगा। इसके ऊपर वाली भूमि, जिस पर पहले बचत होती थी, अब सीमान्त भूमि बन जायगी। फलस्वरूप लगान कम हो जायगा।

(३) **लगान और यातायात के साधनो में उन्नति**—यातायात के साधनो में उन्नति होने से माल को ले आने-ले जाने में सुविधा होगी और ढुलाई का खर्चा भी कम हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि दूर-दूर के स्थानो से उपज मडी में आने लगेगी। इस कारण मण्डी के पास वाले भू-भागो का महत्त्व कम हो जायगा, उनकी माग घट जायगी। पहले इन भू-भागो पर खेती की जाती थी क्योकि दूर के स्थानों से माल नहीं लाया जा सकता था अथवा बडी कठिनाई और अधिक खर्च करके लाया जा सकता था। यातायात के साधनो में सुधार और उन्नति होने मे यह कमी दूर हो जायगी। माल आसानी से और कम खर्च मे आने लगेगा। इसके प्रभाव से मडी के निकटवर्ती भू-भागो का लगान गिर जायगा और दूर के स्थानों का जहा से माल आने लगेगा, लगान बढ जायगा।

QUESTIONS

1. What is meant by economic rent? How does it arise and how is it measured?

2 Explain fully the concept of rent Can it be enjoyed by factors other than land ?

3 Define economic rent How will it be affected by (i) increase of population (ii) improvement in transport and (iii) improved methods of agricultural production ?

4 Examine the relationship between rent and price

5 Is rent a part of cost of production ? Does it affect price ? Explain fully

अध्याय ४१

लाभ

(Profit)

लाभ के विषय मे अनेक धारणाए प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध मे अनेक अर्थशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को अनिश्चितता और जोखिम उठाने का प्रतिफल ठहराते हैं, कुछ इसे योग्यता का लगान मानते हैं, कुछ इसे बचत या अवशिष्ट आय मानते हैं, कुछ इसे केवल मजदूरी का एक रूप बताते हैं और कुछ लाभ को लूट-खसोट कहते हैं। इन विभिन्न धारणाओं के होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि लाभ का सम्बन्ध साहसी, उपक्रमी या व्यवस्थापक की आय के साथ होता है। अर्थात् व्यवस्थापक के प्रतिफल को लाभ कहते हैं। उत्पादन का वह भाग जो व्यवस्थापक को उसकी सेवाओं के बदले में मिलता है, लाभ कहलाता है। अस्तु, लाभ की प्रकृति को अच्छी तरह से समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि व्यवस्थापक क्या काम करता है, और किस सेवा व कार्य के बदले में उसे लाभ मिलता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है व्यवस्थापक अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। उत्पादन की सारी बागडोर उसके हाथ मे होती है। वही यह निश्चय करता है कि कौन-सी वस्तु, कब, कहाँ और कितनी मात्रा में तैयार की जाय। उत्पादन के आवश्यक साधनों को जुटाना और उनके बीच काम का उचित बटवारा करना भी उसी का काम होता है। व्यवसाय का सारा प्रबन्ध, सचालन, देख-रेख, नीति-निर्धारण आदि सबका बोझ उसी पर होता है। इनके अतिरिक्त वह एक और आवश्यक कार्य करता

है जिसका महत्त्व इन सबसे अधिक है वह है साहस अथवा जोखिम उठाने का काम। व्यवस्थापक उत्पत्ति के अन्य साधनों को भिन्न भिन्न मात्रा में मिलाता है और वस्तु के उत्पन्न होने के पहले ही से मजदूर को मजदूरी पूँजीपतियों को ब्याज और प्रबन्धक को वेतन देने लगता है। लेकिन सम्भव है कि जब उत्पन्न की हुई वस्तु बिक्री के लिए मंडी में ले जाई जाय तो उसकी माँग अनुमान से कम हो या अधिक और वह बिक सके या नहीं। यदि वह खप न सकी तो हानि होगी। इस जोखिम का भार व्यवस्थापक को उठाना पड़ता है। हर उत्पादन-कार्य में जोखिम उठाने की आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना किसी भी प्रकार के व्यवसाय का चलाना असम्भव है।

अस्तु संक्षेप में व्यवस्थापक दो प्रकार के काम करता है—एक तो प्रबन्ध का काम और दूसरे जोखिम उठाने का काम। इन दोनों तरह के कार्यों को काफी हद तक अलग अलग किया जा सकता है। व्यवस्थापक के लिए सम्भव है कि वह निश्चित वेतनों पर मैनेजरों या प्रबन्धकों को नियुक्त करके प्रबन्ध और निरीक्षण का काम उन्हें सौंप दे। पर साहस अथवा जोखिम उठाने का काम किसी दूसरे पर नहीं सौंपा जा सकता। इसकी जिम्मेदारी तो व्यवस्थापक पर ही होती है। जोखिम उठाने का काम उसे ही करना होगा। वास्तव में उसका प्रधान काम यही होता है। इस बात को लेकर बहुत से अर्थ शास्त्रियों का यह कहना है और यह ठीक भी है कि लाभ व्यवस्थापक के साहस या जोखिम उठाने का प्रतिफल या पुरस्कार है। जो जोखिम उठाता है वही व्यवस्थापक या मालिक है या यूं कह लीजिए कि जो मालिक है वही जोखिम उठाता है और इस काम के बदले उसे जो मिलता है उसे अर्थशास्त्र में लाभ कहते हैं।

कुल लाभ का विश्लेषण
(Analysis of Gross Profit)

आम तौर से जो रकम कुल बिक्री में से कुल उत्पादन व्यय के घटाने से व्यवस्थापक के पास बच रहती है वह उसका लाभ माना जाता है।

लेकिन यह उसका वास्तविक लाभ (net profit) नही है। इसे कुल या सकल लाभ (gross profit) कहना अधिक उपयुक्त होगा। कुल लाभ मे अनेक प्रकार के भुगतानो की रकमे शामिल रहती है और उनमे से कुछ तो ऐसी है जिन्हे लाभ कहना उचित नही है। वास्तव में लाभ सम्बन्धी विषय मे जो अनेक कठिनाइया आती है, उनका यह मुख्य कारण है। वास्तविक व आर्थिक लाभ को अच्छी तरह से समझने के लिए कुल लाभ के विभिन्न अशो पर विचार करना आवश्यक है। कुल लाभ मे निम्नलिखित चीजे शामिल रहती है —

(१) **व्यवस्थापक के निजी साधनों का प्रतिफल**—व्यवसाय मे प्राय व्यवस्थापक की अपनी निजी पूजी और भूमि लगी हुई होती है। इन साधनो के उपयोग के बदले मे जो रकम मिलती है, उसे लाभ नही कह सकते क्योकि अगर वह अपने इन साधनो को किसी अन्य स्थान पर लगाता, तो अवश्य ही उसे उनके बदले म सूद और लगान मिलता। इसलिए कुल लाभ मे से व्यवस्थापक के निजी साधनो का प्रतिफल निकाल देना चाहिए। तभी वास्तविक लाभ मालूम हो सकता है।

(२) **प्रबन्ध का पारिश्रमिक**—कुल लाभ मे प्रबन्ध का पारिश्रमिक भी सम्मिलित रहता है। बहुधा व्यवस्थापक स्वय ही प्रबन्ध, सचालन, देख-रेख आदि का काम करता है। इस सेवा के बदले जो कुछ उसे मिलना चाहिए उसे प्रबन्ध का पारिश्रमिक कह सकते है। अगर वह किसी दूसरे व्यवसाय में मैनेजर के तौर पर यह काम करता, तो उसे एक निश्चित रकम वेतन के रूप मे मिलती। कुल लाभ म से इस वेतन क बराबर का भाग निकाल देना चाहिए क्योकि यह तो उसे प्रबन्धक के रूप म मिलता ही।

(३) **जोखिम उठाने का प्रतिफल**—यह पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक धन्धे मे कुछ न कुछ जोखिम अवश्य होती है। वर्तमान उत्पत्ति प्रणाली के कारण व्यवसाय मे जोखिम का अश बहुत बढ गया है। अब उत्पादन बडे परिमाण पर दूर-दूर की मण्डियो मे बिकने के लिए किया

जाना है। मंडी में किस वस्तु की भविष्य में कितनी माग होगी, इस अनुमान के आधार पर वस्तुओं का उत्पादन होता है। लेकिन माग बहुत अनिश्चित होती है। कारण यह है कि माग पर फैशन, आय, मौसम, जन-संख्या आदि कई बातों का प्रभाव पड़ता है और इनमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह सम्भव है कि जब उत्पन्न पदार्थ मंडी में ले जाया जाय, तो माग मे परिवर्तन होने के कारण वह न बिक सके। इसी तरह उत्पादन के तरीकों में भी परिवर्तन होने से अनिश्चितता आ जाती है। इस अनिश्चितता के कारण व्यवसाय में हानि और लाभ का प्रश्न बराबर उपस्थित रहता है। जब तक कोई इस जोखिम का भार अपने ऊपर न लेगा, उत्पादन का काम नहीं चल सकता। लेकिन इस तरह का साहस करने के लिए अनेक असुविधाओं से मुठभेड़ करनी पड़ेगी, तरह-तरह की समस्याओं को हल करना होगा। अनिश्चितता और जोखिम की जिम्मेदारी सुखद और सरल नहीं होती। इसके लिए बहुत त्याग करना पड़ता है। अस्तु बिना किसी प्रतिफल की आशा के कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के कठिन कार्य में हाथ न लगायेगा। इसलिए व्यवस्थापक को जोखिम उठाने का प्रतिफल मिलना अत्यन्त आवश्यक है। कुल लाभ में जोखिम का प्रतिफल भी शामिल रहता है। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसी प्रतिफल को अर्थात् जोखिम उठाने के लिए जो रकम मिलती है वही वास्तव में लाभ कहलाता है।

व्यवस्था और जोखिम उठाने के प्रतिफल को "साधारण या सामान्य लाभ" (normal profit) कहते हैं। साधारण लाभ को औसत उत्पादन-व्यय में शामिल किया जाता है। यदि दीर्घकाल में व्यवस्थापक को उत्पादन से उपर्युक्त दोनों बातों के लिए प्रतिफल नहीं मिलेगा, तो वह उत्पादन-कार्य बन्द कर देगा।

(४) बचत व अतिरिक्त आय—कुल लाभ का शेष भाग बचत या अतिरिक्त आय कहलाता है। इसे कुछ अर्थशास्त्री शुद्ध लाभ (pure profit) कहते हैं। यह बचत अथवा अतिरिक्त लाभ कई

कारणों से हो सकता है। सम्भव है वह व्यवस्थापक एकाधिकारी भी हो। उस दशा में वह खरीदने वालों से अधिक मूल्य लेकर विशिष्ट या अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी ऐसी अनहोनी और असाधारण परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं जिनसे व्यवस्थापक का लाभ बहुत अधिक बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि मांग एक दम बढ़ गई तो कीमत भी आसमान पर चढ़ जायगी। इसके फलस्वरूप व्यवसायी को विशेष लाभ होगा जिसका उसे स्वप्न भी न था। इसी तरह अकस्मात् युद्ध छिड़ जाने से या ऐसी और घटनाओं के कारण व्यवस्थापकों के लाभ में विशेष वृद्धि हो जाती है। सट्टेबाजी के फलस्वरूप भी कभी-कभी काफी बचत हो जाती है। इस तरह के लाभ के पीछे कोई लागत नहीं होती; यह अनावश्यक है। इसे औसत लागत में शामिल नहीं किया जाता।

ऊपर के विश्लेषण से यह पता चलता है कि कुल लाभ के अन्तर्गत कितनी तरह के प्रतिफलों का समावेश रहता है। इनमें से कुछ तो आवश्यक हैं, और कुछ नहीं। विभिन्न अर्थशास्त्री 'कुल लाभ' के भिन्न-भिन्न अर्थों पर जोर देते हैं। कई लाभ का आशय बचत से लेते हैं, कई लाभ को जोखिम उठाने के प्रतिफल के रूप में प्रयोग करते हैं, और कई अर्थशास्त्री तो लाभ को केवल एक तरह की मजदूरी ही मानते हैं। इस कारण लाभ का विषय बहुत ही विवादग्रस्त और भ्रमात्मक बन गया है। किन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री जोखिम उठाने के प्रतिफल या पुरस्कार को ही लाभ मानते हैं। प्रत्येक उत्पादन-कार्य में जोखिम उठाने की आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना कोई भी उत्पादन-कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। चूंकि लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार माना जाता है, इसलिए लाभ एक आवश्यक प्रतिफल है। ब्याज, मजदूरी आदि की तरह यह उत्पादन-व्यय का एक अंश है।

लाभ का निर्धारण
(Determination of Profit)

हम ऊपर कह चुके हैं कि लाभ जोखिम उठाने का प्रतिफल व मूल्य है। अत अन्य वस्तुओ के मूल्य की तरह जोखिम का भी मूल्य अर्थात् लाभ जोखिम की माग और पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है। लाभ कम या अधिक होगा, यह जोखिम की माग और पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि जोखिम की माग अधिक है, तो लाभ की दर ऊची होगी और यदि जोखिम की पूर्ति अधिक है तो लाभ की दर कम होगी।

जोखिम की पूर्ति उन व्यक्तियो द्वारा होती है जो जोखिम उठाने के लिए तैयार होते है। जिस प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति उसके उत्पादन-व्यय पर निर्भर करती है, उसी प्रकार जोखिम की भी पूर्ति जोखिम उठाने में जो लागत लगती है उस पर निर्भर होती है। जोखिम उठाने में मनुष्य को कुछ कष्ट होता है, कुछ त्याग करना पडता है। यही जोखिम उठाने की लागत है। । *जितनी अधिक जोखिम की लागत होगी, लाभ को उतना ही ऊचा होना पडेगा, नही तो लोग उस मात्रा में जोखिम उठाने के लिए तैयार न होंगे।*

जोखिम की माग उन साधनो द्वारा होती है जो उत्पादन-कार्य के सम्बन्ध मे जोखिम उठाने के लिए तैयार नही होते जैसे श्रम, पूजी आदि। ये साधन जोखिम की माग करते है क्योकि जोखिम उठाने के बिना उत्पादन-कार्य नही चल सकता और वे स्वय जोखिम उठाने के लिए तैयार नही होते। जोखिम के लिए कुछ पारिश्रमिक देना पडता है क्योंकि यह उत्पादन के लिए अनिवार्य है और साथ ही इसकी कुछ लागत होती है। जोखिम के सहयोग से उत्पादन मे वृद्धि होती है। इसकी माग उस सीमा तक होगी जब तक कि इसकी सीमान्त उत्पादिता जोखिम के मूल्य अर्थात् लाभ के बराबर न हो जायगी। जोखिम के लिए उसकी सीमान्त उत्पादिता से अधिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। अस्तु, जोखिम की माग सीमान्त उत्पादिता द्वारा निश्चित होती है और साम्य की स्थिति में

सीमान्त उत्पादिता और लाभ दोनों बराबर होंगे ।

अन्ततः जोखिम की माग और पूर्ति के परस्पर घात-प्रतिघात मे लाभ की वह दर निश्चित होगी जिस पर माग और पूर्ति का साम्य होगा, जिस पर जोखिम की सीमान्त उत्पादिता और सीमान्त लागत बराबर होगी। यदि दोनो मे कोई अन्तर होगा तो माग और पूर्ति में परिवर्तन होने से लाभ की दर साम्य की स्थिति पर पहुच जायगी।

लाभ के निर्धारण के विषय मे यहा जो कुछ कहा गया है, वह केवल सामान्य लाभ (normal profit) से ही सम्बन्ध रखता है। सामान्य लाभ सदैव धनात्मक (positive) होता है। यह औसत लागत में शामिल रहता है। शुद्ध लाभ की दर का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यह आवश्यक नहीं है और यह ऋणात्मक (negative) और धनात्मक दोनों ही हो सकता है। व्यवस्थापक को सामान्य लाभ की प्राप्ति आवश्यक है लेकिन शुद्ध लाभ जरूरी नहीं है। यह तो केवल आकस्मिक है।

लाभ तथा उत्पादन-व्यय
(Profit and Cost of Production)

उत्पादन-व्यय में लाभ शामिल होता है या नहीं, इस पर कोई एक मत नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि लाभ अवशिष्ट बचत या शेष धन है और यह उत्पादन-व्यय में शामिल नहीं होता। कुल प्राप्ति में से लागत खर्च निकालने के बाद जो कुछ शेष रह जाता है, वही लाभ कहलाता है। इस दृष्टिकोण से लाभ को उत्पादन-व्यय के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं कर सकते और इस कारण लाभ मूल्य पर प्रभाव नहीं डालता। यह भी लगान की तरह मूल्य पर निर्भर रहता है। मूल्य में वृद्धि होने से लाभ बढता है और मूल्य के गिरने से लाभ घटता है।

जहा तक कुल लाभ के उस भाग का सम्बन्ध है, जिसे बचत या अतिरिक्त व शुद्ध लाभ कहते है, यह विचार धारा ठीक है। लेकिन लाभ के अन्य अशों के विषय मे यह कहना ठीक न होगा। व्यवस्था और जोखिम उठाने के

प्रतिफल आवश्यक प्रतिफल है और आवश्यक प्रतिफलों को उत्पादन-व्यय में शामिल करना पड़ता है। यदि दीर्घकाल में मूल्य इतना नहीं होगा कि इन आवश्यक सेवाओं का प्रतिफल निकल सके, तो निश्चय ही व्यवसायी अपना धन्धा बन्द कर देगा। हो सकता है कि कुछ समय तक इन सेवाओं के बदले में प्रतिफल न मिलने पर भी व्यवसायी काम करता रहे क्योंकि भविष्य में उसे अधिक लाभ मिलने की आशा हो सकती है। किन्तु यदि यह परिस्थिति सदैव ऐसी ही बनी रहे, तो अवश्य ही निराश होकर उसे अपना यह काम छोड़ना पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनिश्चित बातें सबको बुरी लगती हैं। इसलिए बिना किसी लोभ के कोई अनिश्चित बातों के लिए काम करने को तैयार न होगा। ठीक यही बात व्यवस्थापक के प्रसंग में भी कही जा सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जोखिम उठाने का कार्य अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके बिना कोई भी काम नहीं चल सकता। लेकिन यह काम उतना ही अनिश्चित है। सम्भव है भविष्य में हानि उठानी पड़े या लाभ हो। इस तरह की अनिश्चित आय के लिए काम करने को कोई व्यवस्थापक या व्यक्ति तभी तैयार होगा, जब कि उसे कोई लोभ दिखाया जायेगा। यह लोभ है उस व्यवसाय का लाभ। अस्तु, लाभ एक आवश्यक प्रतिफल है। इसके बिना व्यवसायी जोखिम उठाने का भार अपने ऊपर लेने के लिए तैयार न होंगे। आवश्यक होने के नाते, यह उत्पादन-व्यय में शामिल होगा। अतएव इस प्रश्न का उत्तर कि लाभ लागत खर्च में शामिल होता है या नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि "लाभ" को किस अर्थ में प्रयोग किया गया है। यदि लाभ का अर्थ बचत से लिया गया है, तो यह उत्पादन-व्यय का अंश नहीं माना जा सकता और यदि लाभ को प्रबन्ध तथा जोखिम के प्रतिफल के अर्थ में प्रयोग किया गया है तो निश्चय ही उसको लागत खर्च में शामिल किया जायगा। अर्थात् सामान्य लाभ उत्पादन-व्यय में शामिल होता है लेकिन अतिरिक्त या शुद्ध-लाभ उत्पादन व्यय का अंश नहीं है।

लाभ तथा मजदूरी
(Profit and Wages)

प्रो० टामिग, डैवनपोर्ट आदि ऐसे कई अर्थशास्त्री लाभ को मजदूरी का केवल एक रूप या प्रकार मानते है। वे कहते है कि यह निस्सदेह सत्य है कि व्यवस्थापक का लाभ अस्थाई और अनिश्चित है, लेकिन यह सोचना कि लाभ परिस्थितियो अथवा मौके के कारण होता है, ठीक नही। साहसी व्यवसायी अथवा व्यवस्थापक की सफलता मौके की बात नही है। सफलता के लिए उसमे कई गुणो का होना आवश्यक है, जैसे दूर-दर्शिता, तीव्र बुद्धि तथा सगठन और निर्णय शक्ति, कुशल श्रमिको के पहिचानने का गुण, दूसरो में विश्वास उत्पन्न करने की शक्ति आदि। इन्ही गुणो के बल पर व्यवसायी को सफलता प्राप्त होती है। लाभ इन्ही गुणो का प्रतिफल है। अर्थात् व्यवस्थापक भी श्रमिको की तरह काम करता है, जिसके प्रतिफल स्वरूप उसे लाभ मिलता है। इस कारण कुछ लोग लाभ को एक प्रकार की मजदूरी मानते है।

यद्यपि कुछ अश तक लाभ और मजदूरी में कोई विशेष अन्तर नही मालूम पडता, फिर भी दोनो को एक प्रकार का प्रतिफल ठहराना भूल है। दोनो मे काफी भेद है। मजदूरी एक निश्चित प्रतिफल है, लेकिन लाभ सर्वथा अनिश्चित है। साधारण तौर पर मजदूरी एक विशेष सीमा के नीचे नही जा सकती। परन्तु लाभ की कोई सीमा नही। वह बहुत अधिक भी हो सकता है, और बहुत कम भी। यहा तक कि कभी वह हानि का रूप धारण कर सकता है। व्यवस्थापक का मुख्य कार्य जोखिम उठाना, लाभ-हानि की जिम्मेदारी लेना है, लेकिन श्रमिको को इससे कुछ मतलब नही। श्रमिको की आय सयोग पर निर्भर नही होती। वह ठहराव के अनुसार निश्चित होती है। यह ठीक है कि श्रमिको को भी कुछ जोखिम उठाना पडता है, जैसे कि जिस धन्धे को उन्होने सीखा है, उसमे काम कम होने पर उन्हे नौकरी से हाथ धोना पड सकता है। फिर भी व्यवस्थापक को जितने और जिस प्रकार के जोखिम उठाने

पड़ते हैं, वे श्रमिको के जोखिम से कही अधिक हैं। इसके अलावा प्रतियोगिता मे रुकावट आने से लाभ बढ जाता है, पर इसके प्रभाव से मजदूरी कम होने लगती है। साथ ही कीमत के उतार-चढाव का प्रभाव जितना अधिक और जितनी शीघ्रता से लाभ पर पड़ता है, उतना मजदूरी पर नही पड़ता। कीमत के थोड़ा बढने-घटने मे लाभ की रकम बहुत बढ-घट जाती है। किन्तु मजदूरी पर उसका वैसा प्रभाव नही पड़ता। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए लाभ और मजदूरी को अलग-अलग रखना आवश्यक है। दोनो में बहुत अन्तर है। लाभ को मजदूरी का एक रूप मानना ठीक न होगा।

QUESTIONS

1. What is profit? Is it a necessary payment?
2. Analyse gross profits and show what is normal profit.
3. Examine the nature of profit Differentiate between wages and profit.
4. What are the constituent elements of profits? Does profit enter into cost of production?

DELHI
HIGHER SECONDARY EXAMINATION PAPERS

(Three Year Course)

1950

I What are Economic Laws ?

Compare and contrast the laws of economics with the laws of physical sciences

II What do you understand by 'elasticity of demand' ? Distinguish extension of demand from increase of demand.

Illustrate your answer with the help of curves

III Define 'land' and discuss its importance as a factor of production.

What are the factors that affect the productivity of land ?

IV State and explain the Law of Diminishing Returns Why do Diminishing Returns occur ?

V What do you understand by Division of Labour ? What are its various forms ?

Discuss its advantages

VI What is a 'market' ? What are the factors that determine the size of a market ?

Give illustrations

VII Explain the meaning of 'distribution', bringing out clearly the various problems involved in it

Discuss its significance in modern economic life

VIII Distinguish between Gross and Net interest

Is there any justification for the payment of interest ?

IX. Write notes on any two of the following —

(a) Capitalistic System
(b) Industrial Revolution
(c) Monopoly
(d) Co-operative Associations
(e) Saving and Spending

X. Show how 'profits' are determined
Is it correct to say that profits do not affect prices ?

XI What are the various kinds of credit instruments ? Discuss the advantages and disadvantages of paper money

XII What do you understand by the 'value of money' ? How is the value of money determined ?

1951

I What are the essential characteristics of wealth ? In the light of your answer explain whether the following can be considered wealth —

(a) Opium. (b) Music (c) Nature's gifts like coal and mica (d) Taj Mahal (e) Business ability

II Explain the law of demand Show clearly the effects of changes in demand

III What is the distinction between wealth and capital ? Explain the nature of capital and indicate the conditions which govern the growth of capital in a country Illustrate your answer with Indian examples

IV. What are the economies due to machinery and mass production ? Explain why small scale industries like hand loom production exist side by side

with large scale production

V What is a market? Explain how market price is determined

VI Discuss how the value of money is determined Has the value of money in India changed during the last one year? If so indicate the nature of the change

VII Explain the functions and advantages of banks

VIII Explain the origin and nature of rent showing its connection with the operation of diminishing returns

IX Distinguish between real wages and nominal wages What are the causes of differences in wages?

X Discuss the salient characteristics of the Capitalistic System of Production

XI Define monopoly and show how monopoly value is determined

XII Write short notes on any four of the following —

(a) Marginal utility (b) Elasticity of demand (c) Token coins (d) Legal tender (e) Seigniorage (f) Bill of Exchange (g) Circulating capital (h) Economic laws

1952

I What is the subject matter of Economics as a science? Briefly point out the importance of the study of Economics

II State the essential features of the capitalistic system of production What are the defects of capitalism?

III Explain the law of diminishing utility and point out how this law is related to the law of demand

IV. Discuss the factors which govern the growth of population

V What do you understand by a Co operative Association ? Account for the slow progress of co-operation in the sphere of production

VI How is the market price of a commodity determined under competitive condition ?

VII What is meant by bank money ? Show how bank money is created

VIII Explain how the rate of interest is determined

IX Give the meaning of economic rent Briefly point out the relation between economic and rent price

X What are, in your judgment, the most important causes of poverty in India ? Has India become poorer, say, in the last twenty years ?

XI Write brief notes on any **two** of the following —

(a) Engel's law (b) Inelastic demand

(c) Velocity of circulation of money

(d) Increasing return (e) Marginal product.

1953

1 (a) What do you understand by economic activities of man ?

(b) Bring out clearly the meaning in which the following terms are used by an economist —

(i) economics (ii) economy (iii) economic (iv) economical

II Write a short account of the evolution of economic life

III Explain the concept of elasticity of demand Show how elasticity of demand is related to the law of demand

IV How would you distinguish land from capital ?

V What is meant by a 'market' in economics ? Enumerate the factors which govern the size of a 'market'

VI Explain and illustrate the law of diminishing returns What are the fundamental causes of diminishing returns ?

VII Why has money any value at all ? State the circumstances in which the value of money would tend to fall

VII The function of a banker is that of a middleman Discuss

IX What is the difference between real wages and nominal wages ? A labourer is said to be interested in his real wages Why ?

X Explain the nature of business profits and point out whether such profits form a part of costs of production

XI Explain, adding comments wherever necessary, any two of the following statements —

(a) A free good has no price, for its marginal utility is zero,

(b) Extension of demand must not be confused with increase of demand ,

(c) A co-operative association aims at minimising the evils of competition ,

(d) To an individual entrepreneur rent is as much a cost as wages are

1954

I Discuss clearly using appropriate illustrations the nature of economic problem

II Examine the characteristics of wealth Are the following wealth —

(a) Dexterity of a mechanic (b) Gold at the bottom of the sea (c) Intoxicating liquors

III Explain the law of diminishing utility and point out how this law is related to the law of demand

IV Why is the present economic order called the capitalistic system ? What are its basic defects ?

V Define capital

Distinguish between (a) capital and wealth, (b) fixed and circulating capital

Which is fixed and which is circulating capital in the following cases ? —

(a) Pen and ink (b) Bulb, battery and flashlight case (c) Bow and arrow

Can you give a difficult borderline case between the two categories ?

VI Carefully consider the factors that affect the supply of labour in a country

VII What are the effects of the introduction and use of machinery ?

VIII What do you mean by market price ? What is the relation between market price and cost of production ?

IX Explain clearly the concept of economic rent To an individual entrepreneur rent is as much a cost as wages are Explain

X What do you mean by 'value of money'? State the circumstances in which the value of money would tend to fall

XI Discuss any two of the following —

(a) Wages tend to be equal to the value of the marginal product of labour (b) In certain industries monopoly is an economic necessity (c) Ice cubes would not make a good unit of money (d) If labour is held constant, and land is increased in amount, would the producer experience diminishing returns? (e) Barter puts people to serious difficulties